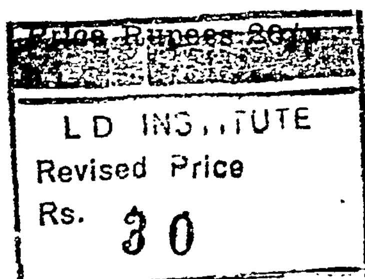
First Edition : 500 Copies

February 1969

Printed by Svami Tribhuvandas, Ramananda Printing Press, Kankaria Road, Ahmedabad and Published by Nagin J. Shah, Acting Director, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad-9



Copies can be had of

L. D. Institute of Indology — Ahmedabad-9.
Gurjar Grantha Ratna Karyalaya — Gandhi Road, Ahmedabad-1.
Motilal Banarasidas — Varanasi, Patna, Delhi.
Munshi Ram Manoharalal — Nai Sarak, Delhi.
Mehar Chand Lachhamandas — Delhi.-6.
Chowkhamba Sanskrit Series Office — Varanasi.
Sarasvati Pustak Bhandar — Hathikhana, Ratanpole, Ahmedabad-1.
Oriental Book Centre — Manek Chowk, Ahmedabad.

श्रीहरिभद्रसूरिविरचितः

वर्त ु यः

हिन्दीभाषा वाद-टिप्पण हितः

अनुवादक :

ष्णकुमार दीक्षित



प्रकाशक

भाई द तभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर

अमदावाद-९

लालभाई दलपतभाई ग्रन्थमाला

प्रधान संपादक — दलसुख मालवणिया, अंबालाल प्रे. शाह

मुद्रितग्रन्थाः

१. पदार्थी — शिवादित्यकृत, जिनवर्धनसूरिकृतटीका सह ४-००

2, 5, 15, 20. CATALOGUE OF SANSKRIT AND PRAKRIT MANUSCRIPTS: *Muni Shri Punyavijayaji's Collection.* Part I Rs. 50-00
Part II Rs. 40-00
Part III Rs. 30-00
Part IV Rs. 40-00

३. काव्यशिक्षा—विनयचंद्रसूरिकृत १०-००

४. यो तर्क — आचार्य हरिभद्रकृत स्वोपज्ञवृत्ति तथा ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय सह ५-००

६, १६. रत्नाकरावतारिका — रत्नप्रभसूरिकृत प्रथम भाग, द्वितीय भाग ८-००, १०-००

७. गीतगोविन्दकाव्यम् — महाकविश्रीजयदेवविरचित, मानाङ्कटीका सह ८-००

८. नेमिरंगर छंद — कविलावण्यसमयकृत ६-००

9. THE NAṬYADARPAṆA OF RĀMACANDRA & GUṆACANDRA : A Critical Study : *Dr. K. H. Trivedi* 30-00

१०, १४, २१. विशेषावश्यकभाष्य — स्वोपज्ञवृत्ति सह प्रथमभाग १५-००
द्वितीयभाग २०-००, तृती ग २१-००

11. AKALAṄKA'S CRITICISM OF DHARMAKIRTI's PHILOSOPHY A Study : *Dr. Nagin Shah* 30-00

१२. रत्नाकरावतारि श्लोकशतार्थी — वाचकश्रीमाणिक्यगणि ८-००

१३. शब्दानुशासन — आचार्य मलयगिरिविरचित ३०-००

१७. कल्पलताविवेक - कल्पपल्लवशेष — अज्ञातकर्तृक ३२-००

१८. निघण्टुशेष — सवृत्ति — श्रीहेमचन्द्रसूरि ३०-००

19. YOGABINDU OF HARIBHADRA : Text with English Translation, Notes, Etc. 10-00

संप्रति मुद्यमाणग्रन्थनामावलि

१. रत्ना रिका भा. ३ — रत्नप्रभसूरिकृत, टिप्पण-पञ्जिका-गूर्जरानुवाद सह

२. नेमिनाहचरिउ — आ. हरिभद्रसूरि-(द्वितीय)कृत

३. अध्यात्मबिन्दु-स्वोपज्ञवृत्ति सह — उपाध्याय हर्षवर्धनकृत

४. ऽरीग्रन्थिभङ्ग — चक्रधरकृत

५. मदनरेखा-आख्यायिका — जिनभद्रसूरिकृत

6. YOGADṚṢṬISAMUCCAYA OF HARIBHADRA : Text with English Translation, Notes Etc.

७. विद्यानुशा — आ० मल्लिषेणसूरिकृत

८. तिलकमञ्जरीसार — पल्लीपाल धनपालकृत

९. भाष्यवार्तिकटीकादि पञ्जिका — पं० अनिरुद्ध

10. ŚĀSTRAVĀRTĀSAMUCCAYA OF Āc. HARIBHADRA : Text with English Translation, Notes Etc.

11. SOME ASPECTS OF RELIGION AND PHILOSOPHY OF INDIA

12. DICTIONARY OF PRAKRIT PROPER NAMES

13. SOME MISCELLANEOUS JAIN WORKS ON LOGIC AND METAPHYSICS

PREFACE

Āc. Haribhadra, broad-minded erudite Jaina Monk, was a prolific writer. His works on Yoga are well known. Besides the works on Yoga he has written several philosophical works like the Anekāntajayapatākā, the Ṣaḍdarśanasamuccaya, the Śāstravārtāsamuccaya, etc. This volume contains the Sanskrit text of the Śāstravārtāsamuccaya which deals with the main philosophical problems—Existence of soul, Non-violence, Causation, Idealism vs. Realism, Omniscience, Permanence and Change, Nature of Liberation, Words and Things, etc. This is really an important philosophical work as it not only explains and examines the doctrines of non-Jaina schools of Indian Philosophy but also points out the rightness of these doctrines from a particular view-point. Thus here the criticism is constructive and not destructive. This is the result of the Jaina attitude of Non-absolutism (Syādvāda). The text contains several verses borrowed from the works of others and refers to Bṛhaspati, Buddha, Dharmakīrti, Jaimini, Kapila, Manu and Vyāsa.

Dr. Dixit has translated the Sanskrit text into Hindi. He has tried to make the translation as lucid as possible. Moreover, he has added explanatory notes either to elucidate a point suggested in a verse or to make explicit its purport. He has divided the text into eleven sections (stabakas). In this matter, he follows Up. Yaśovijayajī who has written a commentary - Syādvādakalpalatā - on this work. His Hindi introduction is really instructive. Therein he first analyses the content of the text and then gives critical account and estimate of each section. For all this we are very thankful to him. Our thanks are also due to Shri Rupendrakumar and Pt. A. P. Shah who have helped us in correcting the proofs.

I am sure this publication will prove useful to all those interested in the study of Indian Philosophy.

L. D. Institute of Indology,
Ahmedabad-9.
11-2-69.

Nagin J. Shah,
Acting Director.

विषयसूची

क

वां क

दशवां क

ग्यारहवां

स्ता व ना

प्रस्तुत ग्रंथ प्रख्यात जैन मनीषी आचार्य हरिभद्रसूरि (समय: आठवीं–नवीं शताब्दी विक्रमी) की दार्शनिक कृतियों में से एक है। इस ग्रंथ की रचना के पीछे हरिभद्र का उद्देश्य रहा था अपने समय में प्रचलित कतिपय दार्शनिक सम्प्रदायों के कतिपय मन्तव्यों की आलोचनात्मक समीक्षा करना। यों तो प्राचीन भारत का प्रत्येक दार्शनिक कृतिकार सदैव ही किसी प्रश्नविशेष पर अपने मन्तव्य को अपने पाठकों के सामने इस प्रकार से उपस्थित करता था कि उसके समय में प्रचलित सभी प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदायों के एतत्संबंधी मन्तव्योंकी आलोचनात्मक समीक्षा का समावेश उस की कृति में हो जाए, लेकिन प्राचीन भारत की कुछ दार्शनिक कृतियों का उद्देश्य विरोधी सम्प्रदायों के मन्तव्यों की आलोचनात्मक समीक्षा के अतिरिक्त प्रायः कुछ न था। इस कोटिविशेष की एक बौद्ध कृति है शान्तरक्षित का कारिकाबद्ध तत्त्वसंग्रह (जिस पर कमलशील ने 'पंजिका' नामवाली गद्यात्मक टीका लिखी है); और इसी कोटि की एक जैन कृति है हरिभद्र का कारिकाबद्ध शास्त्रवार्त्तासमुच्चय (जिस पर स्वयं उन्होंने 'दिक्प्रदा' नामवाली गद्यात्मक टीका लिखी है तथा उपाध्याय यशोविजय ने 'स्याद्वादकल्पलता' नामवाली)। निःसन्देह आकार की दृष्टि से तत्त्वसंग्रह तथा पंजिका शास्त्रवार्त्तासमुच्चय, 'दिक्प्रदा' तथा 'स्याद्वादकल्पलता' की तुलना में विशालतर ठहरेंगे, लेकिन ध्यान देने योग्य बात इन दो ग्रंथों का शैली-साम्य है। इन दो ग्रंथों के बीच छोटा सा—लेकिन मारके-का—एक अन्तर और भी है। अपने प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध शान्तरक्षित का अभियान समझौताविहीन है, लेकिन हरिभद्र अपने किसी भी प्रतिद्वन्द्वी के संबंध में यह कहना नहीं भूले हैं कि उसका मूल मन्तव्य भी उन्हें स्वीकार है, बशर्ते कि उसे अमुक अर्थविशेष पहना दिया जाए। यह सच है कि

अपने प्रतिद्वन्द्वियों के मूल मन्तव्यों को जो अर्थविशेष पहनाना हरिभद्र को अभीष्ट है वह स्वयं इन प्रतिद्वन्द्वियों को कदाचित् ही अभीष्ट हो, लेकिन अपने विरोधियों के मत का स्वागत करने की दिशा में प्रदर्शित की गई हरिभद्र की इतनी आतुरता भी भारतीय दर्शन के इतिहास में अनजानी-सी है । फिर भी क्योंकि शास्त्रवार्त्तासमुच्चय के अधिकांश भाग में—प्रायः पूरे ही ग्रंथ में—हरिभद्र अपने विरोधी दार्शनिक सम्प्रदायों की आलोचनात्मक समीक्षा में उसी प्रकार व्यस्त हैं जैसे तत्त्वसंग्रह के अधिकांश भाग में शान्तरक्षित, इन जैन-बौद्ध आचार्यों के मौलिक दृष्टिकोणों के बीच प्रस्तुत अन्तर को एक छोटा अन्तर ही मानना उचित होगा । अस्तु ।

शास्त्रवार्त्तासमुच्चय की विषयवस्तु का सिंहावलोकन करने के पूर्व एक बात स्पष्ट हो जानी चाहिए और वह यह कि सामान्यतः एक दार्शनिक कृति की प्रतिपाद्य विषयवस्तु क्या हुआ करती है । दो शब्दों में कहा जा सकता है कि एक दार्शनिक कृति में प्रतिपादन पाया जाता है वस्तु-जगत् के चरम स्वरूप का तथा मनुष्य के चरम करणीय का, अतएव हम देखते हैं कि शास्त्रवार्त्तासमुच्चय में इन दोनों ही—तथा इन्हीं दो समस्याओं से संबंधित प्रश्नों को यथावसर उठाया गया है।* एक जैन होने के नाते हरिभद्र समझते थे कि मनुष्य का चरम करणीय है मोक्ष की—अर्थात् पुनर्जन्म-चक्र से मुक्ति की—प्राप्ति और उनके सौभाग्य से इस प्रश्न पर उनका मतैक्य प्राचीन भारत के सभी दार्शनिक सम्प्रदायों के साथ था—यदि चार्वाक भौतिकवादियों को इस सम्बन्ध में अपवाद मान लिया जाए । लेकिन जिस मोक्ष की प्राप्ति को एक ओर हरिभद्र का जैन सम्प्रदाय तथा दूसरी ओर प्राचीन भारत के चार्वाकेतर सभी दार्शनिक सम्प्रदाय मनुष्य का चरम करणीय मानते थे उसके स्वरूप के संबंध में इन सम्प्रदायों के परस्पर मतभेद नगण्य न थे; यह इसलिए कि इन मतभेदों के मूल पर विद्यमान थे वे मतभेद जो इन सम्प्रदायों के बीच उठ खड़े हुए थे वस्तु-जगत् के चरम स्वरूप के प्रश्न को लेकर । इस प्रकार यद्यपि मोक्षवादी सभी दार्शनिक सम्प्रदाय बंध तथा मोक्ष का भागी एक स्वतंत्र चेतनतत्त्व को मानते थे—और

* जैसा कि हम आगे प्रसंगवश देखेंगे, एक दार्शनिक कृति का एक अन्य संभव विषय है ज्ञान-साधनों का चरम स्वरूप, लेकिन इस विषय को शास्त्रवार्त्तासमुच्चय में नाममात्र के लिए ही छुआ गया है ।

यही मान्यता उन सब को चार्वाक भौतिकवादियों से पृथक् करती थी—लेकिन यह चेतन तत्त्व परिवर्तनशील है अथवा अपरिवर्तनशील, एक है अथवा अनेक, इस चेतन तत्त्व से अतिरिक्त कोई भौतिक तत्त्व भी है अथवा नहीं और यदि है तो इन चेतन तथा भौतिक तत्त्वों के बीच सम्बन्ध क्या है, आदि प्रश्न इन सम्प्रदायों को परस्पर विरोधी शिबिरों में बांटे हुए थे। प्राचीन भारत के दार्शनिक रंगमंच की इस समूची परिस्थिति का स्पष्ट प्रतिबिम्ब हम हरिभद्र के शास्त्रवार्ता-समुच्चय में पाते हैं।

एक बात और ध्यान में रख ली जाए। मोक्ष संबंधी प्रश्नके दो पहलू हैं—जिनमें से एक तब सामने आता है जब हम जानना चाहते हैं कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए मनुष्य को क्या साधन काम में लाने चाहिए और दूसरा तब जब हम यह जानना चाहते हैं कि मोक्ष-प्राप्ति कर लेने पर चेतनतत्त्व का स्वरूप कैसा हो जाता है; संक्षेप में प्रश्न का पहला पहलू मोक्ष-साधनविषयक है, दूसरा मोक्ष-स्वरूपविषयक। वस्तुतः एक दार्शनिक कृति में मनुष्य के चरम करणीय से संबंधित स्थल वे हुआ करते हैं जहां चर्चा का विषय मोक्ष-साधन है, जबकि इस कृति के वे स्थल जहां चर्चा का विषय मोक्ष-स्वरूप है उन स्थलों के साथ जाने चाहिए जहां चर्चा का विषय वस्तु-जगत का चरम स्वरूप है। [यदि मनुष्य के चरम करणीय की चर्चा करने वाले शास्त्र का पारिभाषिक नाम 'आचार-शास्त्र' (Ethics) है तथा वस्तु-जगत् के चरम स्वरूप की चर्चा करनेवाले शास्त्र का पारिभाषिक नाम 'सत्ताशास्त्र' (Ontology), तो हम कह सकते हैं कि मोक्ष-साधन संबंधी प्रश्न आचारशास्त्रीय प्रश्न हैं, जबकि मोक्ष-स्वरूप संबंधी प्रश्न सत्ताशास्त्रीय प्रश्न हैं।] इस पृष्ठभूमि में हम शास्त्रवार्त्तासमुच्चय की विषय-वस्तु को मोटे तौर पर तीन भागों में बांट सकते हैं: पहला भाग वह जहां चर्चा का विषय मोक्ष-साधन संबंधी प्रश्न हैं, दूसरा वह जहां चर्चा का विषय मोक्ष-स्वरूप संबंधी प्रश्न हैं, और तीसरा वह जहां चर्चा का विषय वस्तु-जगत् के चरम-स्वरूप संबंधी प्रश्न हैं। आकार की दृष्टि से इन भागों में सब से बड़ा है तीसरा, उससे छोटा दूसरा और सबसे छोटा पहला। पहले भाग को शेष दो से पृथक् करना अपेक्षाकृत सरल है और हम कह सकते हैं कि इस भाग में समावेश पाती हैं

(१) पहले स्तवक की १--२९ कारिकाएं,

(२) दूसरे स्तवक की १--५१ कारिकाएं,

(३) नवें स्तवक की सभी २७ कारिकाएं,

(४) ग्यारहवें स्तवक की ३०--४८ कारिकाएं ।

लेकिन शेष दो भागों को एक-दूसरे से पृथक् करना इतना सरल नहीं—यद्यपि हम कह सकते हैं कि दूसरे भाग का स्पष्टतम उदाहरण है पहले स्तवक की ८८--१०९ कारिकाएं,* जबकि इसी प्रकार के कुछ छिटपुट उदाहरण दो-चार अन्य स्थलों पर भी पाए जाते हैं । कहने का आशय यह है कि शास्त्रवार्ता-समुच्चय की कारिकाओं के विशाल बहुमत का संबंध सत्ताशास्त्रीय प्रश्नों से है—अधिकांश का सीधे सीधे तथा कुछ का मोक्ष-स्वरूपविषयक चर्चा के नाते, जबकि ग्रंथ के अवशिष्ट अल्प भाग का संबंध आचारशास्त्रीय प्रश्नों से है ।

लेकिन शास्त्रवार्तासमुच्चय में सामग्री का संयोजन विषयानुसार न किया जाकर सम्प्रदायानुसार किया गया है और हम कह सकते हैं कि ग्रंथ के विभिन्न स्तवकों में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों को आलोचनात्मक समीक्षा का लक्ष्य निम्न-लिखित प्रकार से बनाया गया है :

पहला स्तवक : भौतिकवाद (अर्थात् चार्वाक अथवा लोकायत मत)

दूसरा स्तवक : कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, कर्मवाद

तीसरा स्तवक : ईश्वरवाद (अर्थात् न्याय-वैशेषिक मत), प्रकृति-पुरुषवाद (अर्थात् सांख्यमत)

चौथा स्तवक : क्षणिकवाद (अर्थात् सौत्रान्तिक बौद्ध मत)

पांचवां स्तवक : विज्ञानाद्वैतवाद (अर्थात् योगाचार बौद्ध मत)

छठा स्तवक : क्षणिकवाद (अर्थात् सौत्रान्तिक बौद्ध मत), शून्यवाद (अर्थात् माध्यमिक बौद्ध मत)

सातवां स्तवक : नित्यानित्यत्ववाद (अर्थात् जैन मत)

---

* यह सच है कि इन कारिकाओं में चर्चा-विषय है बंध का स्वरूप, न कि मोक्ष का स्वरूप; लेकिन बंध के स्वरूप की चर्चा मोक्ष के स्वरूप पर सीधा प्रकाश डालती है ।

आठवां स्तवक : ब्रह्माद्वैतवाद (अर्थात् अद्वैत वेदान्त मत)

नवां स्तवक : ....

दसवां स्तवक : सर्वज्ञताप्रतिषेधवाद (अर्थात् मीमांसा मत तथा बौद्ध एकदेशी मत)

ग्यारहवां स्तवक : शब्दार्थसंबंधप्रतिषेधवाद (अर्थात् सौत्रान्तिक बौद्ध मत)।

अभी ऊपर कहा जा चुका है कि पहले, दूसरे एवं ग्यारहवें स्तवकों के अमुक अंश तथा पूरा नवां स्तवक आचारशास्त्रीय प्रश्नों को उठाते हैं, जबकि प्रस्तुत सूची से अनुमान लगाया जा सकता है कि सातवें स्तवक में हरिभद्र ने किसी विरोधी दार्शनिक सम्प्रदाय की मान्यताओं की आलोचनात्मक समीक्षा न कर के अपने अभीष्ट जैन सम्प्रदाय की मान्यताओं का समर्थनपुरःसर प्रतिपादन किया होगा—जैसा कि वस्तुतः हुआ भी है। अपने प्रतिद्वन्द्वी उक्त दार्शनिक सम्प्रदायों के विरुद्ध उठाई गई हरिभद्र की मुख्य आपत्तियों का आधार सत्ताशास्त्रीय प्रश्न हैं और इन आपत्तियों का थोड़े विस्तार से लेखा लेना लाभदायक रहेगा; लेकिन ऐसा करने से पहले संक्षेप में इस प्रश्न से निपट लिया जाए कि अपनी आचारशास्त्रीय चर्चाओं में हरिभद्र किन मूल मन्तव्यों को लेकर हमारे सामने आए हैं।

मोक्षवादी दूसरे दार्शनिकों की भांति हरिभद्र भी मानते हैं कि अपने शुभ कोटि के जीवन-व्यापारों के फलस्वरूप एक प्राणी शुभ 'कर्मों' का संचय करता है तथा अपने अशुभ कोटि के जीवन-व्यापारों के फलस्वरूप अशुभ 'कर्मों' का, जबकि इन शुभ-अशुभ 'कर्मों' का फल भोगने के लिए इस प्राणी को उत्कृष्ट-निकृष्ट योनियों में पुनर्जन्म लेना पड़ता है। ऐसी दशा में हरिभद्र का यह सोचना स्वाभाविक ही है कि पुनर्जन्मचक्र से मुक्ति पाने का साधन अशुभ कोटि के जीवन-व्यापार तो नहीं ही हो सकते, शुभ कोटि के जीवन-व्यापार भी नहीं हो सकते; यही कारण है कि हम उन्हें तर्क देते पाते हैं कि यदि शुभ कोटि के जीवन-व्यापारों का नाम 'धर्म' है तो मोक्ष का साधन धर्म नहीं, लेकिन वे यह भी मानने को तैयार हैं कि जिन क्रिया-कलापों के फलस्वरूप एक प्राणी को मोक्ष की प्राप्ति वस्तुतः होती है उन्हें भी एक प्रकारविशेष का 'धर्म' कहा जा सकता है। मोक्ष का जनक सिद्ध होनेवाले धर्म की एक ही विशेषता पर

हरिभद्र ने भार दिया है और वह मारके की है—इसलिए भी कि वह हमें गीता की एतत्संबंधी शिक्षा का स्मरण बरबस करा देती है। हरिभद्र का कहना है कि जो धर्माचरण फल—कामना से रहित होकर किया जाता है वह मोक्ष का जनक सिद्ध होता है। शास्त्रवार्तासमुच्चय में आचारशास्त्रीय प्रश्नों की जो भी थोड़ी-बहुत चर्चा हरिभद्र ने की है उसे समझने की कुंजी हम उनके प्रस्तुत मन्तव्यों में पा लेते हैं। इतनी बात ध्यान में रखना इसलिए भी आवश्यक है कि हम आचारशास्त्रीय प्रश्नों का उन सत्ताशास्त्रीय प्रश्नों के साथ भेद स्पष्टता के साथ देख सकें जो शास्त्रवार्तासमुच्चय का मुख्य चर्चा-विषय है।

सत्ताशास्त्र के प्रश्नों को आधार बनाकर अपने प्रतिद्वन्द्वी दार्शनिक संप्रदायों के मन्तव्यों की आलोचनात्मक समीक्षा करते समय हरिभद्र ने यह बात प्रायः कही अवश्य है कि इन दार्शनिक संप्रदायों के इन मन्तव्यों को स्वीकार करने पर मोक्ष का सिद्धान्त स्वीकार करने में अमुक अमुक कठिनाइयां उठ खड़ी होंगी, लेकिन शास्त्रवार्तासमुच्चय की समूची विषयवस्तु के साथ न्याय कर सकने के लिए यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रस्तुत ग्रंथ की मोक्षस्वरूप-विषयक चर्चा उसकी सत्ताशास्त्रीय चर्चा का एक भाग मात्र है और वह भी एक अल्प भाग मात्र। इस प्रारंभिक स्पष्टीकरण के बाद हम प्रस्तुत सत्ताशास्त्रीय चर्चा का मूल्यांकन उसके अपने स्थान पर कर सकते हैं।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, शास्त्रवार्तासमुच्चय में हरिभद्रने निम्न-लिखित दार्शनिक मान्यताओं को अपनी आलोचनात्मक समीक्षा का लक्ष्य बनाया है :

१. लोकायत दार्शनिकों का भौतिकवाद
२. कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, कर्मवाद
३. न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों का ईश्वरवाद
४. सांख्य दार्शनिकों का प्रकृति-पुरुषवाद
५. सौत्रान्तिक बौद्ध दार्शनिकों का क्षणिकवाद
६. योगाचार बौद्ध दार्शनिकों का विज्ञानाद्वैतवाद
७. माध्यमिक बौद्ध दार्शनिकों का शून्यवाद
८. अद्वैत-वेदान्ती दार्शनिकों का ब्रह्माद्वैतवाद

९. मीमांसा तथा कतिपय बौद्ध दार्शनिकों का सर्वज्ञताप्रतिषेधवाद

१०. सौत्रान्तिक बौद्ध दार्शनिकों का शब्दार्थसंबंधप्रतिषेधवाद

इन मान्यताओं को एक एक करके ले लिया जाए।

१. लोकायत दार्शनिकों का भौतिकवाद :

भौतिकवाद का मूल मन्तव्य है भौतिक तत्त्वों से पृथक् किसी चेतन तत्त्व की सत्ता अस्वीकार करना, और ऐसे भौतिकवाद का खंडन उन सभी दार्शनिकों के लिए अनिवार्य हो जाता है जो पुनर्जन्म की संभावना में विश्वास रखते हैं। अतएव हम पाते हैं कि प्राचीन भारत के सभी मोक्षवादी दार्शनिकों ने—चाहे वे ब्राह्मण हों, बौद्ध अथवा जैन—भौतिकवाद का खंडन किया है। सचमुच यदि मोक्ष-प्राप्ति का अर्थ है पुनर्जन्मचक्र से मुक्ति पाना तो मोक्ष की प्राप्ति-अप्राप्ति का प्रश्न ही तब उठता है जब पहले पुनर्जन्म की संभावना सिद्ध कर ली जाए, जबकि पुनर्जन्म की संभावना सिद्ध करने के लिए भौतिकवाद का खंडन आवश्यक है। हरिभद्र के भौतिकवादविरोधी तर्कों का अन्तिम उद्देश्य भी पुनर्जन्म तथा मोक्ष की संभावना में पाठक का विश्वास उत्पन्न करना है, लेकिन उन तर्कों से सहानुभूति कदाचित् एक ऐसे पाठक को भी हो सकती है जो स्वयं पुनर्जन्म की संभावना में विश्वास नहीं रखता। उदाहरण के लिए, जिन पाश्चात्य दार्शनिकों ने भौतिकवाद का खंडन किया है उनकी तर्कसरणि एक बड़ी सीमा तक हरिभद्र की तर्कसरणि के समानांतर चलती है, लेकिन पुनर्जन्म की संभावना में इन दार्शनिकों का विश्वास नहीं। भौतिकवाद के विरुद्ध हरिभद्र का मुख्य आरोप यह है कि यदि चेतना भौतिक तत्त्वों का धर्म है—न कि किसी अभौतिक तत्त्वविशेष का (जिसे 'आत्मा' आदि नामों से जाना जाता है)—तो प्रत्येक भौतिक वस्तु को सचेतन होना चाहिए; भौतिवादी का यह प्रत्युत्तर कि चेतना सभी भौतिक वस्तुओं का धर्म न होकर किन्हीं विशेष प्रकार की भौतिक वस्तुओं का धर्म है, हरिभद्र को सन्तुष्ट नहीं करता। वे केवल इतना मानने को तैयार हैं कि आत्मा के बंध के लिए उत्तरदायी सिद्ध होनेवाले 'कर्म' एक भौतिक वस्तु हैं, लेकिन स्पष्ट ही यह एक विषयान्तर है—और एक ऐसा विषयान्तर जो भौतिकवादी को किसी प्रकार की सांत्वना नहीं पहुँचाता।

२. कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, कर्मवाद :

इन चार वादों का संबंध किन्हीं दार्शनिक सम्प्रदाय-विशेषों के साथ नहीं, लेकिन भारत के दार्शनिक साहित्य में इनका उल्लेख अत्यन्त प्राचीनकाल से पाया जाता है। लगता ऐसा है कि इन वादों से संबंधित कोई दार्शनिक संप्रदाय-विशेष कभी अस्तित्व में ही न थे और यदि थे भी तो वे उन सम्प्रदायों के सामने टिक न सके जिनकी ख्याति कालान्तर में भी अक्षुण्ण बनी रही। फिर भी इन वादों का स्वरूप-विश्लेषण सावधानी से किया जाना चाहिए और वह इसलिए कि यह विश्लेषण कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश डालेगा, जिनकी चर्चा हमारे सुपरिचित दार्शनिक सम्प्रदायों के साहित्य में हुई है। दो शब्दों में कहा जा सकता है कि कालवाद, स्वभाववाद तथा नियतिवाद (जिन के परस्पर मतभेद गौण कोटि के हैं) हमारे दैनंदिन जीवन की उन घटनाओं को आधार बनाकर चलते हैं जिनमें हम किसी प्रत्याशित कार्यकारणसंबंध-विशेष को सचमुच उपस्थित पाते हैं, जबकि कर्मवाद हमारे दैनंदिन जीवन की उन घटनाओं को आधार बनाकर चलता है जिन में हम किसी प्रत्याशित कार्यकारणसंबंध-विशेष को अनुपस्थित पाते हैं। देखना कठिन नहीं कि एक पुनर्जन्मवादी दार्शनिक के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह किसी-न-किसी सीमा तक कर्मवाद को समर्थन प्रदान करे, लेकिन ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्राचीन भारत के अधिकांश दार्शनिक सम्प्रदायोंने—ठीक ठीक कहा जाए तो प्राचीन भारत के उन दार्शनिक संप्रदायोंने जिन्हें कार्यकारणसम्बन्ध की वास्तविकता में विश्वास है—वस्तुस्थिति के उस पहलू के साथ भी न्याय करनेकी यथासम्भव चेष्टा की है जिन की ओर अंगुलिनिर्देश कालवाद, स्वभाववाद तथा नियतिवाद कर रहे हैं। इन्हीं दार्शनिक सम्प्रदायों के मत का प्रतिनिधित्व हरिभद्र ने यह कहकर किया है कि जगत के घटना-प्रवाह का नियमन काल, स्वभाव, नियति तथा कर्म अकेले अकेले नहीं करते, अपितु चारों मिलकर करते हैं।

३. न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों का ईश्वरवाद :

प्राचीन भारत में ईश्वरवाद का समर्थन सब से अधिक विस्तार के साथ तथा सबसे अधिक तार्किकता के साथ करनेवाला सम्प्रदाय न्याय-वैशेषिक था और इसीलिए हम हरिभद्र की एतद्विषयक चर्चा का सम्बन्ध इस सम्प्रदाय के साथ

जोड़ रहे हैं। वरना वस्तुस्थिति यह है कि अपनी इस चर्चा में हरिभद्र ने उन ईश्वर-समर्थक युक्तियों की कतई उपेक्षा की है, जिनका सम्बन्ध सत्ताशास्त्रीय प्रश्नों से है और जिनको उपस्थित करने में न्याय–वैशेषिक दार्शनिकों ने सर्वाधिक कौशल का प्रदर्शन किया है। अपने स्थान पर हरिभद्र की प्रस्तुत चर्चा का विषय वे ईश्वर-समर्थक युक्तियां हैं जिनका सम्बन्ध आचारशास्त्रीय प्रश्नों से है और जिनको न्याय-वैशेषिक साहित्य में अपेक्षाकृत गौण स्थान प्राप्त है। ईश्वरवादी दार्शनिक से हरिभद्र का सीधा प्रश्न यह है कि एक प्राणी कोई भला-बुरा काम करने में स्वतंत्र है या नहीं? उनका कहना है कि यदि एक प्राणी किन्हीं भले-बुरे कामों को करने में स्वतंत्र है तो ईश्वर को इन कामों का प्रेरक क्यों माना जाए (जैसे कि एक ईश्वरवादी दार्शनिक मानता है) और यदि एक प्राणी किन्हीं भले-बुरे कामों को करने में स्वतंत्र नहीं तो इस प्राणी को इन कामों का भला-बुरा फल पानेवाला क्यों माना जाए (जैसे कि प्रत्येक पुनर्जन्मवादी कर्मवादी दार्शनिक मानता है)। इस सम्बन्ध में भी यह देखना सरल है कि यद्यपि हरिभद्र की वर्तमान आलोचना का सीधा लक्ष्य वे ईश्वरवादी भारतीय दार्शनिक हैं जो पुनर्जन्म की सम्भावना में विश्वास रखते हैं, लेकिन वह तत्त्वतः सभी ईश्वरवादी दार्शनिकों पर लागू होती है, चाहे वे पुनर्जन्म की सम्भावना में विश्वास रखते हों या न रखते हों। हरिभद्र यह मानने को अवश्य तैयार हैं कि 'ईश्वर' नाम उन महामानवों को दिया जा सकता है जिन्होंने मोक्ष की देहली पर पहुँच चुकने की अवस्था में ऐसे सत्–शास्त्रों का प्रणयन किया है जिनकी शिक्षाओं का पालन करने के फलस्वरूप एक प्राणी को मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा उनका उल्लंघन करने के फलस्वरूप बंध की। उनके कहने का आशय यह है कि एक प्राणी के बंध-मोक्ष के लिए यदि किसी दूसरे व्यक्ति को उत्तरदायी ठहराया ही जा सकता है, तो उक्त कोटि के किसी महामानवविशेष को तथा उसे भी उक्त अर्थविशेष में। ईश्वरवादी को दी गई हरिभद्र की यह छूट भी एक विषयान्तर-सा लगती है—इसी प्रकार जैसे भौतिकवादी को दी गई उनकी वह छूट एक स्पष्ट विषयान्तर थी।

सांख्य दार्शनिकों का प्रकृति-पुरुषवाद

प्राचीन भारत के दार्शनिक सम्प्रदायों में सांख्य अत्यन्त चिरकालीन है,

यद्यपि कालान्तर में जाकर वह अपेक्षाकृत बलहीन हो गया लगता है। सांख्य दार्शनिकों की मूल मान्यताएं दो हैं: पहली यह कि आत्मा—जिसका पारिभाषिक नाम 'पुरुष' है—एक सर्वथा अपरिवर्तिष्णु पदार्थ है, दूसरी यह कि यदि आत्माओं को छोड़ दिया जाए तो विश्व में पाई जानेवाली प्रत्येक वस्तु 'प्रकृति' नामवाले एक भौतिक—तथा नित्य—पदार्थ का कोई रूपान्तरविशेष हुआ करती है। इनमें से पहली मान्यता के विरुद्ध हरिभद्र की आपत्ति है कि यदि आत्मा एक सर्वथा अपरिवर्तिष्णु पदार्थ है तो यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता कि कोई आत्मा अपने अमुक क्रिया-कलाप के फलस्वरूप बंध की भागी बनती है तथा अमुक के फलस्वरूप मोक्ष की; उक्त दूसरी मान्यता के विरुद्ध उनकी आपत्ति है कि यदि प्रकृति एक नित्य पदार्थ है तो उसे रूपान्तरणशील नहीं माना जा सकता और यदि वह एक रूपान्तरणशील पदार्थ है तो उसे नित्य नहीं माना जा सकता। हरिभद्र की पहली आपत्ति का अपने स्थान पर औचित्य है, लेकिन उनकी दूसरी आपत्ति किसी गलतफहमी पर आधारित प्रतीत होती है; क्योंकि वस्तुतः सांख्य दार्शनिक की 'प्रकृति' नित्य होते हुए भी रूपान्तरणशील ठीक उसी प्रकार है जैसे कि जैन-दर्शन की मान्यतानुसार विश्वकी सभी जड़-चेतन वस्तुएं नित्य होते हुए भी रूपान्तरणशील हैं। हरिभद्र ने सांख्य दार्शनिक को छूट दी है कि यदि वह अपनी 'प्रकृति' का वर्णन ठीक उसी प्रकार करे जैसे कि जैन दर्शन में 'कर्म-प्रकृति' का (अर्थात् 'कर्म' नामवाले भौतिक तत्त्व का) किया गया है तो उसका प्रस्तुत मत निर्दोष बन जाएगा; इस पर कहना होगा कि जहां तक प्रकृति के नित्य होते हुए भी रूपान्तरणशील होने का प्रश्न है वहां तक तो सांख्य दार्शनिक को जैन-दर्शन से कदाचित् कुछ नहीं सीखना, लेकिन यह एक विचारणीय बात है कि सांख्य दार्शनिक की 'प्रकृति' एक है तथा उसके रूपान्तरण की परिधि समूचा जड़-जगत् है, जबकि जैन-दर्शन की 'कर्म-प्रकृतियां' अनेक हैं तथा उनके रूपान्तरण की परिधि जड़-जगत् का एक भाग मात्र है।

५. सौत्रान्तिक बौद्ध दार्शनिकों का क्षणिकवाद

शास्त्रवार्तासमुच्चय में हरिभद्र ने जिस एक मान्यता के खंडन में सब से अधिक परिश्रम किया है वह है सौत्रान्तिक दार्शनिकों का क्षणिकवाद; क्योंकि

हम देखते हैं कि इस खंडन ने ग्रंथ के चौथे स्तवक की सभी १३७ कारिकाओं को तथा छठे स्तबक की ६३ कारिकाओ में से ५३ को घेर रखा है (अर्थात् ७०० कारिकाओं वाले इस ग्रंथ की १९० कारिकाओं का सीधा संबंध प्रस्तुत खंडन से है)। इस ग्रंथ-भाग का सही मूल्यांकन कर सकने के लिए आवश्यक होगा कि भारतीय दर्शन के इतिहास से संबंधित दो-एक बातें ध्यान में रख ली जाएं।

प्राचीन भारत के दार्शनिक साहित्य में तार्किकता की वृद्धि क्रमशः हुई थी, और इस वृद्धि में सब से महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है कतिपय उन सम्प्रदायों ने जिन्हें पर्याप्त दृढ़ता के साथ यह विश्वास था कि विश्व के घटना-कलाप के बीच वर्तमान कार्यकारणसंबंध वास्तविक है तथा अनुमानगम्य है। इन सम्प्रदायों को पहचानने की कसौटी है उनके कतिपय अनुयायियों द्वारा रचित वह समृद्ध साहित्य जिसमें हम एक ओर अनुमान (तथा दूसरे ज्ञान–साधनों) के स्वरूप आदि से संबंधित गंभीर चर्चाएं पाते हैं तथा दूसरी ओर कार्यकारणसंबंध के स्वरूप आदि से संबंधित गंभीर चर्चाएं—अर्थात् जिसमें हम एक ओर प्रमाणशास्त्र संबंधी गंभीर चर्चाएं पाते हैं तथा दूसरी ओर सत्ताशास्त्र संबंधी गंभीर चर्चाएं। प्रस्तुत कोटि के साहित्य के प्रणेता दार्शनिक ही 'तार्किक' विशेषण के सच्चे अधिकारी हैं और इस विशेषण का प्रयोग हम उन्हीं के संबंध में करेंगे। मोटे तौर पर यह साहित्य निम्नलिखित चार उप-विभागों में विभक्त है।

(१) न्याय-वैशेषिक तार्किकों द्वारा रचित,
(२) मीमांसक तार्किकों द्वारा रचित,
(३) बौद्ध तार्किकों द्वारा रचित,
(४) जैन तार्किकों द्वारा रचित।

[स्वयं शास्त्रवार्त्तासमुच्चय इन चार उप-विभागों में से चौथे के अन्तर्गत आती है—क्योंकि हम देख चुके हैं कि ग्रंथ के अधिकांश भाग में—प्रायः पूरे ग्रंथ में—कतिपय सत्ताशास्त्रीय प्रश्नों की चर्चा की गई है और अब हम यह भी जान लें कि इस ग्रंथ की रचना-शैली तार्किकतापूर्ण है।] विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी तार्किकों द्वारा रचित प्रस्तुत कोटि के साहित्य में एक-दूसरे की मान्यताओं का खंडन खुलकर हुआ है और यही कारण

है कि हम हरिभद्र को अपने प्रतिद्वन्द्वी बौद्ध तार्किकों की सत्ताशास्त्रीय मान्यताओं के खंडन पर इतना परिश्रम करते पाते हैं। थोड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्होंने अपने प्रतिद्वन्द्वी न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसक तार्किकों की सत्ताशास्त्रीय मान्यताओं के खंडन पर भी ऐसा ही परिश्रम क्यों नहीं किया, (हम देख चुके हैं कि न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय द्वारा समर्थित ईश्वरवाद के खंडन के प्रसंग में हरिभद्र ने सत्ताशास्त्रीय प्रश्नों की कतई उपेक्षा की है और हम आगे देखेंगे कि उन्होंने मीमांसकों का खंडन सर्वज्ञता की सम्भावना–असम्भावना के प्रश्न को लेकर किया है, अर्थात् एक ऐसे प्रश्न को लेकर जिसका संबंध सत्ताशास्त्रीय समस्याओं के साथ तो अत्यन्त कम है ही, प्रमाणशास्त्रीय समस्याओं के साथ भी विशेष नहीं)। ऐसी दशा में इन १९० कारिकाओं को, जिनमें हरिभद्र ने सौत्रांतिक बौद्ध दार्शनिकों के क्षणिकवाद का खंडन किया है (तथा ६६ कारिकाओं वाले उस सातवें स्तवक को जिसमें उन्होंने जैन-दर्शन की सत्ताशास्त्रीय मान्यताओं का प्रतिपादन समर्थनपुरःसर किया है) शास्त्रवार्त्तासमुच्चय का हृदय-स्थानीय मानना अनुचित न होगा।

प्रस्तुत खंडन के चौथे स्तवक में आए भाग में आलोचना का लक्ष्य निम्न-लिखित बौद्ध मान्यताएं हैं—

(१) अपने अस्तित्व-क्षण के पश्चात् एक वस्तु सर्वथा अस्तित्व-शून्य हो जाया करती है।

(२) अपने अस्तित्व-क्षण के पूर्व एक वस्तु सर्वथा अस्तित्व-शून्य हुआ करती है।

(३) अनेक वस्तुएं सम्मिलित भाव से एक कार्य को जन्म दिया करती हैं।

(४) यद्यपि एक प्राणी की प्रत्येक मानसिक अवस्था क्षणिक है, लेकिन उसकी एक पूर्वकालीन मानसिक अवस्था उसकी एक उत्तर-कालीन मानसिक अवस्था को स्वजनित वासना (=संस्कार) द्वारा प्रभावित कर सकती है।

(५) दो वस्तुओं के बीच कार्यकारणभाव जानने के लिए यह आवश्यक नहीं कि इन दो वस्तुओं को कोई एक ही ज्ञान अपना विषय बनाए (और वह इसलिए कि किन्हीं दो वस्तुओं को अपना विषय बनाना किसी एक ही

ज्ञान के लिए संभव नहीं)।

इसी प्रकार उक्त खंडन के छठे स्तबक में आए भाग में आलोचना का लक्ष्य निम्नलिखित बौद्ध मान्यताएं हैं :

(१) प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, क्योंकि किसी वस्तु के नाश का कोई कारण संभव नहीं।

(२) प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, क्योंकि एक क्षणिक वस्तु ही अर्थक्रिया (कार्य-सिद्धि) में समर्थ है।

(३) प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है।

(४) प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अन्त में जाकर नष्ट होती पाई जाती है।

क्षणिकवाद के विरुद्ध उठाई गई हरिभद्र की आपत्तियों का सार दो शब्दों में रखा जा सकता है : क्षणिकवादी की मान्यता है कि दो वस्तुएं यदि एक धर्म को लेकर भी एक-दूसरे से भिन्न हैं तो वे दो सर्वथा भिन्न वस्तुएं हैं, जबकि हरिभद्र की मान्यता है कि दो वस्तुएं जिस धर्म को लेकर एक-दूसरे से भिन्न हैं उस धर्म के नाते वे परस्पर भिन्न हैं तथा जिस धर्म को लेकर वे एक-दूसरे से अभिन्न हैं उस धर्म के नाते वे परस्पर अभिन्न हैं। इस संबंध में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि क्षणिकवादी तथा हरिभद्र दोनों को यह मान्यता स्वीकार है कि प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण किसी-न-किसी नए धर्म का जन्म होता है, लेकिन इस मान्यता को क्षणिकवादी यह कहकर उपस्थित करेगा कि प्रत्येक स्थल पर प्रतिक्षण किसी-न-किसी नई वस्तु का जन्म होता है, जबकि हरिभद्र उसे यह कहकर उपस्थित करेंगे कि प्रत्येक स्थल पर प्रतिक्षण किसी-न-किसी स्थायी वस्तु में किसी-न-किसी नए धर्म का जन्म होता है; साथ ही यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि क्षणिकवादी तथा हरिभद्र दोनों ही वस्तुओं के बीच कार्यकारणसम्बन्ध को एक वास्तविक सम्बन्ध मानते हैं—भले ही इस सम्बन्ध की वास्तविकता सिद्ध करने की उन की परिपाटियां अपनी अपनी हैं और भले ही उन्हें एक-दूसरे की इस परिपाटी की युक्तियुक्तता में गंभीर संदेह है। अपने दूसरे प्रतिद्वन्द्वियों की भांति क्षणिकवादी को भी हरिभद्र ने

एक छूट दी है और वह यह स्वीकार करके कि जगत् की वस्तुओं को सारहीन—अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति में अनुपयोगी तथा बाधक—बतलाने के उद्देश्य से उन्हें गौण अर्थ में 'क्षणिक' भी कहा जा सकता है—यद्यपि मुख्य अर्थ में कदापि नहीं। स्पष्ट ही हरिभद्र का यह प्रयत्न एक सत्ताशास्त्रीय समस्या का समाधान आचार-शास्त्र के क्षेत्र में खोजने का परिणाम है।

६. योगाचार बौद्ध दार्शनिकों का विज्ञानवाद

भारतीय दर्शन के इतिहास के जिस युग में कतिपय सम्प्रदायों द्वारा पूर्वोक्त 'तार्किक' साहित्य का प्रणयन किया जा रहा था प्रायः उसी समय किन्हीं दूसरे सम्प्रदायों द्वारा एक ऐसे साहित्य का प्रणयन किया जा रहा था जिसकी मौलिक प्रवृत्ति तार्किक साहित्य की प्रवृत्ति से ठीक उलटी थी और इसी कारण से इस दूसरी कोटि के साहित्य को 'तार्किक-विरोधी' विशेषण देना कदाचित् अनुचित न होगा। इस 'तार्किक-विरोधी' साहित्य की मूल मान्यता यह थी कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, अनुमान आदि ज्ञान-साधनों की सहायता से जिन वस्तुओं की जानकारी हमें प्राप्त होती है वे वास्तविक नहीं, मिथ्या हैं, जबकि वास्तविक वस्तु-सत्ता एक इन्द्रियातीत भान का विषय है। यह साहित्य भी कतिपय उप-भागों में विभक्त था, जिनका परस्पर-भेद मुख्यतः इस प्रश्न को लेकर था कि वास्तविक वस्तु-सत्ता को नाम क्या दिया जाए, जो एक इन्द्रियातीत भान का विषय बनती है। उदाहरण के लिए, योगाचार-बौद्धों द्वारा रचित साहित्य में इस तथाकथित वस्तु-सत्ता को 'विज्ञान' नाम दिया गया, माध्यमिक बौद्धों द्वारा रचित साहित्य में 'शून्य' तथा अद्वैत-वेदान्तियों द्वारा रचित साहित्य में 'ब्रह्म' (शास्त्रवार्त्तासमुच्चय में हरिभद्र ने विज्ञानाद्वैतवाद, शून्यवाद तथा ब्रह्माद्वैतवाद को एक-एक करके अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया है)। विज्ञानाद्वैतवादी की मान्यता है कि जगत में प्रतीत होने वाली सभी भौतिक वस्तुएं मिथ्या हैं—जिस का अर्थ यह हुआ कि जगत् में 'विज्ञान' अथवा चैतन्य ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है; इस मान्यता के विरुद्ध हरिभद्र का कहना है कि जगत् में प्रतीत होने वाली भौतिक वस्तुएं उसी प्रकार वास्तविक हैं जैसे कि 'विज्ञान' अथवा चैतन्य। विज्ञानाद्वैतवाद के विरुद्ध हरिभद्र द्वारा उठाए गए एक दूसरे तर्क का आधार उनकी यह मान्यता है कि चेतन-तत्त्व के बंध के लिए उत्तरदायी है इस तत्त्व का भौतिक कर्मों के साथ

संयोग, जबकि उसके मोक्ष के लिए उत्तरदायी है उसका इन 'कर्मों' के साथ संयोग-विच्छेद; हरिभद्र का कहना है कि सभी भौतिक वस्तुओं को अ-वास्तविक घोषित करने वाले विज्ञानाद्वैतवादी की मान्यतानुसार न तो चेतन-तत्त्व का बंध संभव होना चाहिए, न उसका मोक्ष। विज्ञानाद्वैतवादी को दी गई हरिभद्र की छूट कुछ कुछ उसी प्रकार की है जैसी कि क्षणिकवादी को दी गई उनकी छूट; क्योंकि उनका कहना है कि जगत् की भौतिक वस्तुओं को सारहीन—अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति में अनुपयोगी तथा बाधक——बतलाने के उद्देश्य से उन्हें गौण अर्थ में मिथ्या भी कहा जा सकता है——यद्यपि मुख्य अर्थ में कदापि नहीं। स्पष्ट ही यहां भी हरिभद्र एक सत्ताशास्त्रीय समस्या का समाधान आचारशास्त्र के क्षेत्र में खोज रहे हैं।

७. माध्यमिक बौद्ध दार्शनिकों का शून्यवाद

हरिभद्र ने शून्यवादी दार्शनिकों के इस तर्क पर विचार किया है कि जगत् की सभी वस्तुएं मिथ्या हैं, क्योंकि उनको न अविनाशी मानना युक्ति संगत है, न विनाशी मानना; प्रत्युत्तर में हरिभद्र का कहना है कि यदि जगत् की सभी वस्तुएं मिथ्या हैं तो शून्यवादी का प्रस्तुत तर्क तथा उसको कहने-सुननेवाले भी मिथ्या हैं और यदि प्रस्तुत तर्क तथा उसको कहने-सुननेवाले मिथ्या नहीं तो जगत् की सभी वस्तुएं मिथ्या नहीं। शून्यवादी दार्शनिक को छूट देते समय हरिभद्र केवल इतना कहते हैं कि भगवान् बुद्ध ने जगत् की वस्तुओं को मिथ्या (अथवा शून्य) किसी अभिप्राय-विशेष से तथा कोटि-विशेष के शिष्यों की योग्यता को ध्यान में रखते हुए कहा होगा, न कि 'मिथ्या' (अथवा 'शून्य') शब्द के मुख्य अर्थ में।

८. अद्वैत-वेदान्ती दार्शनिकों का ब्रह्माद्वैतवाद

हरिभद्र ने ब्रह्माद्वैतवादी दार्शनिकों की इस मान्यता पर विचार किया है कि ब्रह्म ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है, जबकि जगत् में ब्रह्म के स्थान पर इन-उन वस्तुओं के दीख पड़ने का कारण 'अविद्या' है; प्रत्युत्तर में हरिभद्र का कहना है कि अविद्या यदि ब्रह्म से अभिन्न है तो वह जगद्-वैविध्य की प्रतीति का कारण उसी प्रकार नहीं बन सकती जैसे कि अकेला ब्रह्म नहीं बन सकता, और यदि वह ब्रह्म से भिन्न है तो ब्रह्माद्वैतवाद को तिलांजलि दे दी गई। यदि मान भी लिया जाए कि ब्रह्माद्वैतवादी के मतानुसार अविद्या ब्रह्म से अभिन्न है, तो भी इस मत के समर्थन में प्रमाण चाहिए; और हरिभद्र का कहना है कि प्रस्तुत

प्रमाण यदि एक वास्तविक सत्ता है (जैसे कि कार्यसाधक हो सकने के लिए उसे होना चाहिए) तो भी ब्रह्माद्वैतवाद को तिलांजलि दे दी गई। ब्रह्माद्वैतवादी को छूट देते हुए हरिभद्र कहते हैं कि जगत् के सब प्राणियों के प्रति समता-भावना जागृत करने के उद्देश्य से एक गौण अर्थ में यह भी कहा जा सकता है कि जगत् की सभी वस्तुएं एकरूप हैं (अर्थात् ब्रह्मरूप हैं)—यद्यपि मुख्य अर्थ में ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता। देखा जा सकता है कि यहां भी हरिभद्र एक सत्ताशास्त्रीय समस्या का समाधान आचारशास्त्र के क्षेत्र में खोज रहे हैं।

९. मीमांसक तथा कतिपय बौद्ध दार्शनिकों का सर्वज्ञताप्रतिषेधवाद

सर्वज्ञता की सम्भावना-असम्भावना के प्रश्न को लेकर प्राचीन भारत के दार्शनिक सम्प्रदायों के बीच चली चर्चा का अपेक्षाकृत अधिक गहरा संबंध किन्हीं धार्मिक समस्याओं से था, न कि किन्हीं दार्शनिक समस्याओं से; लेकिन इस चर्चा ने दार्शनिक समस्याओं की परिधि को भी एक सीमा तक छुआ ही है। इस प्रश्न पर मीमांसक धर्मशास्त्रियों की तर्कसरणी निम्नलिखित प्रकार से चली: "धर्म तथा अधर्म अतीन्द्रिय वस्तुएं हैं, अतः उनके संबंध में प्रामाणिक जानकारी न कोई मनुष्य करा सकता है, न किसी मनुष्य द्वारा रचित कोई ग्रंथ और वह इसलिए कि अतीन्द्रिय वस्तुओं का ज्ञान कर सकना किसी मनुष्य के लिए संभव नहीं, फिर भी धर्म-अधर्म के संबंध में प्रामाणिक जानकारी का द्वार हमारे लिए बंद नहीं और वह इसलिए कि यह जानकारी हमें वेदों से प्राप्त हो सकती है, जो किसी ग्रंथकार की रचना न होकर एक नित्य (=अ-कर्तृक, अ-पौरुषेय) ग्रंथ-राशि है तथा इसीलिए उन सब दोषों से मुक्त हैं जो एक सामान्य ग्रंथ में पाए जा सकते हैं।" और इसके प्रत्युत्तर में चली हरिभद्र की तर्कसरणी को निम्नलिखित प्रकार से रखा जा सकता है: "धर्म तथा अधर्म अतीन्द्रिय वस्तुएं हैं, अतः उनके संबंध में प्रामाणिक जानकारी न कोई साधारण मनुष्य करा सकता है, न किसी साधारण मनुष्य द्वारा रचित कोई ग्रंथ और वह इसलिए कि अतीन्द्रिय वस्तुओं का ज्ञान कर सकना किसी साधारण मनुष्य के लिए संभव नहीं। फिर भी धर्म-अधर्म के संबंध में प्रामाणिक जानकारी का द्वार हमारे लिए बंद नहीं और वह इसलिए कि यह जानकारी हमें जैन धर्म-ग्रंथों से प्राप्त हो सकती है, जो किसी

साधारण मनुष्य की रचना न हो कर सर्वज्ञ जैन तीर्थंकरों की रचना है तथा इसलिए उन सब दोषों से मुक्त हैं जो एक सामान्य ग्रंथ में पाए जा सकते हैं" । इस प्रकार मीमांसा धर्मशास्त्रियों की दृष्टि में कोई ग्रंथ धर्म–अधर्म के संबन्ध में प्रामाणिक जानकारी तभी करा सकता है जब वह अ-पौरुषेय (अर्थात् ग्रंथकारशून्य) हो—जिस शर्त को (मीमांसा धर्मशास्त्रियों की दृष्टि में) वेद ही पूरा करते हैं; इसके विपरीत हरिभद्र की दृष्टि में कोई ग्रंथ धर्म–अधर्म के संबन्ध में प्रामाणिक जानकारी तभी करा सकता है जब वह सर्वज्ञप्रणीत हो—जिस शर्त को (हरिभद्र की दृष्टि में) जैन धर्मग्रंथ ही पूरा करते हैं । अपनी इस स्पष्ट धर्मशास्त्रीय पृष्ठभूमि के बावजूद प्रस्तुत चर्चा दर्शन-शास्त्र के एक तटस्थ विद्यार्थी को दो प्रश्नों के संबन्ध में चिंतन सामग्री प्रदान करती है एक तो इस प्रश्न के संबन्ध में कि क्या कोई मनुष्य सर्वज्ञ हो सकता है (जिसका उत्तर हरिभद्र 'हां' में देंगे तथा मीमांसक 'न' में) और दूसरे इस प्रश्न के संबन्ध में कि क्या कोई ग्रंथ अपौरुषेय (अर्थात् ग्रंथकारशून्य) हो सकता है (जिसका उत्तर हरिभद्र 'न' में देंगे तथा मीमांसक 'हां'में) ।

जहां तक कतिपय बौद्ध दार्शनिकों का संबन्ध है उन्होंने सर्वज्ञता की संभावना का खंडन केवल इस आधार पर किया कि किसी भी व्यक्ति के संबन्ध में निश्चय-पूर्वक यह कह पाना हमारे लिए संभव नहीं कि वह सर्वज्ञ है अथवा अ-सर्वज्ञ; इसके उत्तर में हरिभद्र कुछ ऐसी कसौटियां गिनाते हैं जो उनकी दृष्टि में इस बात का निश्चय कराने के लिए पर्याप्त हैं कि कोई व्यक्तिविशेष सर्वज्ञ है अथवा असर्वज्ञ ।

१० सौत्रान्तिक-बौद्ध दार्शनिकों का शब्दार्थसंबन्धप्रतिषेधवाद

शास्त्रवार्त्तासमुच्चय में आई अधिकांश चर्चाओं का संबन्ध सत्ताशास्त्र के प्रश्नों से है तथा कुछ का आचारशास्त्र के प्रश्नों से, लेकिन यहां की एक चर्चा का संबन्ध प्रमाणशास्त्र के एक प्रश्न से है । जैसा कि हम पहले कह चुके हैं 'तार्किकों' द्वारा रचित साहित्य के मुख्य प्रतिपाद्य विषय दो थे, एक प्रत्यक्ष, अनुमान तथा दूसरे ज्ञान साधनों का स्वरूप आदि और दूसरे कार्यकारणसंबन्ध का स्वरूप आदि । इनमें से पहले विषय का निरूपण करने वाले साहित्यांश को 'प्रमाणशास्त्र' नाम दिया जा सकता है तथा दूसरे विषय का निरूपण करने वाले साहित्यांश को 'सत्ताशास्त्र' । सत्ताशास्त्रीय चर्चाओं की थोड़ी बानगी हम पा चुके, प्रमाणशास्त्रीय चर्चा का एक

उदाहरण (तथा शास्त्रवार्त्तासमुच्चय में आया इस प्रकार का एक मात्र उदाहरण) अब हमारे सामने प्रस्तुत है। बौद्ध तार्किकों का—जो तार्किक होने के नाते सौत्रांतिक मतानुसारी थे—*कहना था कि एक शब्द तथा उसके अर्थ के बीच किसी प्रकार का स्वाभाविक संबन्ध नहीं। उनका यह कथन निम्नलिखित दो निरीक्षणों पर आधारित था—

(१) एक शब्द अनिवार्यतः एकाधिक वस्तुओं का द्योतक हुआ करता है जबकि किन्हीं भी दो वस्तुओं के सब धर्म परस्पर समान नहीं हो सकते।

(२) एक वक्ता द्वारा बोला गया कोई वाक्य सच भी हो सकता है और झूठ भी।

इनमें से पहले निरीक्षण के संबन्ध में विरोधियों ने प्रश्न किया : 'एक शब्द अपने द्वारा द्योतित वस्तुओं के सभी धर्मों का सूचन भले ही न करें लेकिन क्या वह इन वस्तुओं में से प्रत्येक में पाए जाने वाले किसी धर्मविशेष का भी सूचन नहीं कर सकता ?' बौद्ध तार्किकों ने उत्तर दिया : 'इन वस्तुओं में से प्रत्येक में पाया जाने वाला धर्म तो एक ही है और वह है "अपने से अन्य सभी वस्तुओं से भिन्न होना" (पारिभाषिक नाम 'अन्यापोह' अथवा 'अपोह) लेकिन यह धर्म निषेधात्मक है और एक शब्द को ऐसे निषेधात्मक धर्म का सूचक मानने से हमें इनकार नहीं (यद्यपि इस बात से हमें इनकार है कि कोई शब्द किसी वस्तु के सभी धर्मों का सूचन कर सकता है)'।

उक्त दूसरे निरीक्षण के संबन्ध में विरोधियों ने प्रश्न किया : 'भले ही एक वक्ता द्वारा बोला गया कोई वाक्य सच भी हो सकता है और झूठ भी, लेकिन क्या हमारे लिए ऐसी कसौटियां निर्धारित करना संभव नहीं जिनकी सहायता से हम जान सकें कि अमुक वक्ता का अमुक वाक्य सच है अथवा झूठ ?' बौद्ध तार्किकों ने उत्तर दिया 'हां, इस प्रकार की कसौटियां निर्धारित करना हमारे लिए संभव अवश्य है लेकिन उनकी सहायता से होने वाला ज्ञान अनुमान की सहायता से हुआ ज्ञान माना जाना चाहिए न कि शब्द की सहायता से हुआ ज्ञान (अर्थात् 'शब्द' नाम वाले स्वतन्त्र प्रमाण की सहायता से हुआ ज्ञान)।'

---

*यह कहने की आवश्यकता इसलिए है कि ऐसा प्रायः हुआ है कि एक ही ग्रन्थकार ने सौत्रांतिक मत का अनुसरण करते हुए 'तार्किक' साहित्य का प्रणयन किया है तथा योगाचार मत का अनुसरण करते हुए 'तार्किक विरोधी' साहित्य का।

हरिभद्र की प्रस्तुत चर्चा में हम इन उत्तरों प्रत्युत्तरों की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुन पाते हैं।

चलते चलते संक्षेप में इस प्रश्न पर भी विचार कर लिया जाए कि शास्त्रवार्त्तासमुच्चय के सातवें स्तबक में जैन-दर्शन को मान्यताओं का समर्थन-पुरःसर प्रतिपादन करते समय हरिभद्र ने क्या कहा है। इस स्तबक में हरिभद्र का मुख्य वक्तव्य यह है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु को उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिरता तीनों से सम्पन्न मानना तर्क का तकाजा है। यहां हरिभद्र अपने मन में दो विरोधी दार्शनिक मान्यताओं को लेकर चले हैं, एक वह जिसके अनुसार जगत् की वस्तुओं में उत्पत्ति तथा विनाश तो पाए जाते हैं लेकिन स्थिरता नहीं और दूसरी वह जिसके अनुसार जगत् में स्थिरता तो पाई जाती है लेकिन उत्पत्ति तथा विनाश नहीं। इनमें से पहली मान्यता स्पष्ट ही एक क्षणिकवादी दार्शनिक की मान्यता है लेकिन दूसरे के संबन्ध में कुछ कठिनाई है। हम देख चुके हैं कि हरिभद्र ने सांख्य दार्शनिक के 'प्रकृति' संबन्धी सिद्धान्त की आलोचना इस समझ से की है जैसे मानों प्रकृति एक सर्वथा स्थिरताशाली पदार्थ है—अर्थात् एक ऐसा पदार्थ जो उत्पत्ति तथा विनाश की प्रक्रियाओं से सर्वथा शून्य है। हम यह भी इंगित कर चुके हैं कि हरिभद्र की यह समझ किसी गलतफहमी पर आधारित है लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि हरिभद्र की दृष्टि में सांख्यदर्शन एक सर्वथा स्थिरतावादी दर्शन है। जो भी हो, प्रस्तुत प्रसंग में ध्यान देने योग्य बात यह है कि शास्त्रवार्त्तासमुच्चय के सातवें स्तबक में हरिभद्र ने जैन दर्शन की मौलिक सत्ताशास्त्रीय मान्यताओं को इस प्रकार से उपस्थित करने का प्रयत्न किया है कि क्षणिकवाद तथा 'सर्वथा स्थिरतावाद' दोनों के ग्रहण करने योग्य तत्त्वों का ग्रहण हो जाए तथा त्याग करने योग्य तत्त्वों का त्याग। [कहने की आवश्यकता नहीं कि जैन-दर्शन की इसी मौलिक मान्यता को अपना स्थितिबिन्दु बनाकर हरिभद्र ने शास्त्रवार्त्तासमुच्चय के दूसरे—अर्थात् सातवें स्तबक से अतिरिक्त—स्थलों में सत्ताशास्त्रीय प्रश्नों की चर्चा की है।]

शास्त्रवार्त्तासमुच्चय के प्रस्तुत संस्करण में कारिकाओं के मूल संस्कृत पाठ के अतिरिक्त उनका हिन्दी अनुवाद तथा उनके आशय को विशद करने

वाली कुछेक टिप्पणियां भी दी जा रही हैं, अतः यहां स्वीकृत किए गए ग्रन्थपाठ, इस हिन्दी अनुवाद तथा इन टिप्पणियों के संबन्ध में दो बातें कह देना आवश्यक है ।

यहां स्वीकृत किए गए पाठ का आधार ग्रन्थ के दो मुद्रित संस्करण हैं—एक (ख रूप से निर्दिष्ट) जो विक्रमी संवत् १९७० में बम्बई से छपा है तथा जिसमें मूल कारिकाओं के साथ यशोविजयजी की टीका दी गई है और दूसरा (क रूप से निर्दिष्ट) जो विक्रमी संवत् १९८५ में बम्बई में छपा है तथा जिसमें मूल कारिकाओं के साथ हरिभद्र की अपनी टीका दी गई है। अधिकांश स्थलों पर मुद्रित अपपाठों को एक दूसरे संस्करण की सहायता से ठीक किया जा सकता है; (अपपाठों की कुल मिलाकर संख्या ख संस्करण में अपेक्षाकृत कम है) । कुछ स्थलों पर दोनों ही मुद्रित संस्करण अपपाठ देते हैं लेकिन उन्हें टीकाओं की सहायता से ठीक किया जा सकता है । इनके अतिरिक्त कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहां दो टीकाकारों ने दो विभिन्न पाठों को स्वीकार किया है (तथा कुछ स्थलों पर यशोविजयजी ने एकाधिक पाठों को स्वीकार किया है); इस प्रकार के स्थलों का निर्देश यथावसर कर दिया गया है । ग्रन्थ का ग्यारह स्तवकों में विभाजन ख संस्करण में ही है; इसीलिए दूसरे से लेकर ग्यारहवें स्तवक तक की कारिकाओं में क्रमसंख्या दो प्रकार से दी गई है ।

कारिकाओं के हिन्दी अनुवाद में मूल के आशय को अक्षुण्ण रखने का प्रयास यथासंभव किया गया है और इसी उद्देश्य से अनेकों बार कुछ बातें अपनी ओर से जोड़नी पड़ी है जो कोष्ठकों के भीतर दी गई है। लेकिन कुछ स्थलों पर बिना कोष्ठक का अनुवाद-भाग भी कारिका के मूल शब्दों का अनुसरण करते हुए नहीं उसके मूल आशय का अनुसरण करते हुए चलता है; (इन स्थलों पर मूल में कही गई बात को अपनी ओर से जोड़ी गई बात से पृथक् करना असंभव हो गया है) ।

टिप्पणियों का उद्देश्य अधिकांश स्थलों पर यही है कि मूल-कारिका के आशय को सुगम बनाया जाए—फिर चाहे वह कारिका हरिभद्र का अपना मत व्यक्त कर रही हो या उनके किसी प्रतिद्वन्द्वी का कहने का आशय यह है कि इन टिप्पणियों में मूल कारिका के आशय का समर्थन अथवा खंडन नहीं केवल विशदीकरण पाया जा सकेगा । फिर भी कुछ स्थल ऐसे अवश्य हैं

जहां टिप्पणी की भाषा मूल-कारिका के आशय का समर्थन अथवा खण्डन ध्वनित करती प्रतीत होती है।

अन्त में एक बात अनुवाद तथा टिप्पणियों की भाषा के संबन्ध में। टिप्पणियों की भाषा तो बोलचाल की हिन्दी से प्रायः उतनी ही दूर है जितनी इस प्रस्तावना की भाषा —अर्थात् उससे विशेष दूर नहीं। लेकिन अनुवाद की भाषा पर संस्कृत वाक्यरचना शैली की छाया अपेक्षाकृत अधिक गहरी है और उसके दो कारण हैं। कुछ स्थलों पर तो मूल के आशय को बोलचाल की हिन्दी के अधिक निकट लाना असंभव हो गया, लेकिन कुछ स्थलों पर संभव होते हुए भी ऐसा न करने का कारण यह है कि वहां हिन्दी अनुवाद का मूल-संस्कृत के साथ मिलान तभी सरल होता है जब अनुवाद की भाषा पर संस्कृत वाक्य रचना शैली की छाया विशेष गहरी हो। इस संबन्ध मे 'भूत' (अथवा 'रूप') शब्द के एक ऐसे प्रयोग की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है जो एक सामान्य हिन्दी-पाठक के कानों को खटकेगा। उदाहरण के लिए यदि हम कहना चाहें "महात्मा गांधी, जो हमारे आदर्श हैं, ऐसा कभी न करते" तो हम यह भी कह सकते हैं कि "हमारे आदर्शभूत (अथवा आदर्शरूप) महात्मा गांधी ऐसा कभी न करते," लेकिन स्पष्ट ही यह दूसरा प्रयोग कानों को खटकने वाला है; फिर भी इस दूसरे प्रकार का प्रयोग प्रस्तुत अनुवाद में अनेकों बार हुआ है (यद्यपि टिप्पणियों में एकाध बार ही), और इसका कारण यह है कि ऐसा न करने पर अनुवाद (अथवा टिप्पणी) की भाषा अनावश्यक रूप से जटिल हो जाती। फिर दो एक शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत के दार्शनिक साहित्य में एक अर्थ देते हैं तथा बोलचाल की हिन्दी में कुछ दूसरा ही। उदाहरण के लिए, 'वासना' 'सन्तान' 'परिणाम' तथा 'रूप' शब्दों को ले लिया जाए। इन शब्दों के सामान्य अर्थ हम जानते हैं लेकिन संस्कृत के दार्शनिक साहित्य में 'वासना' शब्द का (जिसका एक पर्याय 'संस्कार' है) एक अर्थ है 'एक वर्त्तमान अनुभव द्वारा मन पर छोड़ी गई वह छाप जिसके कारण इस अनुभव का स्मरण आगे किसी समय संभव हो पाता है', 'सन्तान' शब्द का एक अर्थ है 'एक के तत्काल बाद दूसरी इस क्रम से होने वाली घटनाओं की परंपरा', 'परिणाम' शब्द का एक अर्थ है 'रूपान्तर', 'रूप' शब्द का एक अर्थ है 'रंग'। इन तथा इस प्रकार के प्रयोगों पर थोड़ा ध्यान दिया जाना चाहिए।

श्रीहरिभद्रसूरिविरचितः

शास्त्रवर्त[illegible]यः

पहला स्तबक

ग्रन्थ-प्रस्तावना : मोक्ष-साधनरूप से धर्म की उपादेयता

प्रणम्य परमात्मानं वक्ष्यामि हितकाम्यया ।
सत्त्वानामल्पबुद्धीनां शास्त्रवार्त्तासमुच्चयम् ॥१॥

परमात्मा को प्रणाम करके तथा अल्पबुद्धि प्राणियों के हित की कामना से मैं शास्त्रीय चर्चाओं का संग्रह वाणीबद्ध कर रहा हूँ ।

टिप्पणी—परमात्मा शब्द का लोकप्रचलित अर्थ है ईश्वर जिसकी कल्पना विश्व के कर्त्ता, धर्त्ता, संहर्त्ता के रूप में की गई है। लेकिन जैन परंपरा इस प्रकार के ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखती; अतः प्रस्तुत कारिका में 'परमात्मा' शब्द का अर्थ करना चाहिए 'वह महामानव जिसने अपने सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप इसी जन्म में मोक्ष पाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है' अथवा 'वह महामानव जिसने अपने सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप मोक्ष पा ली है'।

यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः ।
जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः ॥२॥

इस (चर्चासंग्रह) को सुनने के फलस्वरूप सभी शास्त्रों के संबन्ध में यह प्रायः निश्चय किया जा सकेगा कि उनमें कौनसी बात कैसी है (अर्थात् उनमें कौनसी बात ग्रहण करने योग्य है तथा कौनसी नहीं) और इस प्रकार किया गया यह निश्चय होगा द्वेष को शान्त करने वाला तथा स्वर्ग एवं मोक्ष के सुख को प्राप्त कराने वाला ।

दुःखं पापात् सुखं धर्मात् सर्वशास्त्रेषु संस्थितिः ।
न कर्तव्यमतः पापं कर्तव्यो धर्मसंचयः ॥३॥

'पाप से दुःख की प्राप्ति होती है और धर्म से सुख की' यह सभी शास्त्रों की निश्चित मान्यता है; अतः मनुष्य को चाहिए कि वह पाप न करे और धर्म का संचय करे।

हिंसाऽनृतादयः पञ्च तत्त्वाश्रद्धानमेव च ।
क्रोधादयश्च चत्वार इति पापस्य हेतवः ॥४॥

पाप का कारण बनती हैं इतनी बातें— हिंसा, असत्य आदि (अर्थात् हिंसा, असत्य, चौर्य, अ-ब्रह्मचर्य, परिग्रह ये पांच चरित्र-दोष), तत्त्व में श्रद्धा का न होना, तथा क्रोध आदि चार (अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार चरित्र-दोष)।

टिप्पणी—हिंसा आदि प्रस्तुत पांच चरित्र-दोष दूसरी परंपराओं में भी उन उन नामों से जाने जाते हैं, लेकिन क्रोध आदि प्रस्तुत चार चरित्र दोष जैन परंपरा को ही परिचित हैं और 'कषाय' नाम से।

विपरीतास्तु धर्मस्य एत एवोदिता बुधैः।
एतेषु सततं यत्नः सम्यक् कार्यः सुखैषिणा ॥५॥

इन्हीं की विपरीत बातें (अर्थात् अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अ-परिग्रह ये पांच चरित्र-गुण, तत्त्व में श्रद्धा का होना तथा अ-क्रोध, अ-मान अ-माया, अ-लोभ ये चार चरित्र-गुण) बुद्धिमानों ने धर्म का कारण बतलाई हैं और सुख की अभिलाषा करने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह धर्म की कारणभूत इन बातों को जीवन में उतारने के लिए सतत तथा सुचारु रूप से प्रयत्न करे।

टिप्पणी—कारिका के मूल शब्दों का सीधा अर्थ होगा .... "इन बातों में प्रयत्न करे" लेकिन उनका फलितार्थ होगा.... "इन बातों को .... जीवन में उतारने के लिए प्रयत्न करे"।

साधुसेवा सदा भक्त्या मैत्री सत्त्वेषु भावतः।
आत्मीयग्रहमोक्षश्च धर्महेतुप्रसाधनम् ॥६॥

धर्म की कारणभूत उक्त बातों के (अर्थात् उन्हें जीवन में उतारने के) साधन हैं निम्नलिखित—गुणियों की भक्तिपूर्वक सेवा सदा करना, सच्चे हृदय से (सभी) प्राणियों के प्रति मैत्रीभावना प्रदर्शित करना, ममत्व भावना से छुटकारा पाना।

उपदेशः शुभो नित्यं दर्शनं धर्मचारिणाम्।
स्थाने विनय इत्येतत् साधुसेवाफलं महत् ॥७॥

गुणियों की सेवा करने के फल हैं निम्नलिखित—पवित्र उपदेशों का नित्य लाभ, धार्मिक व्यक्तियों का दर्शन, विनयपात्रों (अर्थात् विनय पात्र व्यक्तियों तथा प्रतीकों) के प्रति विनय-प्रदर्शन।

मैत्रीं भावयतो नित्यं शुभो भावः प्रजायते।
ततो भावोदकाज्जन्तोर्द्वेषाग्निरुपशाम्यति ॥८॥

(सभी प्राणियों के प्रति) मैत्री भावना का सतत प्रदर्शन करने के फल स्वरूप एक व्यक्ति के मन में पवित्र भावों का उदय होता है जबकि पवित्र भाव रूपी इस जल से इस व्यक्ति की द्वेष रूपी अग्नि शान्त होती है।

अशेषदोषजननी निःशेषगुणघातिनी ।
आत्मीयग्रहमोक्षेण तृष्णाऽपि विनिवर्त्तते ॥९॥

और ममत्वभावना से छुटकारा पाने के फलस्वरूप शान्त होती है तृष्णा—वह तृष्णा जो सभी दोषों को जन्म देने वाली है तथा सभी गुणों का घात करने वाली है ।

एवं गुणगणोपेतो विशुद्धात्मा स्थिराशयः ।
तत्त्वविद्भिः समाख्यातः सम्यग् धर्मस्य साधकः ॥१०॥

(धर्म की कारणभूत पूर्वोक्त बातों के साधनभूत) इन गुणों से सम्पन्न विशुद्धात्मा तथा स्थिरचित्त व्यक्ति के ही संबन्ध में तत्त्ववेत्ताओं ने घोषित किया है कि वह सच्चा धर्मसाधक है ।

टिप्पणी—अर्थात् यद्यपि वस्तुतः यह व्यक्ति उन गुणों से सम्पन्न है जो धर्म की कारणभूत बातों के साधनभूत हैं लेकिन उसे कहा जा सकता है "धर्म-साधक" अर्थात् उन गुणों से सम्पन्न जो धर्म के साधनभूत हैं ।

उपादेयश्च संसारे धर्म एव बुधैः सदा ।
विशुद्धो मुक्तये सर्वं यतोऽन्यद् दुःखकारणम् ॥११॥

इस संसार में बुद्धिमानों द्वारा मोक्षप्राप्ति के उद्देश्य से सदा ग्रहण की जाने योग्य वस्तु एकमात्र विशुद्ध धर्म ही है, और वह इसलिए कि शेष सभी वस्तुएं दुःख का कारण हैं ।

टिप्पणी—अभी आगे चलकर क्रमांक १७ से २८ तक की कारिकाओं में इस प्रश्न की चर्चा होगी कि किस प्रकार का धर्माचरण मोक्ष दिलाने वाला सिद्ध होता है तथा किस प्रकार का नहीं, यहां हमें इतना ही समझ लेना है कि प्रस्तुत कारिका में 'विशुद्ध धर्म' से हरिभद्र का आशय उस प्रकार के धर्माचरण से है जो मोक्ष दिलाने वाला सिद्ध होता है ।

अनित्यः प्रियसंयोग इहेर्ष्या-शोकवत्सलः ।
अनित्यं यौवनं चापि कुत्सिताचरणास्पदम् ॥१२॥

इस संसार में प्रियजनों के साथ होने वाला ईर्ष्या तथा शोक से कातर संयोग अनित्य है और निन्दनीय आचरण का कारणभूत यौवन भी अनित्य है ।

अनित्याः सम्पदस्तीव्रक्लेशवर्गसमुद्भवाः ।
अनित्यं जीवितं चेह सर्वभावनिबन्धनम् ॥१३॥

अनेकों तीव्र क्लेश सहकर कमाई गई सम्पत्ति अनित्य है, और एक व्यक्ति के लिए कुछ भी करना कराना जिसके कारण ही संभव हो पाता है वह इस संसार में जीना भी अनित्य है ।

पुनर्जन्म पुनर्मृत्युर्हीनादिस्थानसंश्रयः ।
पुनः पुनश्च यदतः सुखमत्र न विद्यते ॥१४॥

इस संसार में एक आत्मा का बार बार जन्म होता है, बार बार उस की मृत्यु होती है तथा बार बार उसे अधम-अधमतर प्राणि-शरीरों की प्राप्ति होती है, और इस सब का अर्थ है कि इस संसार में सुख कहीं नहीं ।

टिप्पणी—कारिका के मूल–शब्दों का अर्थ होगा "उसे हीन आदि प्राणिशरीरों की प्राप्ति होती है" लेकिन टीकाकारों के अनुसार यहां "हीन आदि" का अर्थ है "हीन, हीनतर, हीनतम" आदि ।

प्रकृत्यसुन्दरं[1] ह्येवं संसारे सर्वमेव यत् ।
अतोऽत्र वद किं युक्ता क्वचिदास्था विवेकिनाम् ॥१५॥
मुक्त्वा धर्मं जगद्वन्द्यमकलङ्कं सनातनम् ।
परार्थसाधकं धीरैः सेवितं शीलशालिभिः ॥१६॥

जब संसार की सभी वस्तुएं इस प्रकार स्वभावतः असुन्दर हैं तब कहो कि विवेकी पुरुषों के लिए इनमें से किसी वस्तु को अनुकूल दृष्टि से देखना क्या कहीं उचित होगा ?—हा, इस संबन्ध में अपवादरूप से छोड़ दिया जाना चाहिए धर्म जो त्रिलोकवंदित है, निर्दोष है, नित्य है, परोपकारसाधक है, तथा शीलवान् व्यक्तियों द्वारा जीवन में उतारा हुआ है ।

आह तत्रापि नो युक्ता यदि सम्यग् निरूप्यते ।
धर्मस्यापि शुभो यस्माद् बन्ध एव फलं मतम् ॥१७॥[2]

इस पर किसी की आपत्ति निम्नलिखित है—"यदि ध्यान से विचार किया जाए तो धर्म के प्रति अनुकूल दृष्टि रखना भी उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि धर्म का फल भी शुभ ('कर्मों का) बंध ही तो है ।

टिप्पणी—यहां 'बंध' शब्द का अर्थ अच्छी तरह से समझ लिया जाना चाहिए—ताकि 'मोक्ष' शब्द का अर्थ तत्काल समझ में आ जाए। भारत के सभी पुनर्जन्मवादी दार्शनिकों का विश्वास है कि एक साधारण प्राणी अपने भले-

---

१ ख का पाठः प्रकृत्याऽसुन्दरं २ ख का पाठः मतः

बुरे जीवनव्यापारों के फलस्वरूप शुभ-अशुभ 'कर्मों' का संचय करता है जो उसकी आत्मा से तब तक संलग्न रहते हैं जब तक यह प्राणी अपने किसी न किसी जन्म में इन 'कर्मों' का भला-बुरा फल नहीं भोग लेता [जैन दर्शन की एक अतिरिक्त मान्यता यह है कि 'कर्म' एक अत्यन्त सूक्ष्म प्रकार के भौतिक पदार्थ हैं।] प्रस्तुत कारिका में 'धर्म' शब्द से पूर्वपक्षी का आशय शुभ कोटि के जीवन व्यापारों से है और उसकी आपत्ति का आशय यह है कि शुभ कोटि के जीवन–व्यापारों के फलस्वरूप एक प्राणी शुभ 'कर्मों' का बंध करता है जब की मोक्ष का अर्थ है शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के 'कर्म-बंध' से मुक्ति ।

न चायसस्य बन्धस्य तदा हेममयस्य च ।
फले कश्चिद् विशेषोऽस्ति पारतन्त्र्याविशेषतः ॥१८॥

सचमुच, लोहे का बन्धन तथा सोने का बन्धन फल की दृष्टि से भिन्न नहीं, और वह इसलिए कि वे दोनों ही परतन्त्रता के जनक समानरूप से हैं ।

तस्माद्धर्मवत् त्याज्यो धर्मोऽप्येवं मुमुक्षुभिः ।
धर्माधर्मक्षयान्मुक्तिर्मुनिभिर्वर्णिता यतः ॥१९॥

अतः मोक्ष की अभिलाषा करने वालों को चाहिए कि वे उक्त कारण से अधर्म की भांति धर्म का भी परित्याग करें; हमारे इस सुझाव का दूसरा कारण यह है कि मनीषियों ने धर्म तथा अधर्म दोनों के क्षय को मोक्ष का जनक बतलाया है ।"

उच्यते एवमेवैतत् किन्तु धर्मो द्विधा मतः ।
संज्ञानयोग एवैकस्तथाऽन्यः पुण्यलक्षणः ॥२०॥

इसके उत्तर में हमारा कहना है कि यह सब ठीक है, लेकिन धर्म दो प्रकार का माना गया है—एक वह जिसका पारिभाषिक नाम 'संज्ञानयोग' है और दूसरा वह जो सुखकर सांसारिक अनुभवों का निमित्त बनता है ।

ज्ञानयोगस्तपः शुद्धमाशंसादोषवर्जितम् ।
अभ्यासातिशयादुक्तं तद्[1] विमुक्तेः प्रसाधनम् ॥२१॥

'ज्ञानयोग' नाम है उस शुद्ध तप का जो फलकामना रूपी दोष से मुक्त है और जिसके संबन्ध में अधिकारियों का कहना है कि वह अत्यधिक अभ्यासपूर्वक किया जाने पर मोक्ष की प्राप्ति कराता है ।

---

१ ख का पाठ : तद्धि मुक्तेः

टिप्पणी—संदर्भ से जाना जा सकता है कि यहां 'शुद्ध तप' से हरिभद्र का आशय धर्म अथवा शुभकोटि के जीवन व्यापारों से होना चाहिए मोक्ष का जनक सिद्ध होने के लिए इन व्यापारों में एक ही विशेषता होनी चाहिए और वह यह कि वे फलकामना से रहित होकर संपादित किये जाएं।

धर्मस्तदपि चेत् सत्यं किं न बन्धफलः स यत् ।
आशंसा वर्जितोऽन्योऽपि[1] किं नैवं चेद् न यत् तथा ॥२२॥

कहा जा सकता है कि ('ज्ञानयोग' नाम वाला) यह धर्म भी धर्म तो है ही, और इस कथन की सत्यता स्वीकार करने पर आपत्ति उठाई जा सकती है कि फिर वह बंधको जन्म क्यों नहीं देता। इस पर हमारा उत्तर होगा कि वह इसलिए कि इस दूसरे प्रकार के धर्म का पालन फल की इच्छा रखे बिना किया जाता है। तब पूछा जाएगा कि उपरोक्त पहले प्रकार का धर्म भी ऐसा ही (अर्थात् बन्ध को जन्म न देने वाला) क्यों नहीं? इस पर हमारा उत्तर होगा कि वह इसलिए कि उस पहले प्रकार के धर्म के साथ बात ऐसी नहीं (अर्थात् उसका पालन फल की इच्छा रखे बिना नहीं किया जाता)।

भोगमुक्तिफलो धर्मः स प्रवृत्तीतरात्मकः ।[2]
सम्यग्मिथ्यादिरूपश्च गतिस्तन्त्रान्तरेष्वपि ॥२३॥

धर्म का इसी प्रकार से द्विविध विभाजन दूसरी परंपराओं में भी किया गया है; उदाहरण के लिए, उनमें से किसी का कहना है कि धर्म दो प्रकार का है- एक भोग का जनक, दूसरा मोक्ष का जनक। किसी का कहना है कि धर्म दो प्रकार का है- एक प्रवृत्ति रूप, दूसरा निवृत्ति रूप, किसी का कहना है कि धर्म दो प्रकार का है- एक मिथ्या, दूसरा सम्यक्, इसी प्रकार और भी।

टिप्पणी—देखना कठिन नहीं कि शुभ कोटि के जीवनव्यापारों को इस प्रकार से दो भागों में बांटना एक पुनर्जन्मवादी–मोक्षवादी दार्शनिक के लिए अनिवार्य हो जाता है। कारिका में आए तीन शब्दयुगलों के संबंध में टीकाकारों का कहना है कि उनमें से पहले का प्रयोग शैवों ने किया है, दूसरे का 'त्रैविद्य वृद्धों'(?)ने, तीसरे का किन्हीं बौद्धों ने।

तमन्तरेण तु तयोः क्षयः केन प्रसाध्यते ।
सदा स्यान्न कदाचिद् वा यद्यहेतुक एव सः ॥२४॥

---

१ ख का पाठ : °न्येऽपि । २ क का पाठ : सप्रवृत्ती°

सचमुच, उसके बिना (अर्थात् 'संज्ञानयोग' नाम वाले धर्म के बिना) उन दोनों का (अर्थात् उन धर्म तथा अधर्म का जो क्रमशः शुभ तथा अशुभ कर्म बन्ध के जनक सिद्ध होते हैं) क्षय किस को साधन बनाकर किया जाएगा ?, और यदि इस क्षय का कोई भी कारण नहीं तो तर्क का तकाजा है कि उसकी (अर्थात् इस क्षय की) उपस्थिति या तो सदा हो या कभी न हो ।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि 'किसी कारण द्वारा अजनित' यह विशेषण या तो एक ऐसी वस्तु को दिया जा सकता है जो सर्वथा मिथ्या हो या उसे जो सर्वथा नित्य (अर्थात् अनादि-अनन्त) हो। ऐसी दशा में यदि कर्मक्षय रूप मोक्ष का कोई कारण नहीं तो वह या तो मिथ्या होनी चाहिए या अनादि-अनन्त ।

तस्मादवश्यमेष्टव्यः कश्चिद् हेतुस्तयोः क्षये ।
स एव धर्मो विज्ञेयः शुद्धो मुक्तिफलप्रदः ॥२५॥

अतः उन दोनों के (अर्थात् बन्ध-जनक भूत धर्म तथा अधर्म के) क्षय का कोई न कोई कारण माना ही जाना चाहिए; और इस कारण के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए वह शुद्ध धर्म जो मोक्ष रूपी फल को प्राप्ति कराने वाला है ।

धर्माधर्मक्षयान्मुक्तिर्यच्चोक्तं पुण्यलक्षणम् ।
हेयं धर्मं तदाश्रित्य न तु संज्ञानयोगकम् ॥२६॥

और जहां धर्म तथा अधर्म दोनों के क्षय को मोक्ष का जनक बतलाया गया है वहां धर्म से आशय सुखकर संसारिक अनुभव के जनकभूत उस धर्म से है जो (सचमुच) परित्याग किया जाने योग्य है—'संज्ञानयोग' नाम वाले धर्म से नहीं ।

अतस्तत्रैव युक्ताऽऽस्था यदि सम्यग् निरूप्यते ।
संसारे सर्वमेवान्यत् दर्शितं दुःखकारणम् ॥२७॥

अतः यदि ध्यान से विचार किया जाए तो इसको ही (अर्थात् 'संज्ञानयोग' नाम वाले धर्म को ही) अनुकूल दृष्टि से देखना उचित प्रतीत होता है; जहां तक संसार की दूसरी वस्तुओं का संबन्ध है, यह दिखलाया ही जा चुका कि वे सब के दुःख के कारण हैं ।

तस्माच्च जायते मुक्तिर्यथा मृत्यादिवर्जिता ।
तथोपरिष्टाद् वक्ष्यामः सम्यक्शास्त्रानुसारतः ॥२८॥

उक्त प्रकार का धर्म मृत्यु आदि (क्लेशों) से रहित मोक्ष को जन्म कैसे देता है यह हम आगे बतलाएंगे और प्रामाणिक शास्त्रों का अनुसरण करते हुए ।

टिप्पणी--इस ग्रन्थ में 'सत्-शास्त्र' शब्द का प्रयोग बार बार होने जा रहा है और उसका अर्थ प्रामाणिक शास्त्र-ग्रन्थ करना ठीक रहेगा। अत एव प्रस्तुत कारिका में आए 'सम्यक्शास्त्र' शब्द का भी यही अर्थ किया गया है। वैसे यशोविजयजी 'सम्यक्शास्त्रानुसारतः' के स्थानपर 'सम्यक् शास्त्रानुसारतः' यह पाठ स्वीकार करते हैं तथा उसका अर्थ करते हैं' "अविरोधपूर्वक शास्त्रतात्पर्य को ग्रहण करते हुए (अर्थात् शास्त्र-तात्पर्य को इस प्रकार ग्रहण करते हुए कि उसमें पूर्वापरविरोध न आए)"। लेकिन स्पष्ट ही प्रामाणिक शास्त्रों से हरिभद्र का आशय जैन-परंपरा के धार्मिक-दार्शनिक ग्रन्थों से प्रस्तुत है। कारिका में हरिभद्र ने जिस चर्चा को आगे चलकर उठाने की बात कही है वह वस्तुतः पूरे नवे स्तबक में उठाई गई है--अर्थात् इस ग्रन्थ में आई सभी सत्ताशास्त्रीय चर्चाओं को समाप्त कर लेने के बाद तथा ग्रन्थ के प्रायः अन्तिम भाग में। इससे जाना जा सकता है कि यद्यपि हरिभद्र अपने इस ग्रन्थ की सत्ताशास्त्रीय चर्चाओं को इसकी मोक्ष-साधन विषयक चर्चा के लिए रास्ता साफ करने वाली भर मानते हैं लेकिन उनके ग्रन्थ के अधिकांश भाग को इन सत्ताशास्त्रीय चर्चाओं ने घेरा है न कि इस मोक्षसाधन विषयक चर्चा ने। [यह भी कहा जा सकता है कि जिस आगामी चर्चा का निर्देश हरिभद्र यहां कर रहे हैं वह शास्त्रवार्त्ता-समुच्चय की सबसे अन्तिम चर्चा है, लेकिन यह बात तब भी सच रहेगी कि इस अन्तिम चर्चा से पहले आनेवाली चर्चाओं में से अधिकांश का संबन्ध सत्ताशास्त्रीय प्रश्नों से है।]

इदानीं तु समासेन शास्त्रसम्यक्त्वमुच्यते ।
कुवादियुक्त्यपव्याख्यानिरासेनाविरोधतः ॥२९॥

इस समय तो हम संक्षेप में यह बतलाएंगे कि (हमारे अभीष्ट) शास्त्र प्रामाणिक कैसे हैं; और अपने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये हम कुवादियों (=कुतार्किकों) की युक्तियों एवं अपव्याख्याओं का खण्डन करेंगे तथा दिखलाएंगे कि उक्त शास्त्र अन्तर्विरोध (आदि दोषों) से मुक्त कैसे हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र सारतः हमें यह बतलाते हैं कि अपने इस ग्रन्थ की सत्ताशास्त्रीय चर्चाओं वाले भाग में उन्होंने क्या किया है। उनका विश्वास है कि जैनदर्शन की सत्ताशास्त्रीय मान्यताएं सर्वदा

सुसंगत हैं जबकि जैनविरोधी दार्शनिक इन मान्यताओं का खंडन तभी कर पाते हैं जब वे या तो कुतर्कों का सहारा लें या इन मान्यताओं को तोड़ मरोड़ कर श्रोताओं के सामने रखें। इसीलिए हरिभद्र आवश्यक समझते हैं कि जैनेतर दार्शनिक सम्प्रदायों की उन उन सत्ताशास्त्रीय मान्यताओं का खण्डन किया जाए तथा जैन दर्शन की सत्ताशास्त्रीय मान्यताओं का समर्थन।

(२) भूतचैतन्यवाद–खण्डन

पृथिव्यादिमहाभूतकार्यमात्रमिदं जगत् ।
न चात्मादृष्टसद्भावं मन्यन्ते भूतवादिनः ॥३०॥

भूतवादियों की मान्यता है कि यह जगत् एकमात्र पृथ्वी आदि महाभूतों से (अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु से) जनमा है और इस जगत् में न कहीं आत्मा की सत्ता है न अदृष्ट की।

टिप्पणी—पुनर्जन्मवादी दार्शनिकों की मान्यतानुसार एक प्राणी को जो सुख-दुःख उसके पूर्वजन्मों के संचित 'कर्मों' के फलस्वरूप मिलते हैं उन्हें अदृष्टजनित सुख दुःख कहा जाता है (और वह इसलिए कि इन सुखदुःखों का कोई 'दृष्ट' अर्थात् 'इस जन्म में दीख पड़ने वाला' कारण नहीं)। स्पष्ट ही एक भौतिकवादी दार्शनिक, जो आत्मा ही की सत्ता में विश्वास नहीं रखता, "पूर्वजन्मों में संचित 'कर्म'" रूप अदृष्ट की सत्ता में भी विश्वास नहीं रख सकता। वैसे यशोविजयजी ने 'न चात्मादृष्टसद्भावं मन्यन्ते भूतवादिनः' के स्थान पर 'न चात्मा दृष्टसद्भावं मन्यन्ते भूतवादिनः' यह पाठ स्वीकार किया है; उनके अनुसार इस कारिकाभाग का अर्थ होगा "भूतवादियों की मान्यता है कि इस जगत् में आत्मा की सत्ता कहीं नहीं जबकि यहां सत्ताशील वस्तुएं ही वे हैं जो प्रत्यक्षज्ञान का विषय बनाई जा सकती हैं।"

अचेतनानि भूतानि न तद्धर्मो न तत्फलम् ।
चेतनाऽस्ति च यस्येयं स एवात्मेति चापरे ॥३१॥

(इसके विपरीत) दूसरे वादियों का कहना है कि भूत अचेतन हैं, चेतना न भूतों का धर्म है न भूतों का फल, जबकि आत्मा उसी तत्त्व का नाम है जिससे चेतना (धर्म रूप से अथवा फलरूप से) संबंधित है।

यदीयं भूतधर्मः स्यात् प्रत्येकं तेषु सर्वदा ।
उपलभ्येत सत्त्वादिकठिनत्वादयो यथा ॥३२॥

यदि चेतना भूतों का धर्म होती तो वह सभी भूतों में सभी समय पाई जानी चाहिए थी, उसी प्रकार जैसे सत्ता आदि (सामान्य धर्म) तथा कठोरता आदि (विशेष धर्म) जिन भूतों में भी पाए जाते हैं उनमें सभी समय पाए जाते हैं।

शक्तिरूपेण सा तेषु सदाऽतो नोपलभ्यते ।
न च तेनापि रूपेण सत्यसत्येव चेन्न तत् ॥३३॥

उत्तर दिया जा सकता है 'चेतना भूतों में शक्ति रूप से रहती है और इसलिए हमें उसका दर्शन सदा नहीं होता, लेकिन इस प्रकार से (अर्थात् शक्ति रूप से) भूतों में रहने वाली चेतना को भी भूतों में न रहने वाली तो नहीं कहा जा सकता।' इस पर हमारा कहना निम्नलिखित है—

शक्तिचेतनयोरैक्यं नानात्वं वाऽथ सर्वथा ।
ऐक्ये सा चेतनवेति नानात्वेऽन्यस्य सा यतः ॥३४॥

यह शक्ति तथा चेतना एक दूसरे से या तो सर्वथा अभिन्न होगी या सर्वथा भिन्न, यदि अभिन्न तब तो यह शक्ति चेतना ही हुई (तथा पूर्वोक्त आपत्ति का समाधान नहीं हुआ) और यदि भिन्न तो चेतना किसी अन्य से संबंधित होनी चाहिए (न कि भूत से जिसमें प्रस्तुत वादी ने उस शक्ति का निवास माना था जिसके संबंध में वह अब कह रहा है कि वह चेतना से भिन्न है)।

अनभिव्यक्तिरप्यस्या न्यायतो नोपपद्यते ।
आवृतिर्न[1] यदन्येन तत्त्वसंख्याविरोधतः ॥३५॥

फिर चेतना की अन्-अभिव्यक्ति की बात न्यायसंगत नहीं प्रतीत होती, क्योंकि चेतना का आवरण करने वाली अन्य कोई वस्तु नहीं और वह इसलिए कि ऐसी किसी वस्तु की सत्ता स्वीकार करने पर तत्त्वों की संख्या भूतवादी की मान्यता के विरुद्ध ठहरेगी (अर्थात् उस दशा में भूतवादी अपने अभीष्ट तत्त्वों से अतिरिक्त किसी तत्त्व को स्वीकार कर रहा होगा)।

टिप्पणी—'क ख में शक्ति रूप से रहता है' यह कहने का अर्थ है कि क ख में अन्-अभिव्यक्त रूप से रहता है जबकि 'क ख में अन्-अभिव्यक्त रूप से रहता है' यह कहने का अर्थ है कि क ख में ग से आवृत रूप में रहता है। हरिभद्र का कहना है कि इन समीकरणों में यदि क के स्थान पर 'चेतना' को रखा जाए तथा ख के स्थान पर 'भूतचतुष्क' को तो ग के स्थान पर 'भूत-चतुष्क से अतिरिक्त कोई तत्त्व' को रखना पड़ेगा।

१ क का पाठ: आवृत्तिर्न।

न चासौ तत्स्वरूपेण तेषामन्यतरेण वा ।
व्यञ्जकत्वप्रतिज्ञानात् नावृतिर्व्यञ्जकं यतः ॥३६॥

न यही कहना उचित होगा कि उक्त आवरण कार्य भूतमात्र का स्वरूप करेगा (अर्थात् कोई भी भूत करेगा) या भूतों में से कोई एक करेगा, क्योंकि भूतवादी की घोषणानुसार भूत चेतना की अभिव्यक्ति करने वाले हैं और सचमुच एक पदार्थ की अभिव्यक्ति करने वाली वस्तु ही उस पदार्थ का आवरण करने वाली वस्तु भी नहीं हो सकती।

विशिष्टपरिणामाभावेऽप ह्यत्रावृतिर्न वै ।
भावतापत्तेस्तथा नामव्यञ्जकत्वप्रसङ्गतः[1] ॥३७॥

यह भी कहना उचित नहीं होगा कि भूतों के एक रूपान्तरणविशेष का अभाव ही चेतना का आवरण करने वाला है, क्योंकि तब तो यह अभाव भावरूप सिद्ध होगा (और वह इसलिए कि आवरण–कार्य एक भावरूप वस्तु द्वारा ही संभव है)। दूसरे, उस दशा में चेतना की अभिव्यक्ति भूतों के उक्त रूपान्तरणविशेष का कार्य होनी चाहिए (न कि भूतों की—जैसी कि भूतवादी की मान्यता है)।

टिप्पणी—भौतिकवादी का कहना है कि भूतों का एक रूपान्तरण-विशेष चेतना का जनक है—जिसका अर्थ यह हुआ कि इस रूपान्तरणविशेष के अभाव में चेतना का जन्म नहीं होता। इस पर हरिभद्र की दो आपत्तियां हैं :

(१) 'उक्त रूपान्तरणविशेष के अभाव में चेतना का जन्म नहीं होता' यह कहने का अर्थ है कि यह अभाव चेतना का आवरण करता है, लेकिन एक अभाव आवरण–कार्य में असमर्थ है।

(२) 'भूतों का उक्त रूपान्तरणविशेष चेतना को जन्म देता है' यह कहने का अर्थ यह मानना हुआ कि चेतना का जनक भूत नहीं भूतों का उक्त रूपा-न्तरणविशेष है। देखा जा सकता है कि इन दोनों ही आपत्तियों की अपनी अपनी कठिनाइयां हैं।

न चासौ भूतभिन्नो यत् ततो व्यक्तिः सदा भवेत्।
भेदे त्वधिकभावेन तत्त्वसंख्या न युज्यते ॥३८॥

---

१. क ख दोनों का पाठः नाम व्यञ्जक

यह भी कहना उचित नहीं होगा कि भूतों का उक्त रूपान्तरणविशेष भूतों से भिन्न नहीं, क्योंकि तव तो चेतना की अभिव्यक्ति सव समय होनी चाहिए। और यदि कहा जाए कि यह रूपान्तरणविशेष भूतों से भिन्न है तव भूतवादी की अभीष्ट तत्त्वसंख्या युक्ति संगत नहीं ठहरती (क्योंकि अव भूतवादी अपने अभीष्ट तत्त्वों से अतिरिक्त किसी तत्त्व की संख्या स्वीकार कर रहा होगा)।

स्वकालेऽभिन्न इत्येवं कालाभावे न सङ्गतम्।
लोकसिद्धाश्रये त्वात्मा हन्त! नाश्रीयते कथम् ॥३९॥

यह कहना कि भूतों का उक्त रूपान्तरणविशेष जिस समय अस्तित्व में आता है उस समय वह भूतों से अभिन्न हुआ करता है तव तक युक्ति संगत नहीं जव तक काल की स्वतंत्र सत्ता न स्वीकार की जाए। यदि कहा जाए कि काल संवंधी जैसी मान्यता लोकव्यवहार द्वारा सिद्ध है उसे स्वीकार किया जा सकता है तो हम पूछते हैं कि आत्मा संवंधी जैसी मान्यता लोकव्यवहार द्वारा सिद्ध है उसे स्वीकार क्यों न कर लिया जाए।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि कोई दार्शनिक 'काल' शव्द के प्रयोग का अधिकारी तव तक नहीं जव तक वह 'काल' संवंधी अपनी विशिष्ट मान्यता को स्पष्ट न कर दे और यदि, कोई दार्शनिक कहे कि वह 'काल' संवंधी लोक-प्रचलित मान्यता से ही अपना काम चला लेगा तो हरिभद्र का उत्तर होगा कि तव तो सभी प्रश्नों पर—उदाहरण के लिए, आत्मा के अस्तित्व-नास्तित्व के प्रश्न पर—उसे लोक-प्रचलित मान्यताओं से ही अपना काम चला लेना चाहिए।

नात्माऽपि लोके नो सिद्धो जातिस्मरणसंश्रयात्।
सर्वेषां तदभावश्च चित्रकर्मविपाकतः ॥४०॥

न यही कहा जा सकता है कि आत्मा संवंधी कैसी भी मान्यता लोक-व्यवहार द्वारा सिद्ध नहीं, क्योंकि पूर्वजन्म की स्मृति एक लोक-स्वीकृत (लोकानुभव—गोचर) वात है और जहां तक इस वात का प्रश्न है कि सव प्राणियों को अपने पूर्वजन्म की स्मृति नहीं होती उसका कारण है प्राणियों के उन उन कर्मों का फलाभिमुख होना।

लोकेऽपि नैकतः स्थानादागतानां तथेक्ष्यते।
अविशेषेण सर्वेषामनुभूतार्थसंस्मृतिः ॥४१॥

दैनिक जीवन में भी हम देखते हैं कि एक ही स्थान से आने वाले अनेक व्यक्तियों में से सबको (एक साथ) अनुभव की गई घटनाओं की एक सी स्मृति नहीं होती ।

दिव्यदर्शनतश्चैव तच्छिष्टाव्यभिचारतः ।
पितृकर्मादिसिद्धेश्च हन्त ! नात्माऽप्यलौकिकः ॥४२॥

क्योंकि दैवी आत्माओं का दर्शन मनुष्यों को (जब तक) हुआ करता है, क्योंकि इन आत्माओं द्वारा कही गई बातें सच होती पाई जाती हैं, क्योंकि पितृ-तर्पण आदि कार्य शुभ फलों का जनक होते पाए जाते हैं इसलिये आत्मा को एक लोकव्यवहारसिद्ध वस्तु न मानना उचित नहीं ।

काठिन्याबोधरूपाणि भूतान्यध्यक्षसिद्धितः ।
चेतना तु न तद्रूपा सा कथं तत्फलं भवेत् ? ॥४३॥

यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है कि भूत कठोरता तथा जड़ता इन दो धर्मों के स्वभाव वाले (अर्थात् इन धर्मों का आश्रय) हैं और जब चेतना इन धर्मों के स्वभाव वाली (अर्थात् इन धर्मों के साथ रह सकने वाली) नहीं तब उसका जन्म भूतों से हुआ कैसे माना जा सकता है ?

प्रत्येकमसती तेषु न च स्याद् रेणुतैलवत् ।
सती चेदुपलभ्येत भिन्नरूपेषु सर्वदा ॥४४॥

यदि चेतना असम्मिलित भूतों में नहीं रहती तो वह भूतों में नहीं ही रह सकती (अर्थात् तब वह सम्मिलित भूतों में भी नहीं रह सकती)–उसी प्रकार जैसे रेत में तेल नहीं रह सकता । और यदि चेतना भूतों में रहती ही है तब वह असम्मिलित भूतों में भी सदा दीख पड़नी चाहिए ।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि किन्हीं भौतिक द्रव्यविशेषों के परस्पर सम्मेलन से निर्मित किसी नए द्रव्य में यदि चेतना रह सकती है तो उसे उक्त भौतिक द्रव्यविशेषों में से प्रत्येक में भी रहना चाहिए ।

असत् स्थूलत्वमण्वादौ घटादौ दृश्यते यथा ।
तथाऽसत्येव भूतेषु चेतनाऽपीति चेन्मतिः ॥४५॥

सोचा जा सकता है कि जिस प्रकार स्थूलता अणु आदि में नहीं रहने पर भी (इन अणु आदि से निर्मित) घट आदि में दीख पड़ती है उसी प्रकार चेतना भी (अ-सम्मिलित) भूतों में नहीं ही रहनी चाहिए (यद्यपि वह सम्मिलित भूतों में दीख पड़ती है) । इस पर हमारा उत्तर निम्न लिखित है :

नासत् स्थूलत्वमण्वादौ तेभ्य एव तदुद्भवात् ।
असतस्तत्समुत्पादो न युक्तोऽतिप्रसङ्गतः ॥४६॥

स्थूलता अणु आदि में नहीं रहती ऐसी बात नहीं, क्योंकि उसका जन्म इन्हीं से तो होता है। सचमुच जो वस्तु सर्वथा नास्तित्वशील है उसके संवन्ध में यह मानना उचित नहीं कि उसका जन्म अणु आदि से होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर अवाञ्छनीय परिणाम सिर पर ओढ़ने पड़ेंगे ।

पञ्चमस्यापि भूतस्य तेभ्योऽसत्त्वाविशेषतः ।
भवेदुत्पत्तिरेवं च तत्त्वसंख्या न युज्यते ॥४७॥

(उदाहरण के लिए,) तब तो एक पांचवें भूत का जन्म भी (भूतवादी द्वारा स्वीकृत चार) भूतों से हुआ माना जा सकेगा यद्यपि इस पांचवें भूत का अभाव इन (चार) भूतों में उसी प्रकार है जैसे चेतना का; और उस दशा में भूतवादी की अभीष्ट तत्त्वसंख्या (अर्थात् चार) युक्तिसंगत नहीं ठहरेगी ।

न तज्जननस्वभावाश्चेत् तेऽत्र मानं न विद्यते ।
स्थूलत्वोत्पाद इष्टश्चेत् तत्सद्भावेऽप्यसौ समः ॥४८॥

कहा जा सकता है कि चार भूतों का यह स्वभाव ही नहीं कि वे किसी पांचवें भूत को जन्म दें, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि इस वचन के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं। भूतवादी द्वारा कहा जा सकता है कि स्थूलता का जन्म (अणुरूप भूतों से) होना उसे स्वयं अभीष्ट है (जबकि किसी पांचवें भूत का जन्म चार भूतों से होना उसे अभीष्ट नहीं), लेकिन तब हम उत्तर देंगे कि इस स्थिति का निर्वाह तो यह मानने पर भी हो सकता है (वस्तुतः यह मानने पर ही होता है) कि स्थूलता अणुरूप भूतों में भी रहती है ।

न च मूर्त्ताणुसङ्घातभिन्नं स्थूलत्वमित्यदः ।
तेषामेव तथाभावो न्याय्यं मानाविरोधतः ॥४९॥

फिर स्थूलता मूर्त्त (अर्थात् रूपवान्) अणुओं के संघात (अर्थात् समूह) से भिन्न कोई वस्तु है भी नहीं; ऐसी दशा में स्थूलता को अणुओं की ही एक अवस्थाविशेष मानना उचित होगा और वह इसलिए कि इस मान्यता के विपक्ष में कोई प्रमाण नहीं ।

टिप्पणी—स्थूलता को मूर्त्त (अर्थात् रूपवान्) अणुओं की एक अवस्था-विशेष इसलिए कहा जा रहा है कि स्थूलता को एक दिखलाई पड़ने वाला धर्म होना चाहिए जब कि मूर्त्त (अर्थात् रूपवान्) पदार्थों का ही दिखलाई

पड़ना संभव है। यहां 'रूप' शब्द का अर्थ है 'आंख को दिखलाई पड़ने वाला भौतिक गुण'।

भेदे तददलं यस्मात् कथं सद्भावमश्नुते।
तदभावेऽपि तद्भावे सदा सर्वत्र वा भवेत् ॥५०॥

क्योंकि यदि स्थूलता को अणुओं से पृथक् माना जाए तो प्रश्न उठता है कि किसी उपादान कारण के अभाव में ऐसी स्थूलता का जन्म कैसे होगा; और यदि स्थूलता का जन्म किसी उपादानकारण के अभाव में भी संभव माना जाए तो उसे सब समय तथा सब स्थानों पर उपस्थित रहना चाहिए।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के लिए एक उपादानकारण चाहिए (और कतिपय निमित्तकारण)। उनकी मान्यतानुसार एक कार्य का उपादानकारण उस कारण को कहते हैं जिसकी एक नई अवस्थाविशेष यह कार्य है (जब कि इस कार्य के शेष कारण उसके निमित्तकारण कहलाएंगे)। ऐसी दशा में स्थूलतारूप कार्य की उत्पत्ति के लिए भी कोई उपादानकारण चाहिए और हरिभद्र का कहना है कि यह उपादानकारण वे अणु ही हो सकते हैं जिनमें यह स्थूलता प्रकट हो रही है।

न चैवं भूतसङ्घातमात्रं चैतन्यमिष्यते।
अविशेषेण सर्वत्र तद्वत् तद्भावसङ्गतेः ॥५१॥

लेकिन इसी प्रकार (अर्थात् अणुओं में पाई जाने वाली स्थूलता की भांति) चेतना को भूतों का संघातमात्र मानना हमें अभीष्ट नहीं, क्योंकि उस दशा में चेतना को सब स्थानों पर समान भाव से वैसे ही उपस्थित रहना चाहिए जैसे कि भूतसंघात सब स्थानों पर समान भाव से उपस्थित रहा करते हैं।

एवं सति घटादीनां व्यक्तचैतन्यभावतः।
पुरुषान्न विशेषः[1] स्यात् स च प्रत्यक्षबाधितः ॥५२॥

उस दशा में (अर्थात् चेतना को भूतसंघातमात्र मानने की दशा में) घट आदि में चेतना की अभिव्यक्ति होनी चाहिए—जिसका अर्थ यह होगा कि घट आदि तथा मनुष्यों के बीच कोई तात्त्विक परस्पर-भेद नहीं, लेकिन यह बात प्रत्यक्षबाधित है।

---

१. ख का पाठः पुरुषाद्यविशेषः

अथ भिन्नस्वभावानि भूतान्येव यतस्ततः ।
तत्संघातेषु चैतन्यं न सर्वेष्वेतदप्यसत् ॥५३॥

तर्क दिया जा सकता है कि क्योंकि विभिन्न भूत परस्पर भिन्न स्वभावों वाले हैं इसलिए सभी भूतसंघातों में चेतना उपस्थित नहीं रहती, लेकिन इस प्रकार का तर्क दिया जाना उचित नहीं ।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका हरिभद्र के भौतिकवादविरोधी अभियान की एक महत्त्वपूर्ण मंजिल का सूत्रपात करती है । देखा जा सकता है कि भौतिकवादी चेतना को एक ऐसा धर्म मानता है जो कुछ भूतों में पाया जाता है तथा कुछ में नहीं; इसके विपरीत, हरिभद्र की समझ है कि चेतना एक ऐसा धर्म है जिसे या तो सब भूतों में होना चाहिए या किसी भी भूत में नहीं । हरिभद्र की समझ से संबन्धित यह स्पष्टीकरण उनकी आगामी कारिकाओं का आशय ग्रहण करने में हमारी सहायता करेगा ।

स्वभावो भूतमात्रत्वे सति न्यायान्न भिद्यते ।
विशेषणं विना यस्मान्न तुल्यानां विशिष्टता ॥५४॥

दो भूत जब तक भूत मात्र हैं तब तक उनके स्वभावों में परस्पर भेद मानना न्यायसंगत नहीं, क्योंकि एक नए विशेषण को धारण किए बिना कोई वस्तु स्वसदृश एक दूसरी वस्तु की अपेक्षा विशेषता वाली नहीं हो सकती ।

स्वरूपमात्रभेदे च भेदो भूतेतरात्मकः ।
अन्यभेदकभावे तु स एवात्मा प्रसज्यते ॥५५॥

यदि कोई वस्तुविशेष स्वभावतः ही भूतों से भिन्न है तब उसकी भूतों से यह भिन्नता अभौतिकता रूप हुई; और यदि (यह वस्तु स्वयं भौतिक है लेकिन) कोई नई वस्तु इस वस्तु को (अन्य) भूतों से भिन्न बनाती है तो यह नई वस्तु ही आत्मा हुई ।

हविर्गुडकणिक्कादिद्रव्यसङ्घातजान्यपि ।
यथा भिन्नस्वभावानि खाद्यकानि तथेति चेत् ॥५६॥

कहा जा सकता है कि यह (अर्थात् कुछ भूतसंघातों का सचेतन तथा कुछ का अचेतन होना) उसी प्रकार संभव है जैसे कि घी, गुड़, आटा आदि एक ही प्रकार के द्रव्यों से बने हुए अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ अनेक प्रकार के स्वभावों वाले होते हैं । इस पर हमारा उत्तर है :

व्यक्तिमात्रत एवैषां ननु भिन्नस्वभावता ।
रसवीर्यविपाकादिकार्यभेदो न विद्यते ॥५७॥

उक्त खाद्य पदार्थ केवल व्यक्तिशः अनेक प्रकार के स्वभावों वाले हैं लेकिन उनके (घटकभूत घी, गुड़, आटा आदि द्रव्यों) द्वारा जनित रस, वीर्यविपाक आदि फल परस्पर भिन्न नहीं ।

टिप्पणी– प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र किन्हीं खाद्य पदार्थों को व्यक्तिगत रूप से अनेक स्वभावों वाला मानते हुए भी उन्हें अपने चरम फलों की दृष्टि से एक स्वभाव वाला बतला रहे हैं । अर्थात् उनके मतानुसार इन खाद्य पदार्थों का उक्त स्वभावभेद गौण है जबकि उनका उक्त स्वभावसाम्य तात्त्विक है ।

तदात्मकत्वमात्रत्वे संस्थानादिविलक्षणा ।
यथेयमस्ति भूतानां तथा साऽपि कथं न चेत् ॥५८॥

कहा जा सकता है कि जैसे एक ही प्रकार के द्रव्यों से बने हुए अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ बनावट आदि में परस्पर विलक्षण होने के कारण परस्पर भिन्न स्वभावों वाले हैं वैसे ही भूतों द्वारा बनी हुई अनेक प्रकार की वस्तुएं भी (सचेतन, अचेतन आदि रूप से) परस्पर भिन्न स्वभावों वाली हैं । इस पर हमारा उत्तर है :

कर्त्रभावात् तथा देश-कालभेदाद्ययोगतः ।
न चासिद्धमदो भूतमात्रत्वे तदसंभवात् ॥५९॥

जो बात घी, गुड़, आदि से बने हुए पदार्थों पर लागू होती है वह भूतों द्वारा बनी हुई वस्तुओं पर लागू नहीं हो सकती क्योंकि भूतवादी के मतानुसार भूतों से वस्तुएं बनाने वाला कोई व्यक्ति नहीं (जैसे कि घी, गुड़ आदि से खाद्य पदार्थ बनाने वाले व्यक्ति हुआ करते हैं) और न ही उसके मतानुसार भूतों के बीच देश, काल आदि संबंधी परस्पर भेद संभव हैं । कहा जा सकता है कि हमारे द्वारा उठाई गई दोनों आपत्तियां निराधार हैं; इस पर हमारा उत्तर है कि जब भूत ही एक मात्र सत्ताशील पदार्थ है (जैसी कि भूतवादी की मान्यता है) तब सचमुच ही न तो भूतों से वस्तुएं बनाने वाले किसी व्यक्ति का अस्तित्व संभव है और न भूतों के बीच देश काल आदि संबंधी परस्पर भेद का ।

टिप्पणी—हरिभद्र की समझ है कि यदि जगत् में भूत ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है तो इस जगत् को एक सर्वथा एक रूप (अर्थात् ब्राह्य अवान्तर भेदों से सर्वथा रहित) पिण्ड के स्वभाव वाला होना चाहिए।

तथा च भूतमात्रत्वे न तत्सङ्घातभेदयोः ।
भेदकाभावतो भेदो युक्तः सम्यग् विचिन्त्यताम् ॥६०॥

इस प्रकार भूतों को ही एकमात्र सत्ताशील पदार्थ मानने पर दो भूतसंघातविशेषों के बीच भेद करना उचित न होगा और वह इसलिए कि उस दशा में इस प्रकार का भेद किए जाने का कोई कारण ही उपस्थित न होगा। इस पूरी परिस्थिति पर भली भांति विचार किया जाना चाहिए।

एकस्तथाऽपरो नेति तन्मात्रत्वे तथाविधः ।
यतस्तदपि नो भिन्नं ततस्तुल्यं च तत्तयोः ॥६१॥

'दो भूतसंघात समान भाव से भूतरूप है लेकिन उनमें से एक वैसा (अर्थात् सचेतन) है तथा दूसरा वैसा नहीं' इस परिस्थिति के लिए भूतवादी जिस वस्तु को उत्तरदायी ठहराएगा वह भी उसके मतानुसार कोई भिन्न रूप वाली नहीं होनी चाहिए (अर्थात् वह भी भूतरूप ही होनी चाहिए); और उस दशा में उक्त दोनों भूतसंघातों की भूतरूपता सर्वथा समान होगी (जिसके फलस्वरूप यह नहीं कहा जा सकेगा कि उनमें से एक सचेतन है तथा दूसरा नहीं)।

स्यादेतद् भूतजत्वेऽपि ग्रावादीनां विचित्रता ।
लोकसिद्धेति सिद्धैव न सा तन्मात्रजा ननु ॥६२॥

कहा जा सकता है कि भूतमात्र की उपज होते हुए भी शिला आदि वस्तुएं परस्पर भिन्न स्वभावों वाली हैं यह बात लोकसिद्ध है (और ठीक इसी प्रकार सचेतन तथा अचेतन वस्तुएं भी भूतमात्र की उपज होते हुए भी परस्पर भिन्न स्वभावों वाली सिद्ध की जा सकती हैं)। इस पर हमारा उत्तर है कि शिला आदि वस्तुएं परस्पर भिन्न स्वभावों वाली अवश्य हैं लेकिन उनके स्वभावों के परस्पर भिन्न होने का कारण यह नहीं कि वे भूतमात्र की उपज हैं।

अदृष्टाकाश-कालादिसामग्रीतः समुद्भवात् ।
तथैव लोकसंवित्तेरन्यथा तदभावतः ॥६३॥

इसका कारण यह है कि शिला आदि वस्तुओं का जन्म अदृष्ट, आकाश, काल आदि सामग्री से (जो भूतचतुष्क से बाहर है) होता है और ऐसी ही लोकप्रसिद्धि भी है; यदि ऐसा न हो (अर्थात् यदि शिला आदि वस्तुएं भूतमात्र की उपज हों) तो उनके स्वभावों के बीच परस्पर भेद संभव ही नहीं होना चाहिए ।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय है कि शिला आदि का कारण भूत-चतुष्क ही नहीं अदृष्ट आदि भी हैं ।

न चेह लौकिको मार्गः स्थितोऽस्माभिर्विचार्यते ।
किं त्वयं युज्यते क्वेति त्वन्नीतौ चोक्तवन्न सः ॥६४॥

दूसरे हम यहां लोकसिद्ध अटकलों पर विचार करने नहीं बैठे हैं । हमें विचार इस बात पर करना है कि कौन सी मान्यता किस प्रसंग में युक्तिसंगत सिद्ध होती है, और यह हम अभी दिखा कर चुके हैं कि भूतवादी की मान्यता प्रस्तुत प्रसंग में युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होती ।

मृतदेहे च चैतन्यमुपलभ्येत सर्वथा ।
देहधर्मादिभावेन तत् तद्धर्मादि नान्यथा[1] ॥६५॥

यदि चेतना शरीर का धर्म आदि होती तो वह मृत शरीर में भी सब प्रकार से पाई जानी चाहिए थी; ऐसा होने पर ही (अर्थात् मृत शरीर में सब प्रकार से पाई जाने पर ही) चेतना शरीर का धर्म आदि हो सकती है वरना कैसे भी नहीं ।

न च लावण्य-कार्कश्य-श्यामत्वैर्व्यभिचारिता ।
मृतदेहेऽपि सद्भावादध्यक्षेणैव संगतेः ॥६६॥

हमारे उक्त अनुमान को लावण्य (अर्थात् सलोनापन), कार्कश्य (अर्थात् खुरदरापन), श्यामता (अर्थात् कालापन) आदि के दृष्टान्त की सहायता से दोष-युक्त नहीं सिद्ध किया जा सकता (अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि जिस प्रकार लावण्य आदि शरीर धर्म होते हुए भी मृत शरीर में नहीं पाए जाते उसी प्रकार चेतना भी शरीरधर्म होते हुए भी मृत शरीर में नहीं पाई जाती) । वह इसलिए कि लावण्य आदि मृत शरीर में पाए जाते हैं और यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है ।

---

१ क ख दोनों का पाठ है 'तन्न धर्मादि नान्यथा' लेकिन उक्त पाठ ही मूल-पाठ प्रतीत होता है ।

न चेल्लावण्यसद्भावो न स तन्मात्रहेतुकः ।
अत एवान्यसद्भावादस्त्यात्मेति व्यवस्थितम् ॥६७॥

यदि कहा जाए कि मृत शरीर में लावण्य नहीं पाया जाता तो हमारा उत्तर होगा कि इसका अर्थ यह हुआ कि लावण्य का कारण एकमात्र शरीर नहीं; इसी बात से यह सिद्ध हो गया कि शरीरातिरिक्त किसी तत्त्व की भी सत्ता है और इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा एक सत्ताशील पदार्थ है ।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि यदि लावण्य मृत शरीर में नहीं पाया जाता तो इसका अर्थ यह हुआ कि जीवित शरीर में लावण्य के पाए जाने का कारण एक शरीरातिरिक्त तत्त्व है (और उसी तत्त्व का नाम आत्मा है) ।

न प्राणादिरसौ मानं किं तद्भावेऽपि तुल्यता ।
तदभावादभावश्चेदात्माभावे न का प्रमा ॥६८॥

पूछा जा सकता है कि यह शरीरातिरिक्त तत्त्व प्राण आदि नहीं इस मान्यता के पक्ष में क्या प्रमाण; उत्तर में हम पूछेंगे कि यह तत्त्व प्राण आदि ही है इस मान्यता के पक्ष में क्या प्रमाण ? । यदि कहा जाए कि प्राण आदि के अभाव में चेतना का अभाव पाया जाता है तो हम पूछेंगे कि आत्मा के अभाव में चेतना का अभाव पाया जाता है इस मान्यता के विरुद्ध क्या प्रमाण ? ।

तेन तद्भावभावित्वं न भूयो नलिकादिना ।
संपादितेऽप्यतत्सिद्धेः सोऽन्य एवेति चेद् न तत् ॥६९॥
वायुसामान्यसंसिद्धेस्तत्स्वभावः स नेति चेत् ।
अत्रापि न प्रमाणं वश्चैतन्योत्पत्तिरेव चेत् ॥७०॥
न तस्यामेव संदेहात् तवायं केन नेति चेत् ।
तत्तत्स्वरूपभावेन[1] तदभावः कथं नु चेत् ॥७१॥
तद्वैलक्षण्यसंवित्तेः मातृचैतन्यजे ह्ययम् ।
मृते तस्मिन्न दोषः स्यान्न न भावेऽस्य मातरि ॥७२॥
न च संस्वेदजाद्येषु मात्रभावेन तद् भवेत् ।
प्रदीपज्ञातमप्यत्र निमित्तत्वान्न बाधकम् ॥७३॥
इत्थं न तदुपादानं युज्यते तत् कथंचन ।
अन्योपादानभावे च तदेवात्मा प्रसज्यते ॥७४॥

---

१. क का पाठः तत् तत्स्वरूप° ।

कहा जा सकता है कि प्राण आदि की उपस्थिति में चेतना उपस्थित होती है यही बात उक्त मान्यता के (अर्थात् इस मान्यता के कि आत्मा के अभाव में चेतना का अभाव पाया जाता है) विरुद्ध प्रमाण है, लेकिन ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि नली आदि की सहायता से मृत शरीर में वायु उत्पन्न कर देने पर भी उसमें चेतना का उदय नहीं होता। कहा जा सकता है कि यह वायु दूसरी ही वस्तु है (अर्थात् यह वायु प्राण रूप नहीं) लेकिन ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि यह वायु वायु तो है ही। यदि कहा जाए कि यह वायु प्राण रूप वायु के स्वभाव वाली नहीं तो हमारा उत्तर होगा कि इस कथन के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं। कहा जा सकता है कि प्राणरूप वायु से चेतना की उत्पत्ति होना ही उक्त कथन की सिद्धि करता है (अर्थात् इस कथन की कि वह वायु जिससे चेतना की उत्पत्ति नहीं होती प्राणरूप वायु से भिन्न स्वभाव वाली है); इस पर हमारा उत्तर होगा कि इसी बात में तो संदेह है कि चेतना की उत्पत्ति प्राण रूप वायु से होती है। पूछा जा सकता है कि हमारा मत मानने पर (अर्थात् आत्मा से चेतना की उत्पत्ति मानने पर) यही कठिनाई क्यों नहीं उठती, इस पर हमारा उत्तर है कि आत्मा चेतना स्वरूप है। पूछा जा सकता है कि तो फिर प्राण आदि में चेतना-स्वरूपता का अभाव क्यों; इस पर हमारा उत्तर है कि चेतना की अनुभूति प्राण आदि की अनुभूति से विलक्षण प्रकार की हुआ करती है। कहा जा सकता है कि पुत्रगत चेतना का कारण मातृगत चेतना को मानने में कोई दोष नहीं; इस पर हमारा उत्तर है कि पुत्रगत चेतना का कारण मातृगत चेतना को मानने में भी कोई दोष न हो ऐसी बात नहीं। दूसरे संस्वेदज आदि प्राणियों के माता होती ही नहीं, और ऐसी दशा में संतानगत चेतना का कारण मातृगत चेतना को मानने पर कहना पड़ेगा कि संस्वेदज आदि प्राणियों में चेतना होती ही नहीं। इस संबन्ध में दीपक का (अर्थात् दीपक के प्रकाश का) दृष्टान्त भी हमारे मत का बाधक नहीं, क्योंकि एक दीपक दूसरे दीपक का निमित्तकारण हुआ करता है (उपादान कारण नहीं—जबकि मातृगत चेतना को संतानगत चेतना का उपादान कारण बतलाया जा रहा है)। इस प्रकार मातृगत चेतना पुत्रगत चेतना का उपादान कारण कैसे ही सिद्ध नहीं होती, और यदि पुत्रगत चेतना का उपादानकारण किसी अन्य वस्तु को माना जाए तो वही वस्तु आत्मा ठहरती है।

टिप्पणी—हरिभद्र हमें यह नहीं बतलाते कि मातृगत चेतना को पुत्रगत चेतना का कारण मानने में मुख्य दोष क्या है, क्योंकि वे केवल यह कहकर रह जाते

हैं कि इस मान्यता में दोष न हो ऐसी बात नहीं। अतः हमें ध्यान में रखना चाहिए कि उनकी दृष्टि में उक्त मुख्य दोष यह है कि उस दशा में माता के अनुभव की स्मृति पुत्र को होनी चाहिए। 'संस्वेदज' (शब्दार्थ 'पसीने से उत्पन्न') प्राणी वे जूं आदि हैं जिनके संबंध में कल्पना की गई है कि उनकी उत्पत्ति मातृगर्भ से न होकर पसीने से होती है।

न तथाभाविनं हेतुमन्तरेणोपजायते ।
किञ्चिन्नश्यति नैकान्ताद् यथाऽऽह व्यासमहर्षिः ॥७५॥

कोई भी वस्तु एक ऐसे कारण के अभाव में उत्पन्न नहीं होती जिसकी एक अवस्थाविशेषमात्र वह वस्तु है; और नहीं कोई वस्तु सर्वथा विनष्ट होती है। जैसा कि महर्षि व्यास का कहना है :

टिप्पणी—पहले—अर्थात् कारिका ५० की टिप्पणी में—कहा जा चुका है कि हरिभद्र के मतानुसार प्रत्येक कार्य का कोई उपादानकारण होना चाहिए—अर्थात् कोई ऐसा कारण जिसकी कि एक अवस्था विशेषमात्र यह कार्य है और क्योंकि यह उपादानकारण इस कार्य के नष्ट हो जाने पर भी अस्तित्व में बना रहता है इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि यह कार्य सर्वथा नष्ट नहीं हुआ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥७६॥

जो वस्तु सत्ताशील नहीं उसका कभी जन्म नहीं होता और जो वस्तु सत्ताशील है उसका कभी नाश नहीं होता, इन दोनों ही बातों से संबंधित नियम को तत्त्वदर्शियों ने जान लिया है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका गीता के दूसरे अध्याय का सोलहवां श्लोक है। इसमें निर्दिष्ट दोनों विरोधी वादों का विस्तृत खंडन हमें हरिभद्र की क्षणिकवाद संबंधी आगामी चर्चा में मिलेगा।

नाभावो भावमाप्नोति शशशृङ्गे तथाऽगतेः ।
भावो नाभावमेतीह दीपश्चेन्न स सर्वथा ॥७७॥

जो वस्तु सत्ताशील नहीं उसका जन्म नहीं होता, क्योंकि हम देखते हैं कि शशशृङ्ग का जन्म नहीं होता। और जो वस्तु सत्ताशील है उसका नाश नहीं होता; यदि कहा जाए कि दीपक (अर्थात् दीपक का प्रकाश) एक सत्ताशील वस्तु है फिर भी उसका नाश होता है तो हमारा उत्तर होगा कि दीपक सर्वथा विनष्ट नहीं होता।

टिप्पणी—हरिभद्र के मतानुसार जब दीपक बुझता है तो उसका प्रकाश सर्वथा नष्ट नहीं होता अपितु वह अंधकार का रूप धारण कर लेता है (जबकि अंधकार प्रकाश की ही भांति एक सत्ताशील वस्तु है)।

एवं चैतन्यवानात्मा सिद्धः सततभावतः ।
परलोक्यपि विज्ञेयो युक्तिमार्गानुसारिभिः ॥७८॥

इस प्रकार चेतना के आश्रय रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है। और क्योंकि यह आत्मा एक सदा स्थितिशील तत्त्व है, तार्किक मार्ग के अनुयायियों को चाहिए कि वे इसे एक परलोक गमनशील तत्त्व भी मानें।

टिप्पणी— हरिभद्र के मतानुसार आत्मा एक सदा—स्थितिशील तत्त्व इसलिए है कि वह चेतना का उपादानकारण है; (इसी प्रकार भौतिक वस्तुओं के चरम उपादानकारण भौतिक परमाणु हैं और वे भी कतिपय सदा स्थितिशील तत्त्व हैं।

(३) मैं-विषयक प्रत्यक्ष अनुभव से आत्मा की सिद्धि

सतोऽस्य किं घटस्येव प्रत्यक्षेण न दर्शनम् ।
अस्त्येव दर्शनं स्पष्टमहंप्रत्ययवेदनात् ॥७९॥

पूछा जा सकता है कि यदि आत्मा एक सत्ताशील पदार्थ है तो हमें उसका प्रत्यक्ष दर्शन क्यों नहीं होता – उसी प्रकार जैसे कि एक घड़े का होता है। इस पर हमारा उत्तर होगा कि आत्मा का दर्शन हमें होता ही है और वह इसलिए कि 'मैं हूँ' इस ज्ञान का स्पष्ट अनुभव हमें होता ही है।

भ्रान्तोऽहं गुरुरित्येपः सत्यमन्यस्त्वसौ मतः ।
व्यभिचारित्वतो नास्य गमकत्वमथोच्यते ॥८०॥
प्रत्यक्षस्यापि तत् त्याज्यं तत्सद्भावाविशेपतः ।
प्रत्यक्षाभासमन्यच्चेद् व्यभिचारि न साधु तत् ॥८१॥
अहंप्रत्ययपक्षेऽपि ननु सर्वमिदं समम् ।
अतस्तद्वदसौ मुख्यः सम्यक् प्रत्यक्षमिष्यताम् ॥८२॥

कहा जासकता है कि 'मैं भारी हूँ' यह ज्ञान भ्रान्त है (और इसीलिए 'मैं हूँ' यह ज्ञान भी भ्रान्त होना चाहिये), इसपर हमारा उत्तर है कि 'मैं' भारी हूँ' यह ज्ञान भ्रान्त अवश्य है लेकिन 'मैं हूँ' यह ज्ञान दूसरे ही प्रकार का है। और यदि 'मैं'-संबंधी एक ज्ञान के भ्रान्त होने पर 'मै'-संबंधी सभी ज्ञान भ्रान्त मान

१. ख का पाठ : युक्तमार्गा°

लिए जाएंगे तब तो सभी प्रत्यक्षज्ञानों को (अर्थात् बाह्यार्थविषयक प्रत्यक्ष ज्ञानों को भी) भ्रान्त मानना पड़ेगा और वह इसलिए कि कुछ प्रत्यक्षज्ञान भ्रान्त होते ही हैं। युक्ति दी जा सकती है कि प्रत्यक्षाभास (अर्थात् भ्रान्त प्रत्यक्षज्ञान) अन्य ही कुछ हुआ करता है और वह इसलिए कि प्रत्यक्षाभास एक अ-यथार्थ ज्ञान होता है एक प्रामाणिक ज्ञान नहीं, इस पर हमारा उत्तर होगा कि यह सब बात 'मैं'-संबंधी ज्ञान पर भी लागू होती है (अर्थात् 'मैं'-संबंधी ज्ञान भी भ्रान्त तथा अ-भ्रान्त दो प्रकार का होता है)। अतः अन्य अ-भ्रान्त प्रत्यक्षज्ञानों की भांति 'मैं'-संबंधी अ-भ्रान्त ज्ञान को भी प्रामाणिक प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि में रखना चाहिए।

गुर्वी मे तनुरित्यादौ भेदप्रत्ययदर्शनात् ।
भ्रान्तताऽभिमतस्यैव सा युक्ता नेतरस्य तु ॥८३॥

'मेरा शरीर भारी है' इस तथा इस प्रकार की ज्ञानानुभूति के समय हमें 'मैं' तथा शरीर के बीच भेद का ज्ञान होता है, और इस कारण से 'मैं भारी हूँ' इस ज्ञान को तो भ्रान्त मानना युक्तिसंगत है लेकिन 'मैं हूं' इस ज्ञान को भ्रान्त मानना युक्तिसंगत नहीं।

आत्मनाऽऽत्मग्रहोऽप्यस्य तथाऽनुभवसिद्धितः ।
तस्यैव तत्स्वभावत्वात् न तु युक्त्या न युज्यते ॥८४॥

और आत्मा का अपने ही द्वारा अपने को जानना भी युक्ति हीन नहीं, क्योंकि यह बात अनुभवसिद्ध है जबकि अपने द्वारा अपने को जानना आत्मा का ही स्वभाव है।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि जिस वस्तु को हम 'अपने द्वारा अपने को जानने वाली' रूप में अनुभव करते हैं वही वस्तु आत्मा है।

न च बुद्धिविशेपोऽयमहंकारः प्रकल्प्यते ।
दानादिबुद्धिकालेऽपि तथाऽहंकारवेदनात् ॥८५॥

'मैं हूँ' इस ज्ञान को एक कल्पित ज्ञानविशेष भी नहीं कहा जा सकता (जैसे कि 'यह नीली वस्तु है' इस ज्ञान को एक कल्पित ज्ञानविशेष कदाचित् कहा भी जा सके) और वह इसलिए कि 'मैं दे रहा हूँ' इस तथा इस प्रकार की ज्ञानानुभूति के समय भी ('दे रहा हूँ' इस ज्ञानानुभूति के साथ ही साथ) 'मैं हूँ' यह ज्ञानानुभूति होती ही है।

१. ख का पाठ: °स्यैवास्य

टिप्पणी- हरिभद्र का आशय यह प्रतीत होता है कि कल्पित ज्ञान का विषय एक समय में एक ही वस्तु हो सकती है एकाधिक वस्तुएं नहीं; ऐसी दशा में जो दार्शनिक ज्ञानमात्र को कल्पित ज्ञान घोषित करते हैं उन्हें भी 'मैं दे रहा हूँ' इस ज्ञान के दो विषयों में से–अर्थात् 'मैं' तथा 'दे रहा हूँ' में से–एक को ही–अर्थात् 'दे रहा हूँ' को ही–कल्पित ज्ञान का विषय मानकर चलना चाहिए।

आत्मनाऽऽत्मग्रहे तस्य तत्स्वभावत्वयोगतः ।
सदैवाग्रहणं ह्येवं विज्ञेयं कर्मदोषतः ॥८६॥

इस प्रकार जब यह सिद्ध हो गया कि अपने द्वारा अपने को जानना आत्मा का स्वभाव ही है तब यह भी समझ लेना चाहिए कि यदि एक आत्मा अपने को सब समय नहीं जानती तो इसका कारण उस आत्मा का कर्म-दोष है।

अतः प्रत्यक्षसंसिद्धः सर्वप्राणभृतामयम् ।
स्वयंज्योतिः सदैवात्मा तथा वेदेऽपि पठ्यते ॥८७॥

ऐसी दशा में यह सर्वदा स्वयंप्रकाश आत्मा प्रत्येक प्राणी की प्रत्यक्षानुभूति का विषय सिद्ध होती है; यही बात वेदों में भी कही गई है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में निर्दिष्ट वेद-वचनों के उदाहरण रूप में टीकाकारों ने 'आत्मा स्वयंज्योतिरेवायं पुरुषः' इस उपनिषद्-वाक्य को उद्धृत किया है।

(४) आत्मा तथा कर्म के सम्बन्ध में मतमतान्तर

अत्रापि वर्णयन्त्येके सौगताः कृतबुद्धयः ।
क्लिष्टं मनोऽस्ति यन्नित्यं तद्यथोक्तात्मलक्षणम् ॥८८॥

इस संबंध में भी कुछ धीमान् बौद्धों का कहना है कि अभी ऊपर जिस आत्मा का लक्षण किया गया है वह वस्तुतः क्लेश युक्त नित्य मन ही है।

टिप्पणी—बौद्ध परम्परा में चेतनतत्त्व को 'मन' नाम से जाना गया है। सामान्यतः मन को क्षणिक कहा जाता है और वह इस आधार पर कि एक प्राणी की प्रत्येक मानसिक अवस्था क्षणिक हुआ करती है। लेकिन कुछ बौद्ध दार्शनिकों ने 'आलयविज्ञान' नाम से एक ऐसे चेतनतत्त्व की कल्पना भी की है जो किसी रूप में सदास्थायी है। इस 'आलयविज्ञान' की कल्पना को ही ध्यान में रखकर हरिभद्र ने बौद्ध से प्रस्तुत बात कहलाई है।

यदि नित्यं तदाऽऽत्मैव संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ।
अथानित्यं ततश्चेदं न यथोक्तात्मलक्षणम् ॥८९॥

टिप्पणी– प्रस्तुत कारिका से कर्म को आत्मा की शक्ति मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन प्रारम्भ होता है।

तत्क्रियायोगतः सा चेत् तदपुष्टौ न युज्यते।
तदन्ययोगाभावे च पुष्टिरस्य कथं भवेत् ॥९८॥

कहा जा सकता है कि एक आत्मा में उक्त शक्ति का जन्म इस आत्मा की किसी क्रिया (अर्थात् उसके किसी जीवन-व्यापार) के फलस्वरूप होगा, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि इस आत्मा में किसी नूतन विशेषता के आए बिना उक्त क्रिया-जनित शक्ति का जन्म संभव नहीं और किसी विजातीय तत्त्व का संबन्ध हुए बिना इस आत्मा में कोई नूतन विशेषता आएगी कैसे?

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि किसी आत्मा का कोई वर्त्तमान जीवन-व्यापार इस आत्मा में किसी नूतन विशेषता को लाए बिना उसमें किसी ऐसी शक्ति का समावेश नहीं कर सकता जो आगामी काल में इस आत्मा को किसी विशेष प्रकार का जीवन-अनुभव करा सके; साथ ही उनकी समझ है कि एक आत्मा में कोई नूतन विशेषता तब तक नहीं आ सकती जब तक उसका किसी विजातीय तत्त्व के साथ संयोग न हो। इस सम्बन्ध में यशोविजयजी का दृष्टान्त है कि मिट्टी के गीला–चिकना हुए बिना उसमें घड़ा बनाने की शक्ति नहीं आ सकती जबकि मिट्टी के गीला–चिकना होने का कारण इस मिट्टी का किन्हीं विशेष प्रकार के नए परमाणुओं के साथ होने वाला संयोग है।

अस्त्येव सा सदा किन्तु क्रियया व्यज्यते परम्।
आत्ममात्रस्थितायाा न तस्या व्यक्तिः कदाचन ॥९९॥

कहा जा सकता है कि उक्त शक्ति एक आत्मा में रहती तो सदा ही है लेकिन इस आत्मा की क्रिया के फलस्वरूप वह अभिव्यक्त भर होती है; लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि यदि यह शक्ति एक शुद्ध आत्मा में रहती है (अर्थात् एक ऐसी आत्मा में जो किसी विजातीय तत्त्व द्वारा प्रतिहत-शक्ति नहीं) तो उसके अभिव्यक्त होने का कभी प्रश्न ही नहीं उठेगा (और वह इसलिए कि उस दशा में इस आत्मा की प्रत्येक शक्ति सदा प्रकट बनी रहनी चाहिए)।

तदन्यावरणाभावाद् भावे वाऽस्यैव कर्मता ।
तन्निराकरणाद् व्यक्तिरिति तद्भेदसंस्थितिः ॥१००॥

यदि कहा जाए कि उक्त शक्ति की एक आत्मा में अभिव्यक्ति किसी विजातीय तत्त्व विशेष का आवरण हट जाने के फलस्वरूप होती है तो हमारा उत्तर होगा कि आत्मा का आवरणभूत यही विजातीय तत्त्व तो कर्म है; और यदि कर्म के हटने के फलस्वरूप आत्मा में उक्त शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तो यह सिद्ध हो ही गया कि कर्म आत्मा से विजातीय कोई स्वतंत्र तत्त्व है।

पापं तद्भिन्नमेवास्तु क्रियान्तरनिबन्धनम् ।
एवमिष्टक्रियाजन्यं पुण्यं किमिति नेक्ष्यते[1] ॥१०१॥

कहा जा सकता है कि वैध से अतिरिक्त (अर्थात् निषिद्ध) आचरण के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले अशुभ कर्म को आत्मा से भिन्न मान लेना चाहिए, लेकिन इस पर हमारा पूछना होगा कि वैध आचरण के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले शुभ कर्म को भी आत्मा से भिन्न क्यों न मान लिया जाए।

वासनाऽप्यन्यसंबन्धं विना नैवोपपद्यते ।
पुष्पादिगन्धवैकल्ये तिलादौ नेक्ष्यते[1] यतः ॥१०२॥

एक आत्मा में वासना का जन्म भी इस आत्मा का किसी विजतीय तत्त्व से संबंध माने बिना युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि हम देखते हैं कि (तेल बनाने के लिए काम में लाए गए) तिल आदि भी पुष्प आदि की गंध का संबंध हुए बिना वासना युक्त (=वास-युक्त=गंध युक्त) नहीं बनते।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका से कर्म को आत्मा की वासना (=संस्कार) मानने वाले सिद्धान्त का खंडन प्रारंभ होता है।

बोधमात्रातिरिक्तं तद् वासकं किञ्चिदिष्यताम् ।
मुख्यं तदेव वः कर्म न युक्ता वासनाऽन्यथा ॥१०३॥

अतः प्रस्तुत वादी को चाहिए कि वह ज्ञानमात्र से अतिरिक्त (अर्थात् चेतन-तत्त्व से अतिरिक्त) किसी दूसरे ऐसे वास्तविक तत्त्व का भी अस्तित्व स्वीकार करे जो ज्ञान को वासना-युक्त बना सके; यही (चेतनातिरिक्त) तत्त्व (हमारा अभीष्ट) कर्म है और इसके बिना चेतन-तत्त्व में वासना का जन्म संभव न होगा।

---

१. ख का पाठ : नेष्यते

बोधमात्रस्य तद्भावे नास्ति ज्ञानमवासितम् ।
ततोऽमुक्तिः[1] सदैव स्याद् वैशिष्ट्यं केवलस्य न ॥१०४॥

यदि ज्ञानमात्र को वासना युक्त मान लिया जाए तो वासना-रहित ज्ञान कोई रहेगा ही नहीं और इसका अर्थ होगा कि किसी को कभी मोक्ष-प्राप्ति होगी ही नहीं। और जब ज्ञान को ही एकमात्र वास्तविक तत्त्व माना जा रहा है तब यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं कि कुछ ज्ञानविशेष वासना-युक्त हुआ करते हैं (तथा अन्य ज्ञानविशेष वासना विनिर्मुक्त)।

टिप्पणी—हरिभद्र अपने प्रस्तुत प्रतिद्वन्द्वी के संबंध में कह रहे हैं कि वह ज्ञान को ही वास्तविक तत्त्व मानता है लेकिन इसका अनिवार्य अर्थ यह नहीं कि यह प्रतिद्वन्द्वी विज्ञानाद्वैतवादी है, हमारा काम यह मानने से भी चल जाएगा कि यह प्रतिद्वन्द्वी चेतन-तत्त्व का किसी चेतनेतर तत्त्व के साथ संयोग संभव नहीं मानता।

एवं शक्त्यादिपक्षोऽयं घटते नोपपत्तितः ।
बन्धान्न्यूनातिरिक्तत्वे तद्भावानुपपत्तितः ॥१०५॥

इस प्रकार शक्ति आदि के सिद्धान्त भी युक्तियुक्त नहीं ठहरते; क्योंकि ये शक्ति आदि या तो बंध (अर्थात् पुनर्जन्मचक्र) की दशा में भी वर्त्तमान नहीं रहती या वे बंध की दशा के बिना भी वर्त्तमान रहती हैं, और दोनों ही स्थितियों में उनकी कल्पना की सहायता से बंध का स्वरूप-निरूपण संभव नहीं।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि यदि शक्ति आदि बंध का कारण सचमुच हैं तो जहां जहां ये शक्ति आदि उपस्थित हैं वहां वहां बंध उपस्थित होना चाहिए तथा जहां जहां वे अनुपस्थित हैं वहां वहां बंध अनुपस्थित होना चाहिए, लेकिन होता यह है कि कहीं कहीं इन शक्ति आदि की उपस्थिति में भी बंध उपस्थित नहीं रहता तथा कहीं कहीं इनकी अनुपस्थिति में भी बंध उपस्थित रहता है।

तस्मात् तदात्मनो भिन्नं सच्चित्रं चात्मयोगि च ।
अदृष्टमवगन्तव्यं तस्य शक्त्यादिसाधकम् ॥१०६॥

अतः आत्मा में शक्ति आदि की संभावना सिद्ध करने वाले तत्त्व के रूप में अदृष्ट की सत्ता स्वीकार की ही जानी चाहिए—उस अदृष्ट की जो आत्मा से भिन्न है, वास्तविक है, अनेक प्रकार का है, तथा आत्मा के साथ संबन्ध में आने वाला है।

१. ख का पाठः ततो मुक्ति

अदृष्टं कर्म संस्काराः पुण्यापुण्ये शुभाशुभे ।
धर्माधर्मौ तथा पाशः पर्यायास्तस्य कीर्त्तिताः ॥१०७॥

'अदृष्ट' 'कर्म' 'संस्कार' 'पुण्य-अपुण्य' 'शुभ-अशुभ' 'धर्म-अधर्म' 'पाश' वे सभी शब्द परस्पर पर्यायवाची हैं ।

टिप्पणी—टीकाकारों की सूचनानुसार 'अदृष्ट' शब्द का प्रयोग वैशेषिक करते हैं, 'कर्म' शब्द का जैन, 'संस्कारः' शब्द का बौद्ध, 'पुण्य-अपुण्य' इस शब्द-द्वन्द्व का वेदवादी, 'शुभ-अशुभ' इस शब्द-द्वन्द्व का गणक; 'धर्म-अधर्म' इस शब्द-द्वन्द्व का सांख्य, तथा 'पाश' शब्द का शैव ।

हेतवोऽस्य समाख्याताः पूर्वं हिंसाऽनृतादयः ।
तद्वान् संयुज्यते तेन विचित्रफलदायिना ॥१०८॥

इस अदृष्ट का कारण हैं हिंसा, असत्य आदि जिन्हें हम पहले ही गिना चुके; इन्हीं हिंसा आदि से युक्त व्यक्ति को अदृष्ट की प्राप्ति होती है और यह अदृष्ट उसे विभिन्न फलों की प्राप्ति कराता है ।

नैवं दृष्टेष्टबाधा यत् सिद्धिश्चास्यानिवारिता ।
तदेनमेव विद्वांसस्तत्त्ववादं प्रचक्षते ॥१०९॥

उक्त प्रकार से आत्मा तथा अदृष्ट की सत्ता स्वीकार करने पर न प्रत्यक्ष के साथ विरोध आता है न अनुमान के साथ और उनकी सत्ता-सिद्धि युक्तिसंगत है ही; अतः विद्वानों ने आत्मा तथा अदृष्ट के सिद्धान्त को ही एक तात्त्विक वाद घोषित किया है ।

(५) भूतचैतन्यवाद–खंडन का उपसंहार

लोकायतमतं प्राज्ञैर्ज्ञेयं पापौघकारणम् ।
इत्थं तत्त्वविलोमं यत् तन्न ज्ञानविवर्धनम् ॥११०॥

जहाँ तक लोकायत सिद्धान्त का प्रश्न है बुद्धिमानों को चाहिए कि वे उसे पाप-पुंज का कारण समझें । और क्योंकि वह पूर्वोक्त कारणों से वस्तुस्थिति के प्रतिकूल जाता है वह ज्ञान का बढ़ाने वाला नहीं ।

इन्द्रप्रतारणायेदं चक्रे किल बृहस्पतिः ।
अदोऽपि युक्तिशून्यं यन्नेत्थमिन्द्रः प्रतार्यते ॥१११॥

किसी का कहना है कि लोकायत सिद्धान्त का प्रतिपादन बृहस्पति ने इन्द्र को धोखे में डालने के उद्देश्य से किया था, लेकिन ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि इन्द्र को इस प्रकार से धोखे में नहीं डाला जा सकता ।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र का इंगित ब्राह्मण-परम्परा में प्रचलित एक पौराणिक आख्यान की ओर है; उनकी अपनी समझ है कि इस आख्यान में वर्णित घटना कोई ऐतिहासिक सत्य नहीं।

तस्माद् दुष्टाशयकरं क्लिष्टसत्त्वविचिन्तितम्।
पापश्रुतं सदा धीरैर्वर्ज्यं नास्तिकदर्शनम् ॥११२॥

अतः धीर व्यक्तियों को चाहिए कि वे नास्तिक दर्शन से दूर रहे—उस नास्तिक दर्शन से जो दुष्ट बुद्धि को जन्म देने वाला है, जिसका प्रतिपादन आचार-शून्य व्यक्तियों ने किया है, जिसको सुनने से भी पाप होता है।

दूसरा स्तबक

(१) पुण्य, पाप तथा मोक्ष से संबंधित कुछ प्रश्न

हिंसादिभ्योऽशुभं कर्म तदन्येभ्यश्च तच्छुभम् ।
जायते नियमो मानात् कुतोऽयमिति नापरे ॥११३॥

हिंसा आदि (पापाचरण) से अशुभ कर्मों का तथा अहिंसा आदि (धर्माचरण) से शुभ कर्मों का बंध होता है इस नियम का ज्ञान कौन सा प्रमाण कराता है ऐसा कुछ वादियों का प्रश्न है ।

आगमाख्यात् तदन्ये तु तच्च दृष्टाद्यबाधितम् ।
सर्वार्थविषयं नित्यं व्यक्तार्थं परमात्मना ॥११४॥

इस पर कुछ दूसरे वादियों का उत्तर है कि उक्त नियम का ज्ञान कराने वाला प्रमाण शास्त्र है और वह शास्त्र ऐसा है जिसका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के साथ विरोध नहीं, सभी वस्तुएँ जिसका विषयभूत हैं, जो नित्य है, तथा जिसका प्रतिपादन परमात्मा ने किया ।

टिप्पणी—'परमात्मा' शब्द के सम्बन्ध में १।१ की टिप्पणी द्रष्टव्य है ।

चन्द्रसूर्योपरागादेस्ततः संवाददर्शनात् ।
तस्याप्रत्यक्षेऽपि पापादौ न प्रामाण्यं न युज्यते ॥११५॥

क्योंकि यह शास्त्र चन्द्र ग्रहण, सूर्य-ग्रहण आदि के सम्बन्ध में ऐसा ज्ञान करा पाता है जो परीक्षा करने पर खरा उतरता है इसलिए यह सोचना असंगत नहीं कि वह प्रत्यक्ष-प्रमाण के अविषयभूत पाप आदि के सम्बन्ध में भी प्रामाणिक ज्ञान करा पाएगा ।

यदि नाम क्वचिद् दृष्टः संवादोऽन्यत्र वस्तुनि ।
तद्भावस्तस्य तत्त्वं वा कथं समवसीयते? ॥११६॥

पूछा जा सकता है कि उक्त शास्त्र को किसी एक वस्तु के सम्बन्ध में परीक्षा-क्षम ज्ञान कराने वाला पाने भर से यह कैसे निश्चय कर लिया जाए कि वह अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में भी ऐसा ही ज्ञान करा पाएगा तथा प्रमाणभूत सिद्ध होगा । इसके उत्तर में हमारा कहना है :

आगमैकत्वतस्तच्च वाक्यादेस्तुल्यतादिना ।
सुवृद्धसंप्रदायेन तथा पापक्षयेण च ॥११७॥

उक्त शास्त्र को एक वस्तुविशेष के सम्बन्ध परीक्षा-क्षम ज्ञान कराने वाला पाने पर उसे एक अन्य वस्तु के सम्बन्ध में भी ऐसा ही ज्ञान कराने वाला इसलिए मान लिया जाना चाहिए कि ये दोनों वस्तुएँ एक ही शास्त्र का विषयभूत हैं और वे दोनों एक ही शास्त्र की विषयभूत इसलिए हैं कि उन दोनों का वर्णन करने वाले वाक्य आदि एक सी विशेषताओं वाले हैं। दूसरे, उक्त बात इसलिए भी मान ली जानी चाहिए कि प्रस्तुत शास्त्र सुयोग्य गुरुपरंपरा द्वारा अध्ययन का विषय बनता चला आया है और इसलिए भी कि क्षीण-पाप व्यक्तियों को यह बात निश्चित रूप से सत्य प्रतीत होती है।

टिप्पणी—देखना सरल है कि किसी भी धर्म-सम्प्रदाय का एक अनुयायी अपने पूज्य ग्रंथों को प्रस्तुत विशेषताओं से सम्पन्न मान सकता है तथा आग्रह कर सकता है कि दूसरे सम्प्रदायों के पूज्य ग्रन्थ इन विशेषताओं से शून्य हैं।

अन्यथा वस्तुतत्त्वस्य परीक्षैव न युज्यते ।
आशङ्का सर्वगा यस्मात् छद्मस्थस्योपजायते ॥११८॥

यदि ऐसा सब कुछ न हो तब तो वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में परीक्षा का किया जाना ही उचित न ठहरता और वह इसलिए कि एक साधारण व्यक्ति का मन प्रत्येक वस्तु के स्वरूप के सम्बन्ध में शंकाशील हुआ करता है।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि कोई साधारण व्यक्ति यदि वस्तु-जगत् के-जिसमें इन्द्रिय गोचर तथा इन्द्रियातीत दोनों प्रकार की वस्तुओं का समावेश है—यथार्थ स्वरूप निरूपण की दिशा में प्रवृत्त होता है-तथा हो सकता है—तो अपने पूज्य शास्त्रीय ग्रन्थों को आधार बनाकर ही।

अपरीक्षाऽपि नो युक्ता गुणदोषाविवेकतः ।
महत् संकटमायातमाशङ्के न्यायवादिनः ॥११९॥

और न ही वस्तुओं के स्वरूप को परीक्षा किए बिना छोड़ देना उचित होगा; क्योंकि हमें भय है कि वस्तुओं के गुण-दोष का यथार्थ ज्ञान न होने की दशा में एक तार्किक व्यक्ति अपने को महा कठिन स्थिति में पाएगा।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि अपने सभी क्रिया-कलाप में हम या तो गुणवान् वस्तुओं को प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रवृत्त होते हैं या दोषवान् वस्तुओं से बचने के उद्देश्य से, लेकिन यदि हमें यही पता न हो कि कौन सी वस्तु गुणवान् है तथा कौन सी दोषवान् तो हम किसी प्रकार के क्रिया-कलाप में प्रवृत्त ही नहीं हो सकते।

तस्माद् यथोदितात् सम्यगागमाख्यात् प्रमाणतः ।
हिंसादिभ्योऽशुभादीनि नियमोऽयं व्यवस्थितः ॥१२०॥

अतः उक्त स्वरूप वाले तथा 'उत्तम शास्त्र' नाम वाले प्रमाण से हमें इस नियम का निश्चित ज्ञान होता है कि हिंसा आदि से अशुभ आदि कर्मों का बंध होता है ।

क्लिष्टाद् हिंसाद्यनुष्ठानात् प्राप्तिः क्लिष्टस्य कर्मणः ।
यथाऽपथ्यभुजो व्याधेरक्लिष्टस्य विपर्ययात् ॥१२१॥

हिंसा आदि सदोष आचरण से एक व्यक्ति को सदोष (अर्थात् अशुभ) कर्म की प्राप्ति होती है— उसी प्रकार जैसे अपथ्य भोजन से रोग की; और इससे विपरीत (अर्थात् निर्दोष) आचरण से उसे निर्दोष (अर्थात् शुभ) कर्म की प्राप्ति होती है ।

स्वभाव एष जीवस्य यत् तथापरिणामभाक् ।
बध्यते पुण्य-पापाभ्यां माध्यस्थ्यात् तु विमुच्यते ॥१२२॥

यह एक जीव का स्वभाव ही है कि वह उन उन (सदोष-निर्दोष) अवस्थाओं को प्राप्त करने के फलस्वरूप शुभ अशुभ कर्म-बंधन में बंधता है तथा अपने में माध्यस्थ्य भावना विकसित करने के फलस्वरूप कर्म बंधन से मुक्त होता है ।

टिप्पणी—'अपने में माध्यस्थ्य भावना विकसित करने' का अर्थ है प्रत्येक काम को फल-कामना से रहित होकर करना ।

सुदूरमपि गत्वेह विहितासूपपत्तिषु ।
कः स्वभावागमावन्ते शरणं न प्रपद्यते ॥१२३॥

सचमुच, एक के पश्चात् दूसरा अनुमान देते देते बहुत दूर चला जाने वाला भी ऐसा कौन सा वादी है जो अन्त में जाकर 'स्वभाव' अथवा 'शास्त्र' का आश्रय नहीं लेता ?

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि प्रत्येक तार्किक अपनी तर्क-सरणि का विस्तार करते करते कहीं न कहीं पहुँचकर यह कहने को अवश्य बाध्य होता है कि 'यह बात ऐसी है क्योंकि वस्तुओं का ऐसा स्वभाव ही है' अथवा यह कि 'यह बात ऐसी है कि क्योंकि वह अमुक प्रामाणिक ग्रंथ में कही गई है ।'

प्रतिपक्षस्वभावेन प्रतिपक्षागमेन च ।
बाधितत्वात् कथं ह्येतौ शरणं युक्तिवादिनाम् ॥१२४॥

पूछा जा सकता है कि जब 'स्वभाव' सम्बन्धी बात का खंडन दूसरे 'स्वभाव' सम्बन्धी बात से हो जाता है तथा एक शास्त्र में कही गई बात का खंडन दूसरे शास्त्र में कही गई बात से हो जाता है तब तार्किक व्यक्तियों के लिए 'स्वभाव' तथा 'शास्त्र' का आश्रय लेना कहाँ तक उचित है। इस पर हमारा उत्तर है :

प्रतीत्या बाध्यते यो यत्र् स्वभावो न स युज्यते ।
वस्तुनः कल्प्यमानोऽपि वह्न्यादेः शीततादिवत् ॥१२५॥

एक वस्तु के विषय में कही गई जिस 'स्वभाव' सम्बन्धी बात का खंडन प्रत्यक्ष द्वारा हो जाए वह स्वभाव उस वस्तु का हो नहीं सकता, चाहे वैसी कल्पना कोई कितनी ही क्यों न करे; उदाहरण के लिए, शीतता आदि अग्नि आदि का स्वभाव हो नहीं सकते।

वह्नेः शीतत्वमस्त्येव तत्कार्यं किं न दृश्यते ।
दृश्यते हि हिमासन्ने कथमित्थं स्वभावतः ॥१२६॥
हिमस्यापि स्वभावोऽयं नियमाद् वह्निसंनिधौ ।
करोति दाहमित्येवं वह्न्यादेः शीतता न किम् ॥१२७॥

[इस पर कोई कु-तार्किक निम्नलिखित आपत्ति उठा सकता है:] "अग्नि में शीतता है ही, और यदि कोई पूछे कि उस शीतता से जनित किसी फल का प्रत्यक्ष हमें क्यों नहीं होता तो हम उत्तर देंगे कि बर्फ निकट रहने पर अग्नि शीतता-जनित फलों का प्रत्यक्ष कराती ही है; यदि कोई पूछे कि ऐसा क्यों होता है तो हम उत्तर देंगे 'स्वभाववश'। इसी प्रकार बर्फ का भी यह स्वभाव ही है कि वह अग्नि निकट रहने पर जलन अवश्य ही उत्पन्न करता है। ऐसी दशा में यह कहना कहाँ तक उचित है कि अग्नि आदि में शीतता नहीं रहती ?" उत्तर में हम कहेंगे :

व्यवस्थाऽभावतो ह्येवं या त्वद्बुद्धिरिहेदृशी ।
सा लोष्टादस्य यत् कार्यं तत् त्वत्तस्तत्स्वभावतः ॥१२८॥
एवं सुबुद्धिशून्यत्वं भवतोऽपि प्रसज्यते ।
अस्तु चेत् को विवादो नो बुद्धिशून्येन सर्वथा ॥१२९॥

यदि वस्तुओं के स्वभाव के सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित नियम नहीं तब हम निम्नलिखित तर्क भी दे सकते हैं। "तुम्हारी (अर्थात् प्रस्तुत वादी की) जो ऐसी (अज्ञान भरी) बुद्धि है वह मिट्टी के ढेले के कारण है जबकि मिट्टी का ढेला जो (चोट मारना आदि) काम करता है वह तुम्हारे कारण है, और यह सब कुछ है

स्वभाववश। ऐसी दशा में आप भी (अर्थात् प्रस्तुत वादी भी) सुबुद्धि से शून्य सिद्ध होते हैं (उसी प्रकार जैसे मिट्टी का ढेला)। कहा जा सकता है कि वस्तुस्थिति यदि ऐसी ही है तो रहे, लेकिन तब हम पूछेंगे कि एक सर्वथा बुद्धिशून्य व्यक्ति के साथ वाद-विवाद करना हमारे लिए कैसे सम्भव होगा।"

अन्यस्त्वाहेह सिद्धेऽपि हिंसादिभ्योऽशुभादिके।
शुभादेरेव सौख्यादि केन मानेन गम्यते ॥१३०॥

इस सम्बन्ध में किसी दूसरे वादी का पूछना है कि यह बात सिद्ध होने पर भी कि हिंसा आदि (पापाचरण) से अशुभ कर्म-बंध आदि होता है यह बात किस प्रमाण से जानी जाती है कि सुख आदि का कारण शुभ कर्म-बंध आदि ही हैं (अशुभ कर्म-बन्ध आदि नहीं)।

अत्रापि ब्रुवते केचित् सर्वथा युक्तिवादिनः।
प्रतीतिगर्भया युक्त्या किलैतदवसीयते ॥१३१॥

सर्वथा तर्क का आश्रय लेने वाले कुछ वादियों का इस सम्बन्ध में भी कहना है कि उक्त बात की सिद्धि प्रत्यक्ष-गर्भित अनुमान से होती है।

तथाहुर्नाशुभात् सौख्यं तद्बाहुल्यप्रसंगतः।
बहवः पापकर्माणो विरलाः शुभकारिणः ॥१३२॥
न चैतद् दृश्यते लोके दुःखबाहुल्यदर्शनात्।
शुभात् सौख्यं ततः सिद्धमतोऽन्यच्चाप्यतोऽन्यतः ॥१३३॥

उनका तर्क है: "सुख का कारण अशुभ कर्म-बन्ध नहीं, क्योंकि तब तो संसार में सुख का बोलबाला होना चाहिए और वह इसलिए कि संसार में पापाचरण करने वाले व्यक्तियों की संख्या बड़ी है तथा धर्माचरण करने वालों की थोड़ी। लेकिन संसार में ऐसा तो देखा नहीं जाता (अर्थात् संसार में सुख का बोलबाला तो देखा नहीं जाता) और वह इसलिए कि यहाँ दुःख का बोलबाला है। अतः यह बात सिद्ध हो गई कि सुखका कारण शुभ कर्म बंध है तथा दुःख का कारण अशुभ कर्म-बंध।"

टिप्पणी—प्रस्तुत वादी की समझ है कि धर्माचरण का फल शुभ कर्म-बंध है तथा शुभ कर्म बंध का फल सुख, इसी प्रकार उसकी समझ है कि पापाचरण का फल अशुभ कर्म-बन्ध है तथा अशुभ कर्म-बन्ध का फल दुःख। अतएव जब इससे पूछा जाता है कि सुख शुभ कर्म-बन्ध का ही फल क्यों अशुभ कर्म-

बन्ध का फल क्यों नहीं तब वह उत्तर देता है : 'अशुभ कर्म-बन्ध पापाचरण का फल है जबकि संसार में पापाचरण का बोलबाला है, और ऐसी दशा में यदि सुख को अशुभ कर्म बन्ध का फल माना जाएगा तो संसार में सुख का बोलबाला होना चाहिए (जबकि वस्तुतः संसार में दुःख का बोलबाला है)" ।

अन्ये पुनरिदं श्राद्धा ब्रुवते आगमेन वै ।
शुभादेरेव सौख्यादि गम्यते नान्यतः क्वचित् ॥१३४॥

कुछ दूसरे वादियों का, जो शास्त्र श्रद्धालु हैं, कहना है कि सुख आदि का कारण शुभ कार्य-बन्ध आदि ही हैं यह बात शास्त्र द्वारा ही जानी जाती है किसी दूसरे प्रमाण द्वारा नहीं।

अतीन्द्रियेषु भावेषु प्रायः एवंविधेषु यत् ।
छद्मस्थस्याविसंवादि मानमत्र न विद्यते ॥१३५॥

क्योंकि इस प्रकार की अतीन्द्रिय बातों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से अभ्रान्त ज्ञान प्राप्त कराने वाला प्रायः कोई दूसरा प्रमाण एक साधारण व्यक्ति को उपलब्ध नहीं ।

यच्चोक्तं दुःखबाहुल्यदर्शनं तन्न साधकम् ।
क्वचित् तथोपलम्भेऽपि सर्वत्रादर्शनादिति ॥१३६॥

और जो यह कहा गया कि इस संसार में दुःख का बोलबाला होने के कारण सुख का कारण अशुभ कर्म-बन्ध नहीं वह अनुमान निर्दोष नहीं, क्योंकि यद्यपि हम इस संसार में कहीं कहीं दुःख का बोलबाला पाते हैं लेकिन हमें यह तो नहीं दीखता कि इस संसार में सर्वत्र दुःख का बोलबाला है (और वह इसलिए कि समूचे संसार का देख सकना ही हमारे लिए संभव नहीं) ।

सर्वत्र दर्शनं यस्य तद्वाक्यात् किं न साधनम् ।
साधनं तद् भवत्येवमागमात् तु न भिद्यते ॥१३७॥

पूछा जा सकता है कि जिस व्यक्ति को संसार की सभी वस्तुएँ दिखाई पड़ती हों उसके वचन के आधार पर हम उक्त बात क्यों नहीं सिद्ध कर सकते, इसके उत्तर में हमारा कहना है कि ऐसे व्यक्ति के वचन के आधार पर उक्त बात सिद्ध तो कि जा सकती है लेकिन वह वचन शास्त्र से भिन्न कोई वस्तु न होगा ।

अशुभादप्यनुष्ठानात् सौख्यप्राप्तिश्च या क्वचित् ।
फलं विपाकविरसा सा तथाविधकर्मणः ॥१३८॥

और जो कहीं कहीं पापाचरण के फलस्वरूप सुख की प्राप्ति होती पाई जाती है उसका भी अन्तिम परिणाम दुःख रूप ही होता है तथा वह सुख किसी विशेष प्रकार के आचरण का फल है (अर्थात् वह किसी ऐसे पूर्वकृत धर्माचरण का फल है जो किसी पापाचरण के माध्यम से ही अपना फल देता है)।

ब्रह्महत्यानिदेशानुष्ठानाद् ग्रामादिलाभवत् ।
न पुनस्तत एवैतदागमादेव गम्यते ॥१३९॥

यह स्थिति वैसी ही है जैसी उस व्यक्ति के सम्मुख उपस्थित होती है जो किसी दूसरे व्यक्ति के आदेशानुसार ब्रह्महत्या करे तथा पुरस्कार में गांव आदि की प्राप्ति करे; (यह पुरस्कार ब्रह्महत्या करने के पश्चात् अवश्य प्राप्त हुआ है लेकिन) निश्चत ही इस पुरस्कार-प्राप्ति का कारण स्वयं ब्रह्महत्या नहीं (अपितु कोई पूर्वकृत धर्माचरण है)। यह सब बात शास्त्र द्वारा ही जानी जाती है।

प्रतिपक्षागमानां च दृष्टेष्टाभ्यां विरोधतः ।
तथाऽनाप्तप्रणीतत्वादागमत्वं न युज्यते ॥१४०॥

और जहाँ तक हमारे अभीष्ट शास्त्र के प्रतिपक्षी शास्त्रों का प्रश्न है वे क्योंकि प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों के विरुद्ध जाते हैं और क्योंकि उनके रचयिता आप्त व्यक्ति नहीं इसलिए उनको शास्त्र मानना ही उचित नहीं।

टिप्पणी—यहाँ भी देखना सरल है कि किसी भी धर्म-सम्प्रदाय का एक अनुयायी अपने पूज्य ग्रंथों के संबन्ध में इस प्रकार की बात कह सकता है।

दृष्टेष्टाभ्यां विरोधाच्च तेषां नाप्तप्रणीतता ।
नियमाद् गम्यते यस्मात् तदसावेव दर्श्यते ॥१४१॥

फिर क्योंकि उक्त शास्त्रों का प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों के विरुद्ध जाना नियमतः यह सिद्ध करता है कि उनके रचयिता आप्त व्यक्ति नहीं, अतः हम यही दिखलाने चलते हैं (अर्थात् यह कि ये शास्त्र प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों के विरुद्ध कैसे जाते हैं)।

अगम्यगमनादीनां धर्मसाधनता क्वचित् ।
उक्ता लोकप्रसिद्धेन प्रत्यक्षेण विरुद्ध्यते ॥१४२॥

किन्हीं शास्त्रों में अगम्य गमन आदि को धर्म का साधन बतलाया गया है और यह बात लोकसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण के ही विरुद्ध जाती है।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि अगम्य-गमन आदि उच्छृंखलताएँ सभी की दृष्टि में पापाचरण हैं। 'अगम्य गमन' शब्द का अर्थ है 'न करने योग्य कामों को करना', आगे की चर्चा से स्पष्ट होगा कि इस शब्द का फलितार्थ है 'उन कामों को नहीं करना जिन्हें लोक तथा शास्त्र न करने योग्य मानते हैं।

स्वधर्मोत्कर्षादेव[1] तथा मुक्तिरपीष्यते ।
हेत्वभावेन तद्भावो नित्य इष्टेन बाध्यते ॥१४३॥

इन शास्त्रों की एक अभीष्ट (अर्थात् अनुमित) मान्यता यह भी है कि पराकाष्ठाप्राप्त धर्म-पालन (अर्थात् अगम्य-गमन आदि) के फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है; लेकिन (क्योंकि इस प्रकार का—अर्थात् पराकाष्ठाप्राप्त अगम्य-गमन आदि रूप—धर्म-पालन मनुष्य के लिए संभव नहीं) इसका अर्थ यह हुआ कि प्रस्तुत शास्त्रों के मतानुसार मोक्ष का कोई कारण न होने के कारण नित्य (सदा के लिए रहने वाली) मोक्ष ही संभव नहीं। और नित्य मोक्ष की अ-संभावना प्रस्तुत शास्त्रों की एक अभीष्ट मान्यता के (अर्थात् इस मान्यता के कि नित्य मोक्ष का कारण अमुक क्रिया-कलाप हैं) विरुद्ध जाती है।

टिप्पणी—यहाँ यशोविजयजी 'नित्यः' के स्थान पर 'अनित्यः' यह पाठ स्वीकार करके भी अर्थ करते हैं, उस दशा में कारिका के उत्तरार्ध का अनुवाद होगा "....लेकिन...."इसका अर्थ यह हुआ कि प्रस्तुत शास्त्रों के मतानुसार मोक्ष का कोई कारण न होने के कारण मोक्ष एक असंभव (कभी अस्तित्व में न आने वाली) वस्तु है। और मोक्ष को एक असंभव वस्तु मानना प्रस्तुत शास्त्रों की एक अभीष्ट मान्यता के (अर्थात् इस मान्यता के कि मोक्ष का कारण अमुक क्रिया-कलाप हैं) विरुद्ध जाता है।

माध्यस्थ्यमेव तद्धेतुरगम्यगमनादिना ।
साध्यते तत् परं येन तेन दोषो न कश्चन ॥१४४॥

कहा जा सकता है: "मोक्ष-प्राप्ति का कारण तो माध्यस्थ्य भावना ही है लेकिन अगम्य-गमन आदि के द्वारा उत्कृष्ट प्रकार की माध्यस्थ्य-भावना का ही विकास किया जाता है; और जब वस्तुस्थिति ऐसी है तब हमारी उक्त मान्यता में (अर्थात् इस मान्यता में कि मोक्ष-प्राप्ति का कारण अगम्य-गमन आदि हैं) कोई दोष नहीं"। इस पर हमारा उत्तर है :

१. क का प्रस्तावित पाठः 'स्वधर्मोत्कर्षणादेव'

एतदप्युक्तिमात्रं यदगम्यगमनादिषु ।
तथाप्रवृत्तितो[1] युक्त्या माध्यस्थ्यं नोपपद्यते ॥१४५॥

उक्त बात भी केवल कहने भर के लिए है, क्योंकि युक्तिपूर्वक विचार करने पर प्रतीत होता है कि अगम्य-गमन आदि में इस प्रकार (अर्थात् गम्य-अगम्य का भेद किए बिना) प्रवृत्त होने से माध्यस्थ्य-भावना विकसित नहीं होती।

अप्रवृत्त्यैव सर्वत्र यथासामर्थ्यभावतः ।
विशुद्धभावनाभ्यासात् तन्माध्यस्थ्यं परं यतः ॥१४६॥

और इसका कारण यह है कि उक्त प्रकार की माध्यस्थ्य-भावना वस्तुतः विकसित होती है गम्य तथा अगम्य सभी प्रकार की वस्तुओं में प्रवृत्ति को यथा-शक्ति रोकने से तथा विशुद्ध भावनाओं के (अर्थात् मैत्री आदि शुभ भावनाओं के) सतत अभ्यास से।

यावदेवंविधं नैवं प्रवृत्तिस्तावदेव या ।
साऽविशेषेण साध्वीति तस्योत्कर्षप्रसाधनात् ॥१४७॥

कहा जा सकता है : "जब तक ऐसी स्थिति न आए (अर्थात जब तक गम्य तथा अ-गम्य सभी प्रकार की वस्तुओं में अ-प्रवृति की स्थिति नहीं आए) तब तक गम्य तथा अगम्य सभी वस्तुओं में समान भाव से प्रवृत्ति करना ही उचित है और वह इसलिए कि इस प्रकार की प्रवृत्ति पराकाष्ठाप्राप्त माध्यस्थ्य-भावना का कारण बनती है"। इस पर हमारा उत्तर है :

नाप्रवृत्तेरियं हेतुः कुतश्चिदनिवर्त्तनात् ।
सर्वत्र भावाविच्छेदादन्यथाऽगम्यसंस्थितिः ।१४८॥

उक्त प्रकार की प्रवृत्ति अ-प्रवृत्ति का कारण नहीं बन सकती, क्योंकि इस प्रकार की स्थिति में तो किसी भी वस्तु से निवृत्त नहीं हुआ जा रहा होता है और फलतः उस स्थिति में किसी भी वस्तु से संबन्धित इच्छा का नाश नहीं हो रहा होता है; और यदि कहा जाए कि बात ऐसी नहीं (अर्थात् वह कि इस स्थिति में भी कुछ वस्तुओं से निवृत्त हुआ जा रहा होता है) तो इसका अर्थ यह हुआ कि इस स्थिति में भी किन्हीं वस्तुओं को अगम्य माना जा रहा है (अर्थात् तो यह स्थिति गम्य-अगम्य वस्तुओं में समान भाव से प्रवृत्ति होने की स्थिति नहीं)।

---

१. कका पाठः तथाऽप्रवृत्तितो

तच्चास्तु लोकशास्त्रोक्तं तत्रौदासीन्ययोगतः ।
संभाव्यते परं ह्येतद् भावशुद्धेर्महात्मनाम् ॥१४९॥

अतः जिन वस्तुओं को लोक तथा शास्त्र अगम्य मानते हैं उन्हें ही अगम्य मानना चाहिए, इस प्रकार की अगम्य वस्तुओं के प्रति उदासीनता का दृष्टिकोण महान् आत्माओं की मनःशुद्धि का कारण बनता है और इस मनःशुद्धि के फलस्वरूप उनमें उत्कृष्ट प्रकार की मध्यस्थ्य भावना का विकास संभव होता है।

संसारमोचकस्यापि हिंसा यद् धर्मसाधनम् ।
मुक्तिश्चास्ति ततस्तस्याप्येष दोषोऽनिवारितः ॥१५०॥

इसी प्रकार संसारमोचक का (अर्थात् 'संसारमोचक' नाम वाले पंथ के अनुयायी का) यह कहना है कि हिंसा धर्म का साधन है तथा मोक्ष एक वास्तविकता है; उसका यह कथन भी पूर्वोक्त दोष का (अर्थात् इस दोष का कि उसके मतानुसार नित्य-मोक्ष संभव नहीं रहता) भागी अनिवार्य रूप से बनता है।

मुक्ति कर्मक्षयादेव जायते नान्यतः क्वचित् ।
जन्मादिरहिता यत्तत् स एवात्र निरूप्यते ॥१५१॥

क्योंकि वस्तुस्थिति यह है कि जन्म आदि रहित मोक्ष का कारण कर्म-क्षय ही है अन्य कुछ नहीं इसलिए अब हम इसका ही (अर्थात् कर्मक्षय का ही) निरूपण प्रारंभ करते हैं।

हिंसाद्युत्कर्षसाध्यो वा तद्विपर्ययजोऽपि वा ।
अन्यहेतुरहेतुर्वा स वै कर्मक्षयो ननु ॥१५२॥

प्रश्न उठता है कि इस कर्म-क्षय का कारण क्या है: पराकाष्ठाप्राप्त हिंसा आदि, पराकाष्ठाप्राप्त अहिंसा आदि, अन्य कुछ, अथवा कुछ नहीं।

हिंसाद्युत्कर्षसाध्यत्वे तदभावे न तत्स्थितिः ।
कर्मक्षयास्थितौ च स्यान्मुक्तानां मुक्तताक्षितिः[1] ॥१५३॥

यदि कर्मक्षय का कारण पराकाष्ठाप्राप्त हिंसा आदि हैं तो इस हिंसा आदि के अभाव में कर्म-क्षय का अभाव होना चाहिए, और कर्म-क्षय के अभाव का अर्थ होगा मोक्ष प्राप्त कर चुकने वाले व्यक्तियों की मोक्ष-समाप्ति।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि मोक्षावस्था में हिंसा आदि संभव नहीं, और ऐसी दशा में हिंसा आदि को कर्मक्षय का कारण मानने पर कहना

१. ख का पाठः क्षतिः

पड़ेगा कि मोक्षावस्था में कर्म-क्षय नहीं रहता; लेकिन कर्म-क्षय नहीं रहने का (अर्थात् कर्म उपस्थित रहने का) अर्थ है मोक्ष का नहीं रहना।

तद्विपर्ययसाध्यत्वे परसिद्धान्तसंस्थितिः ।
कर्मक्षयः सतां यस्मादहिंसादिप्रसाधनः ॥१५४॥

यदि कहा जाय कि कर्म-क्षय का कारण पराकाष्ठा-प्राप्त अहिंसा आदि हैं तो इसका अर्थ होगा विरोधी सिद्धान्त को (अर्थात् हमारे जैन सिद्धान्त को) स्वीकार करना, और वह इसलिए कि महात्माओं ने कर्मक्षय का कारण अहिंसा आदि को बतलाया ही है।

तदन्यहेतुसाध्यत्वे तत्स्वरूपमसंस्थितम् ।
अहेतुत्वे सदा भावोऽभावो वा स्यात् सदैव हि ॥१५५॥

यदि कहा जाए कि कर्मक्षय का कारण न हिंसा आदि हैं न अहिंसा आदि अपितु अन्य ही कुछ तो कर्मक्षय के कारण का स्वरूप अनिश्चित ही बना रहा। और यदि कहा जाए कि कर्मक्षय का कारण कुछ भी नहीं तो कर्मक्षय या तो सदा उपस्थित रहना चाहिए या कभी नहीं।

मुक्तिः कर्मक्षयादिष्टा ज्ञानयोगफलं च सः ।
अहिंसादि च तद्धेतुरिति न्यायः सतां मतः ॥१५६॥

महात्माओं द्वारा स्वीकृत मन्तव्य तो यह है कि मोक्ष का कारण कर्म-क्षय है, कर्मक्षय का कारण ज्ञानयोग (अर्थात् 'ज्ञानयोग' नामवाला पूर्व-वर्णित धर्माचरण), ज्ञानयोग का कारण अहिंसा आदि।

एवं वेदविहिताऽपि हिंसाऽपायायै तत्त्वतः[1] ।
शास्त्रचोदितभावेऽपि वचनान्तरबाधनात् ॥१५७॥

इस प्रकार वेदविहित हिंसा भी (अर्थात् वह हिंसा भी जिसका आदेश वेद देता है) वस्तुतः अनर्थकारी सिद्ध होती है, भले ही उसका विधान (=आदेश) शास्त्र द्वारा क्यों न हुआ हो; और इसका कारण यह है कि प्रस्तुत शास्त्रविधान शास्त्र के ही दूसरे वचनों के विरुद्ध जाता है।

न हिंस्यादिह भूतानि हिंसनं दोषकृन्मतम् ।
दाहवद् वैद्यके स्पष्टमुत्सर्गप्रतिषेधतः ॥१५८॥

---

१. ख का पाठ : हिंसा पापाय

'मनुष्य को चाहिए कि वह प्राणियों की हिंसा न करें' इस वेद वाक्य में हिंसा को स्पष्ट ही तथा एक निरपवाद नियम के अनुसार दोषकारी बतलाया गया है—उसी प्रकार जैसे कि वैद्यकशास्त्र में दाह (अर्थात् शरीरदाह) को दोषकारी (अर्थात् पीड़ाकारी) बतलाया गया है।

ततो व्याधिनिवृत्त्यर्थं दाहः कार्यस्तु चोदिते ।
न ततोऽपि न दोषः स्यात् फलोद्देशेन चोदनात् ॥१५९॥

ऐसी दशा में जब वैद्यकशास्त्र में कहा जाता है कि अमुक रोगविशेष से मुक्ति पाने के लिए दाह (अर्थात् शरीरदाह) करना चाहिए तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह दाह दोषकारी (अर्थात् पीड़ाकारी) नहीं, बात केवल इतनी है कि यहाँ दाह का विधान एक फलविशेष को (अर्थात् उक्त रोग से मुक्ति को) उद्देश्य बनाकर किया गया है।

एवं तत्फलभावेऽपि चोदनातोऽपि सर्वथा ।
ध्रुवमौत्सर्गिको दोषो जायते फलचोदनात् ॥१६०॥

इसी प्रकार हिंसा-संबन्धी वैदिक विधान का पालन करने से भी किसी फलविशेष की प्राप्ति भले ही हो जाए लेकिन इस हिंसा से होने वाला मूल-दोष अपने स्थान पर अवश्यमेव तथा ज्यों का त्यों बना रहता है; यहाँ भी कारण यही है कि हिंसा-संबन्धी वैदिक विधान उक्त फल को ध्यान में रखकर किया गया है।

अन्येषामपि बुद्ध्यैवं दृष्टेष्टाभ्यां विरुद्धता ।
दर्शनीया कुशास्त्राणां ततश्च स्थितमित्यदः ॥१६१॥

इसी प्रकार दूसरे कुशास्त्रों का भी प्रत्यक्ष तथा अनुमान से विरुद्ध जाना एक पाठक अपनी बुद्धि से स्वयं सिद्ध करे। और ऐसी दशा में निम्नलिखित मान्यताएँ फलित होती हैं।

क्लिष्टं हिंसाद्यनुष्ठानं न यत् तस्यान्यतो भवेत् ।
ततः कर्त्ता स एव स्यात् सर्वस्यैव हि कर्मणः ॥१६२॥

क्योंकि एक आत्मा के हिंसा आदि दोषयुक्त आचरण का कारण उस आत्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता इसलिए आत्मा को ही अपने सब प्रकार के कर्मों (=कर्मबन्धों) का कर्त्ता होना चाहिए।

अनादिकर्मयुक्तत्वात् तन्मोहात् संप्रवर्त्तते ।
अहितेऽप्यात्मनः प्रायो व्याधिपीडितचित्तवत् ॥१६३॥

अतः वस्तुस्थिति यह है कि अनादि कर्म से संयुक्त होने के कारण एक आत्मा अपना ही अहित करने वाले कामों में मोहपूर्वक प्रवृत्त प्रायः होती है—उसी प्रकार जैसे कि एक रोग-पीड़ित चित्त (अपना ही अहित करने वाले कामों में प्रवृत्त प्रायः होता है)।

(१) कालवाद, स्वभाववाद, नियति द, कर्मवाद, दि मग्रीवाद

कालादीनां च कर्त्तृत्वं मन्यन्तेऽन्ये प्रवादिनः ।
केवलानां तदन्ये तु मिथः सामग्र्यपेक्षया ॥१६४॥

कुछ वादियों की मान्यता है कि जगत् की घटनाओं का असाधारण कारण काल, आदि में से यह या वह तत्त्व है; कुछ दूसरे वादियों की मान्यता है कि जगत् की घटनाओं का असाधारण कारण ये काल आदि तत्त्व परस्पर-सम्मिलित रूप से हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका से हरिभद्र कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद तथा कर्मवाद की चर्चा प्रारंभ करते हैं। कारिका के मूल शब्दों में काल आदि को 'कर्त्ता' कहा गया है लेकिन पूर्वापरसंदर्भ का विचार करने पर 'कर्त्ता' शब्द का अर्थ 'जगत की घटनाओं का असाधारण कारण' इतना ही सिद्ध होता है, क्योंकि हम देखेंगे कि कालवाद आदि मतों के अनुयायी काल आदि के अतिरिक्त वस्तुओं को भी उन उन कार्यों की कारण-सामग्री में लेने को तैयार हैं लेकिन उनका कहना होगा कि क्योंकि काल आदि के अभाव में उक्त वस्तुएँ उक्त कार्यों को जन्म नहीं देती पाई जाती इसलिए इन वस्तुओं का असाधारण (अथवा प्रधान) कारण काल आदि ही हैं।

न कालव्यतिरेकेण गर्भबालशुभादिकम् ।
यत् किञ्चिज्जायते लोके तदसौ कारणं वि ॥१६५॥

(कालवादियों का कहना है:) एक प्राणी का मातृगर्भ में प्रवेश करना, बाल्यावस्था प्राप्त करना, शुभ आदि प्रकार के अनुभवों का मेल करना—इनमें से कोई भी घटना काल के बिना नहीं घट सकती; अतः अवश्य काल ही सब घटनाओं का कारण है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में 'बाल' के स्थान पर 'काल' यह पाठान्तर भी यशोविजयजी ने स्वीकार किया है; तब हिन्दी अनुवाद में 'बाल्यावस्था

प्राप्त करना' के स्थान पर 'उन उन ऋतुओं आदि का होना' रखना पड़ेगा। वस्तुतः 'वाल' यह पाठ ही ग्रंथकार का अभीष्ट प्रतीत होता।

कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्त्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥१६६॥

काल भौतिक वस्तुओं को (अथवा प्राणियों को) परिपक्व अवस्था में पहुँचाता है, काल प्राणियों का संहार करता है, काल सबके सोते रहने पर भी जागता है, काल की सीमा का लांघना किसी के लिए भी संभव नहीं।

किञ्च कालादृते नैव मुद्गपक्तिरपीष्यते।
स्थाल्यादिसंनिधानेऽपि ततः कालादसौ मता ॥१६७॥

दूसरे हम देखते हैं कि अनुकूल काल आये विना मूंग तक नहीं पकती भले ही थाली आदि (सभी कारणसामग्री) उपस्थित क्यों न हो; अतः यह सिद्ध हुआ कि मूंग का यह पकना काल के ही कारण हैं।

टिप्पणी– देखा जा सकता है कि अपने मत के समर्थन में कालवादी इस वस्तुस्थिति को आधार बना रहा है कि मूंग पकाने की क्रिया कुछ काल लेकर ही सम्पन्न हो पाती है, तत्काल नहीं।

कालाभावे च गर्भादि सर्वं स्यादव्यवस्थया।
परेष्टहेतुसद्भावमात्रादेव तदुद्भवात् ॥१६८॥

काल को जगत् की घटनाओं का असाधारण कारण न मानने पर गर्भप्रवेश आदि (अर्थात् गर्भप्रवेश, बाल्यावस्थाप्राप्ति आदि) घटनाएँ, अनियमपूर्वक-(वस्तुतः एक साथ) घटनी चाहिए, क्योंकि उस दशा में इन घटनाओं का जन्म उस सामग्री की सहायता से हो जाना चाहिए जिसे हमारे विरोधियों द्वारा इन घटनाओंका कारण माना जारहा है (और जो अपने स्थान पर उपस्थित ही हैं)।

न स्वभावातिरेकेण गर्भबालशुभादिकम्।
यत् किञ्चिज्जायते लोके तदसौ कारणं किल ॥१६९॥

(स्वभाववादियों का कहना है :) एक प्राणी का मातृगर्भ में प्रवेश करना, बाल्यवस्था प्राप्त करना, शुभ आदि प्रकार के अनुभवों का भोग करना— इनमें से कोई भी घटना स्वभाव विना नहीं घट सकती, अवश्य स्वभाव ही सब घटनाओं का कारण है।

सर्वभावाः स्वभावेन स्वस्वभावे तथा तथा ।
वर्त्तन्तेऽथ निवर्त्तन्ते कामचारपराङ्मुखाः ॥१७०॥

जगत् की सभी वस्तुएँ स्वतः ही अपने अपने स्वरूप में उस उस प्रकार से वर्त्तमान रहती हैं तथा अन्त में नष्ट हो जाती हैं, और वे यह सब करती हैं बिना किसी प्रकार की मनमानी किए ।

न विनेह स्वभावेन मुद्गपक्तिरपीष्यते ।
तथाकालादिभावेऽपि नाश्वमाषस्य यतः ॥१७१॥

दूसरे, हम देखते हैं कि अनुकूल स्वभाव से सम्पन्न हुए बिना मूंग भी नहीं पकती, भले काल आदि (सभी कारण-सामग्री) उपस्थित क्यों न हो; उदाहरण के लिए, मूंग का कुटका कभी नहीं पकता ।

टिप्पणी—यहाँ भी देखा जा सकता है कि स्वभाववादी अपने मत के समर्थन में इस वस्तुस्थिति को आधार बना रहा है कि एक वस्तु के स्वभाव का अध्ययन करने के बाद हम उसे विश्वासपूर्वक अपने उपयोग में ला सकते हैं । उदाहरण के लिए, यह जान लेने के बाद कि मूंग का स्वभाव पकने का है तथा कुटके स्वभाव नहीं पकने का हम विश्वासपूर्वक मूंग को पकाने का प्रयत्न कर सकते हैं तथा कुटके को पकाने के प्रयत्न से बच सकते हैं ।

अतत्स्वभावात् तद्भावेऽतिप्रसंगोऽनिवारितः ।
तुल्ये तत्र मृदः कुम्भो न पटादीत्ययुक्तिमत् ॥१७२॥

एक स्वभावविशेष वाले कारण के अभाव में भी एक कार्यविशेष की उत्पत्ति यदि संभव मानी जाए तब तो अवांछनीय परिणाम बरबस सिर आ पड़ेंगे । सचमुच, मिट्टी में यदि न घड़ा बनाने का स्वभाव है, न कपड़ा बनाने का तब वह कहना उचित नहीं जान पड़ता कि मिट्टी से घड़ा ही उत्पन्न होना चाहिए कपड़ा नहीं ।

नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत् ।
ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधतः ॥१७३॥

(नियतिवादियों का कहना है :) क्योंकि जगत् की सभी वस्तुएँ एक नियत रूपवाली होती हैं इसलिए उनका कारण नियति (नामक तत्त्वविशेष) को मानना चाहिए और वह इस आधार पर कि नियति का जो स्वरूप है (अर्थात् नियत रूपवाली होना) वह इन वस्तुओं में ओतप्रोत है ।

यद् यदैव यतो यावत् तत् तदैव ततस्तथा ।
नियतं जायते न्यायात् क एतां बाधितुं क्षमः ॥१७४॥

जिस वस्तु को जिस समय जिस कारण से तथा जिस परिमाण में उत्पन्न होना होता है वह वस्तु उसी समय उसी कारण से तथा उसी परिमाण में नियतरूप से उत्पन्न होती है; ऐसी दशा में नियति के सिद्धान्त का युक्तिपूर्वक खंडन कौन सा वादी कर सकता ?

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका से जाना जा सकता है कि नियतिवादी अपने मत के समर्थन में इस वस्तुस्थिति को आधार बना रहा है कि प्रत्येक कार्य किसी नियत कारण से, नियत परिपाटी द्वारा तथा नियत काल लेकर उत्पन्न होता है। वस्तुतः इस प्रकार रखा जाने पर नियतिवाद, कालवाद तथा स्वभाववाद का ही संमिश्रित रूप बन जाता है और उत्तरकालीन बौद्ध तार्किकों को हम सचमुच कहते पाते हैं कि 'प्रत्येक वस्तु देशनियत होती है, कालनियत होती है, स्वभावनियत होती है' ।

न चर्ते नियतिं लोके मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते ।
तत्स्वभावादिभावेऽपि नासावनियता यतः ॥१७५॥

दूसरे हम देखते हैं कि अनुकूल नियति के बिना मूंग भी नहीं पकती, भले ही स्वभाव आदि (सभी कारण-सामग्री) उपस्थित क्यों न हो; सचमुच, मूंग का यह पकना अनियतरूप से तो नहीं होता ।

अन्यथाऽनियतत्वेन सर्वाभावः प्रसज्यते ।
अन्योन्यात्मकतापत्तेः क्रियावैफल्यमेव च ॥१७६॥

यदि ऐसा न हो (अर्थात् जगत् की वस्तुएँ नियतरूप वाली न हों) तब तो अनियत रूप वाली होने के कारण जगत् की सब वस्तुओं का अभाव ही सिद्ध होता है (क्योंकि ये वस्तुएँ एक नियतरूप वाली होकर तथा एक नियत कारणसामग्री की सहायता से अस्तित्व में आती हैं) । दूसरे, उस दशा में जगत् की सभी वस्तुएँ एक दूसरे के रूप वाली होने के कारण सभी प्रकार की क्रिया निष्फल सिद्ध होनी चाहिए ।

टिप्पणी—यहाँ यशोविजयजी 'सर्वाभावः' के स्थान पर 'सर्वभावः' यह पाठ स्वीकार करते हैं; उस दशा में संबंधित कारिका-भाग का हिन्दी-अनुवाद होगा : "यदि ऐसा न हो....तब तो अनियतरूप वाली होने के कारण प्रत्येक वस्तु दूसरी सभी वस्तुओं के स्वभाव वाली हो जानी चाहिए,

जबकि सभी वस्तुएँ एक दूसरे के रूपवाली होने के कारण सभी प्रकार की क्रिया निष्फल सिद्ध होनी चाहिए"।

न भोक्तृव्यतिरेकेण भोग्यं[1] जगति विद्यते ।
न चाकृतस्य भोगः स्यान्मुक्तानां भोगभावतः ॥१७७॥
भोग्यं च विश्वं सत्त्वानां विधिना तेन तेन यत् ।
दृश्यतेऽध्यक्षमेवेदं तस्मात् तत् कर्मजं हि तत् ॥१७८॥

(कर्मवादियों का कहना है :) जगत् में भोक्ता के बिना भोगविषय कुछ नहीं और जिसने कुछ कर्म (=कर्मबन्ध) नहीं किया वह किसी का भोक्ता कैसे ? सचमुच, यदि कर्म किये बिना भी फलभोग संभव है तब तो मोक्ष पा चुकने वाले व्यक्तियों को भी फलभोग का भागी होना चाहिए । और यह हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं कि समूचे का समूचा विश्व प्राणियों का भोगविषय उस-उस प्रकार से है; अतः निष्कर्ष यह निकला कि इस समूचे विश्व का कारण प्राणियों का कर्म है ।

टिप्पणी—संक्षेप में कर्मवादी का तर्क यह है कि विश्व की सभी वस्तुएँ प्राणियों का भोगविषय बनती है जबकि प्राणियों का भोग उनके पूर्वसंचित 'कर्मों' का परिणाम है – जिसका अर्थ यह हुआ कि विश्व की सभी वस्तुएँ प्राणियों के पूर्वसंचित 'कर्मों' का परिणाम हैं ।

न च तत् कर्मवैधुर्ये मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते ।
स्थाल्यादिभङ्गभावेन यत् क्वचिन्नोपपद्यते ॥१७९॥

दूसरे, हम देखते हैं कि एक प्राणी के अनुकूल कर्म के अभाव में मूंग भी नहीं पकती, सचमुच कभी कभी ऐसा होता है कि (सभी कारण-सामग्री के उपस्थित रहने पर भी) थाली आदि के टूट जाने के फलस्वरूप मूंग पकने से रह जाती है ।

टिप्पणी—देखा जा सकता है कि कर्मवादी अपने मत के समर्थन का आधार इस वस्तुस्थिति को बना रहा है कि कभी कभी ऐसा भी होता है कि कोई कारणसामग्री उस कार्य को उत्पन्न करने में असफल सिद्ध होती है जिसकी हम उससे आशा रखते हैं। हमारी इस आशा को जन्म दिया होता है इस कारणसामग्री के स्वभाव आदि संबंधी हमारे अध्ययनने,

1 क का पाठ : भाग्यं

और कर्मवादी का तर्क है कि जब इस प्रकार के अध्ययन से जनित आशा भी निराशा में परिणत हो सकती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि उन उन कार्यों की उत्पत्ति के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी तत्त्व कारण-सामग्री का स्वभाव आदि नहीं प्राणियों का "कर्म" है ।

चित्रं भोग्यं तथा चित्रात् कर्मणोऽहेतुताऽन्यथा ।
तस्य यस्माद् विचित्रत्वं नियत्यादेर्न युज्यते ॥१८०॥

इस प्रकार विभिन्न भोग-विषयों का कारण विभिन्न कर्म सिद्ध होते हैं; वरना कहना पड़ेगा कि इन भोग-विषयों का कोई कारण नहीं। यह इसलिए कि भोग-विषयों की उत्पत्ति नियति आदि (किसी एक ही तथा अकेले) तत्त्व से मानने पर उनमें परस्पर विभिन्नता मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता ।

टिप्पणी—कर्मवादी का आशय है कि जगत् की वस्तुएँ एक दूसरे से भिन्न हैं और इसलिए उनके कारण भी एक दूसरे से भिन्न होने चाहिए, लेकिन (कर्मवादी की समझ के अनुसार) कालवादी सभी वस्तुओं का कारण एक 'काल' को मानता है, स्वभाववादी एक 'स्वभाव' को तथा नियतिवादी एक 'नियति' को; इन सबके विपरीत, कर्मवादी वस्तुओं का कारण 'कर्मों' को मानता है जो एक दूसरे से भिन्न हैं। ठीक आगामी कारिकाओं में हम कर्मवादी को कालवाद, स्वभाववाद तथा नियतिवाद के बीच परस्पर-सम्बन्ध भी प्रदर्शित करते पायेंगे ।

नियतेर्नियतात्मत्वान्नियतानां समानता ।
तथाऽनियतभावे च बलात् स्यात् तद्विचित्रता ॥१८१॥

यदि नियति एक ही रूप वाली है तब नियत (अर्थात् नियति से उत्पन्न) वस्तुएँ भी समान रूप वाली होनी चाहिए; और यदि नियति अनियत रूप वाली (अर्थात् परस्पर असमान वस्तुओं को जन्म दे सकने वाली) है तब प्रस्तुत वादी को यह मानने के लिए विवश होना पड़ेगा कि यह नियति अनेक रूप वाली है ।

न च तन्मात्रभावादेर्युज्यतेऽस्या विचित्रता ।
तदन्यभेदकं[1] मुक्त्वा सम्यग् न्यायाविरोधतः ॥१८२॥

यदि नियति स्वरूप आदि की दृष्टि से (अर्थात् स्वरूप तथा अवस्थान्तर-प्राप्ति दोनों की दृष्टि से) केवल नियति है (अन्य कुछ नहीं) तो उसे अनेक रूप वाली मानना तबतक युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता जबतक इस अनेकता के कारण-

१ क का प्रस्तावित पाठ : तदन्यत् भेदकं

भूत किसी तत्त्वान्तर की सत्ता स्वीकार न की जाए; तार्किक मर्म की अविरोधी मान्यता तो यही है।

न जलस्यैकरूपस्य वियत्पाताद् विचित्रता।
ऊषरादिधराभेदमन्तरेणोपजायते ॥१८३॥

(उदाहरण के लिए) एक रूप वाला जल आकाश से नीचे गिरने के बाद अनेक रूप वाला तब तक नहीं बनता जबतक वह ऊसर आदि अनेक प्रकार की भूमियों से संमिश्रित नहीं होता।

तद्भिन्नभेदकत्वे च तत्र तस्या न कर्तृता।
तत्कर्तृत्वे च चित्रत्वं तद्वत् तस्याप्यसंगतम् ॥१८४॥

यदि नियति से अतिरिक्त किसी तत्त्व को जगत् की वस्तुओं को परस्पर विभिन्नता का कारण माना जाए तो कहना हुआ कि इस अतिरिक्त तत्त्व का कारण नियति नहीं; और यदि इस अतिरिक्त तत्त्व का कारण नियति सचमुच है तो जगत् की वस्तुओं की परस्पर विभिन्नता के लिए इस तत्त्व को उत्तरदायी मानना वैसा ही अयुक्तिसंगत है जैसा कि नियति को उसके लिए उत्तरदायी मानना।

तस्या एव तथाभूतः स्वभावो यदि चेष्यते।
त्यक्तः नियतिवादः स्यात् स्वभावाश्रयणान्ननु ॥१८५॥

कहा जा सकता है कि नियति का यह स्वभाव ही है कि वह परस्पर-विभिन्न वस्तुओं को जन्म देती है, लेकिन ऐसा कहने का अर्थ हुआ नियतिवाद को तिलांजलि देना और वह इसलिए कि तब तो आश्रय स्वभाववाद का लिया गया।

स्वो भावश्च स्वभावोऽपि स्वसत्त्वैव हि भावतः।
तस्यापि भेदकाभावे वैचित्र्यं नोपपद्यते ॥१८६॥

फिर 'स्वभाव' शब्द की व्युत्पत्ति है 'स्व (अपनी) भाव (सत्ता)" और इससे सिद्ध हुआ कि 'स्वभाव' शब्द का वास्तविक अर्थ है 'अपनी सत्ता'। लेकिन उस दशा में तो जगत् की वस्तुओं की परस्पर विभिन्नता का कारण स्वभाव को भी तब तक नहीं माना जा सकता जब तक इस स्वभाव के सहकारी के रूप में किसी तत्त्वान्तर की कल्पना न की जाए।

ततस्तस्याविशिष्टत्वाद् युगपद् विश्वसंभवः।
न चासाविति सद्युक्त्या तद्वादोऽपि न संगतः ॥१८७॥

ऐसी स्थिति में (अर्थात् स्वभाव को ही जगत् की वस्तुओं का एकमात्र कारण मानने पर) मानना पड़ेगा कि जगत् की सारी वस्तुओं की उत्पत्ति एक साथ होती है और वह इसलिए कि (जगत की वस्तुओं के कारण रूप से कल्पित) स्वभाव एक रूप वाला है; लेकिन हम देखते हैं कि जगत् की सारी वस्तुओं की उत्पत्ति एक साथ नहीं होती और इसका अर्थ यह हुआ कि स्वभाववाद भी कोई तर्कसंगत वाद नहीं।

तत्तत्कालादिसापेक्षो विश्वहेतुः स चेन्ननु ।
मुक्तः स्वभाववादः स्यात् कालवादपरिग्रहात् ॥१८८॥

कहा जा सकता है कि काल आदि को सहकारी बना कर स्वभाव सचमुच ही जगत् की वस्तुओं का कारण बनता है, लेकिन ऐसा कहने का अर्थ हुआ स्वभाववाद को तिलांजलि देना और वह इसलिए कि तब तो आश्रय कालवाद (आदि) का लिया गया।

कालोऽपि समयादिर्यत् केवलं सोऽपि कारणम् ।
तत एव ह्यसंभूतेः कस्यचिन्नोपपद्यते ॥१८९॥

फिर यह 'काल' नाम वाला तत्त्व भी तो वही है जिसे हम 'समय' आदि नामों से जानते हैं और यह तत्त्व अकेला किसी वस्तु का कारण नहीं बनता; यह इसलिए कि किसी वस्तु की उत्पत्ति अकेले काल से होती नहीं देखी जाती है।

यतश्च काले तुल्येऽपि सर्वत्रैव न तत्फलम् ।
अतो हेत्वन्तरापेक्षं विज्ञेयं तद् विचक्षणैः ॥१९०॥

फिर हम देखते हैं कि एक काल विशेष के सर्वत्र समान भाव से वर्तमान रहने पर भी उस कालविशेष में उत्पन्न होने वाला कोई कार्यविशेष सर्वत्र उत्पन्न नहीं होता (अपितु किसी स्थलविशेष पर ही उत्पन्न होता है); अतः बुद्धिमानों को मानना चाहिए कि उक्त काल किन्हीं दूसरे कारणों को सहकारी बनाकर ही उक्त कार्य का कारण बनता है (अकेला नहीं)।

अतः कालादयः सर्वे समुदायेन कारणम् ।
गर्भादेः कार्यजातस्य विज्ञेया न्यायवादिभिः ॥१९१॥

अतः तार्किक-मार्ग का अनुसरण करने वालों को मानना चाहिए कि काल आदि सब तत्त्व (अर्थात् काल, स्वभाव, नियति, कर्म) आपस में मिलकर ही गर्भ-प्रवेश आदि कार्यों के कारण बनते हैं (अकेले अकेले नहीं)।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका से हम जान पाते हैं कि कालवाद, स्वभाववाद तथा नियतिवाद के विरुद्ध अभी उठाई गई कर्मवादी की आपत्तियों से हरिभद्र स्वयं तत्त्वतः सहमत हैं। उनका नया सुझाव इतना ही है कि काल, स्वभाव, नियति तथा कर्म चारों ही मिलकर जगत की घटनाओं के कारण बनते हैं। वस्तुतः कालवाद, स्वभाववाद तथा नियतिवाद के बीच पारस्परिक मतभेद इतने गहरे नहीं जितने गहरे मतभेद इन तीनों के तथा कर्मवाद के बीच हैं। यदि प्रथम तीन वादों को 'कार्य-कारणतावाद' यह सामान्य नाम दिया जाए तो कहना होगा कि हरिभद्र का अपना मत कार्य-कारणतावाद तथा कर्मवाद के बीच समन्वय स्थापित करने का है।

न चैकैकत एवेह क्वचित् किञ्चिदपीक्ष्यते।
तस्मात् सर्वस्य कार्यस्य सामग्री जनिका मता ॥१९२॥

क्योंकि उक्त तत्त्व अकेले अकेले कहीं भी तथा किसी भी कार्य को जन्म देते नहीं पाए जाते अतः यही माना जाना चाहिए कि ये तत्त्व सभी कार्यों का कारण सम्मीलित रूप से बनते हैं।

स्वभावो नियतिश्चैव कर्मणोऽन्ये प्रचक्षते।
धर्मावन्ये तु सर्वस्य सामान्येनैव वस्तुनः ॥१९३॥

स्वभाव तथा नियति के सम्बन्ध में कुछ वादियों की मान्यता है कि वे कर्म के धर्म हैं तथा कुछ की यह कि वे सभी वस्तुओं के धर्म समान रूप से हैं।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह प्रतीत होता है कि कुछ वादी नियति तथा स्वभाव की कल्पनाओं को प्रश्रय कर्मवाद को स्वीकार करने के प्रसंग में ही देते हैं तथा कुछ वादी सभी प्रसंगों में।

तीसरा स्तवक

(१) ईश्वरवाद-खंडन

ईश्वरः प्रेरकत्वेन कर्त्ता कैश्चिदिहेष्यते ।
अचिन्त्यचिच्छक्तियुक्तोऽनादिशुद्धश्च सूरिभिः ॥१९४॥

कुछ बुद्धिमानों की मान्यता है कि (प्राणियों के समूचे क्रिया-कलाप का) प्रेरक रूप से कर्त्ता ईश्वर है और यह ईश्वर अचिन्त्य चैतन्यशक्ति वाला तथा अनादि-शुद्ध है ।

टिप्पणी—ईश्वर को 'अचिन्त्य चैतन्यशक्ति वाला' कहने का आशय यह है कि शरीर, इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना भी जगत् की सब वस्तुओं को जान लेना एक अद्भुत ईश्वरीय लीला है ।

ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥१९५॥

(इस ईश्वर के संबन्ध में कहा गया है कि) उस जगत्पति का ज्ञान, उसका वैराग्य, उसका ऐश्वर्य, उसका धर्म ये चारों अप्रतिहत (अर्थात् सर्व-समर्थ) हैं तथा सहजसिद्ध हैं ।

टिप्पणी—ईश्वर का यह वर्णन सांख्य दर्शन की शब्दावली में किया गया है । यद्यपि स्वयं सांख्य ग्रन्थों में ईश्वरवाद का समर्थन नहीं पाया जाता, लेकिन अन्य सत्ता-शास्त्रीय प्रश्नों पर सांख्य दर्शन के मत को प्रायः ज्यों का त्यों अपनाने वाले योगसूत्र एवं भाष्य में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गयी है तथा उसे एक पुरुषविशेष (अर्थात् एक आत्मा-विशेष) माना गया है । सांख्य दर्शन की मान्यतानुसार एक साधारण मनुष्य में पाए जाने वाले ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य एवं धर्म इस मनुष्य के अपने कृतित्व का फल हुआ करते हैं तथा न्यूनाधिक सामर्थ्यसम्पन्न हुआ करते हैं; योग-सूत्र-भाष्य की मान्यतानुसार ईश्वर में पाए जाने वाले ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य एवं धर्म सहजसिद्ध हैं तथा सर्वसामर्थ्यसंपन्न है । 'ज्ञान' तथा 'वैराग्य' शब्दों का अर्थ स्पष्ट है, 'ऐश्वर्य' शब्द का अर्थ है अणिमा, लघिमा महिमा, गरिमा आदि आठ विभूतियां (अर्थात् योगग्रन्थों में वर्णित अलौकिक क्षमताएँ), 'धर्म' शब्द का अर्थ है चरित्रगत कतिपय सद्‌गुणविशेष ।

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥१९६॥

(और भी कहा गया है कि) यह अज्ञानी जीव अपने सुख-दुःख का स्वामी स्वयं नहीं अपितु वह ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग में जाता है अथवा नरक में ।

अन्ये त्वभिदधत्यत्र वीतरागस्य भावतः ।
इत्थं प्रयोजनाभावात् कर्तृत्वं युज्यते कथम् ? ॥१९७॥

इस पर किन्हीं दूसरे वादियों की आपत्ति है जब उक्त रूप से (अर्थात् उक्त प्रेरणा-प्रदान से) ईश्वर का--जो स्वतः वीतराग है--कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता तब उसको (प्राणियों के क्रियाकलाप का) वास्तविक कर्त्ता मानना कहाँ तक युक्तिसंगत है ।

नरकादिफले कांश्चित् कांश्चित् स्वर्गादिसाधने ।
कर्मणि प्रेरयत्याशु स जन्तून् केन हेतुना ? ॥१९८॥

प्रश्न उठता है कि ईश्वर क्यों किन्हीं प्राणियों को ऐसे काम करने की प्रेरणा देता है जिनका परिणाम स्वर्गप्राप्ति होता है और किन्हीं को ऐसे काम करने की जिनका परिणाम नरकप्राप्ति होता है ।

स्वयमेव प्रवर्त्तन्ते सत्त्वाश्चेत् चित्रकर्मणि ।
निरर्थकमिहेशस्य कर्तृत्वं गीयते कथम् ? ॥१९९॥

और यदि कहा जाए कि जगत् के प्राणी अनेकानेक प्रकार की क्रियाओं में स्वेच्छा से प्रवृत्त होते हैं तो प्रश्न उठता है कि तब बेकार ही यह गीत क्यों गाया जाय कि प्राणियों के क्रियाकलाप का कर्त्ता ईश्वर है ।

फलं ददाति चेत् सर्वं तत् तेनेह प्रचोदितम् ।
अफले पूर्वदोषः स्यात् सफले भक्तिमात्रता ॥२००॥

कहा जा सकता है कि प्राणियों के वे वे काम ईश्वर की प्रेरणा से उन उन फलों को देने वाले सिद्ध होते हैं; लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि ये काम यदि स्वतः फल देने में असमर्थ हैं तब तो हमारी पिछली आपत्ति अपने स्थान पर बनी रहती है (अर्थात् वह आपत्ति कि ईश्वर क्यों किन्हीं प्राणियों को स्वर्ग ले जाने वाले कामों की ओर प्रेरित करता है और किन्हीं को नरक ले जाने वाले कामों की ओर) और यदि वे स्वतः फल देने में समर्थ हैं तो ईश्वर की कल्पना भक्तिमात्र है (अर्थात् तब उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता) ।

आदिसर्गेऽपि नो हेतुः कृतकृत्यस्य विद्यते ।
प्रतिज्ञातविरोधित्वात् स्वभावोऽप्यप्रमाणकः ॥२०१॥

फिर जब ईश्वर एक कृतकृत्य आत्मा है (अर्थात् एक ऐसी आत्मा जिसे कोई काम करना शेष नहीं) तब उसके द्वारा सृष्टि का आरम्भ किए जाने का कोई कारण संभव नहीं, क्योंकि ऐसा कोई कारण मानने पर ईश्वरवादी के मूल-मंतव्य के साथ (अर्थात् उसके इस मन्तव्य के साथ कि ईश्वर एक कृतकृत्य आत्मा है) विरोध आ खड़ा होगा। और वह कहना कि यह सब ईश्वर का स्वभाव ही है एक अप्रामाणिक बात है (क्योंकि वस्तुतः ईश्वर का अस्तित्व ही प्रमाण-सिद्ध नहीं)।

कर्मादेस्तत्स्वभावत्वे न किञ्चिद् बाध्यते विभोः।
विभोस्तु तत्स्वभावत्वे कृतकृत्यत्वबाधनम् ॥२०२॥

कर्म आदि को उक्त स्वभाव वाला मानने पर (अर्थात् उन्हें ईश्वर पर निर्भर रहे बिना फल-जनन में समर्थ मानने पर) ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में (तो) किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित नहीं होती (यद्यपि तब ईश्वर प्राणियों के कामों का प्रेरक नहीं); लेकिन यदि ईश्वर को उक्त स्वभाव वाला माना जाए (अर्थात् यदि उसे कामों का प्रेरक, कामों का फल–दाता आदि माना जाए) तो इस मान्यता के सम्बन्ध में कठिनाई उपस्थित होती है कि ईश्वर एक कृत-कृत्य आत्मा है।

ततश्चेश्वरकर्तृत्ववादोऽयं युज्यते परम्।
सम्यग् न्यायाविरोधेन यथाऽऽहुः शुद्धबुद्धयः ॥२०३॥

हां, यह सब कुछ कहने के बाद हम यह भी कह सकते हैं कि ईश्वरकर्तृत्व-वाद एक अर्थविशेष में एक समुचित तथा तर्कसंगत वाद है। उदाहरण के लिए, शुद्धबुद्धि वाले किन्हीं वादियों का कहना है।

ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात्।
यतो मुक्तिस्ततस्तस्याः कर्त्ता स्याद् गुणभावतः ॥२०४॥

'ईश्वर–' परमात्म का ही (अर्थात् मुक्ति के द्वार पर खडे सर्वज्ञ मनुष्य का ही) दूसरा नाम है, और क्योंकि ऐसे परमात्मा द्वारा सुझाए गए आचरण-मार्ग पर चलने से एक प्राणी को मुक्ति की प्राप्ति होती है इसलिए इस परमात्मा को गौण अर्थ में इस मुक्ति का कर्त्ता भी कहा जा सकता है।

टिप्पणी—'परमात्मा' शब्द का जैन परम्परा-सम्मत अर्थ समझने के लिए कारिका १११ की टिप्पणी द्रष्टव्य है।

तदनासेवनादेव यत् संसारोऽपि तत्त्वतः।
तेन तस्यापि कर्त्तृत्वं कल्प्यमानं न दुष्यति ॥२०५॥

दूसरी ओर, एक प्राणी का संसार-चक्र (—पुनर्जन्मचक्र) में फंसे रहना वस्तुतः उक्त परमात्मा द्वारा सुझाए गए मार्ग पर न चलने का ही फल है, और ऐसी दशा में इस परमात्मा को इस संसार-चक्र का कर्त्ता मानने में भी कोई दोष नहीं।

कर्त्ताऽयमिति तद्वाक्ये यतः केषांचिदादरः ।
अतस्तदानुगुण्येन तस्य कर्त्तृत्वदेशना ॥२०६॥

कुछ व्यक्तियों के मन में उक्त परमात्मा की शिक्षाओं के प्रति श्रद्धा यह समझने के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती है कि यह परमात्मा (प्राणियों के बन्ध-मोक्ष का) कर्त्ता है; यही कारण है कि इन व्यक्तियों की मनःस्थिति को ध्यान में रखते हुए शास्त्रकारों ने परमात्मा को (प्राणियों के बंध-मोक्ष का) कर्त्ता कहा है।

परमैश्वर्ययुक्तत्वान्मत आत्मैव चेश्वरः ।
स च कर्त्तेति निर्दोषः कर्त्तृवादो व्यवस्थितः ॥२०७॥

अथवा, परम ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण एक आत्मा को ही ईश्वर माना जा सकता है, और क्योंकि एक प्राणी द्वारा की जाने वाली उन उन क्रियाओं का कर्त्ता उस प्राणी की आत्मा है इसलिए ईश्वरकर्त्तृत्ववाद एक निर्दोष वाद सिद्ध होता है।

टिप्पणी—जैन मान्यतानुसार एक आत्मा स्वभावतः सर्वसामर्थ्यसंपन्न है लेकिन संसारावस्था में उसकी यह सामर्थ्य कर्म-संचय के फलस्वरूप न्यूनाधिक कुण्ठित रहती है; इसी मान्यता को ध्यान में रखते हुए हरिभद्र आत्मा को 'परमैश्वर्ययुक्त' कह रहे हैं।

शास्त्रकारा महात्मानः प्रायो वीतस्पृहा भवे ।
सत्त्वार्थसंप्रवृत्ताश्च कथं तेऽयुक्तभाषिणः ॥२०८॥

सचमुच, शास्त्रों के रचयिता महापुरुष सांसारिक कामनाओं से प्रायः मुक्त हुआ करते हैं तथा वे परोपकार के उद्देश्य से ही सब कुछ किया करते हैं; तब वे ऐसी बात क्यों कहेंगे, जो युक्तिसंगत न हो।

टिप्पणी—हरिभद्र का तर्क यह है कि क्योंकि शास्त्रों के रचयिता महापुरुष सत्यवक्ता हुआ करते हैं और क्योंकि ईश्वरकर्त्तृत्ववाद एक अर्थविशेष में ही तर्कसंगत सिद्ध होता है इसलिए शास्त्रों में जहाँ भी ईश्वरकर्तृत्ववाद का समर्थन है वहाँ उसे यही अर्थविशेष पहनाना चाहिए।

अभिप्रायस्ततस्तेषां सम्यग् मृग्यो हितैषिणा।
न्यायशास्त्राविरोधेन यथाऽऽह मनुरप्यदः ॥२०९॥

अतः अपना हित चाहने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह शास्त्रकारों के आशय को भली प्रकार से खोज निकाले और इस प्रकार से कि उक्त आशय का तर्क तथा शास्त्रवचन के साथ विरोध न हो। इस सम्बन्ध में मनु ने भी कहा है।

टिप्पणी—शास्त्रवचनों के सम्बन्ध में यह कहने का कि उनके आशय का विरोध शास्त्रवचनों के साथ नहीं होना चाहिए, तात्पर्य यही है कि किन्हीं संदिग्धार्थक शास्त्रवचनों को ऐसा अर्थ नहीं प्रदान किया जाना चाहिए कि उनका विरोध किन्हीं असंदिग्धार्थक शास्त्रवचनों के साथ आ पड़े।

आर्षं च धर्मशास्त्रं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥२१०॥

(वेद आदि) ऋषिप्रणीत ग्रन्थों का तथा (पुराण आदि) धर्मशास्त्रीय ग्रंथों का अनुसंधान (आशय अन्वेषण) वेद तथा धर्मशास्त्र की शिक्षाओं के विरुद्ध न जाने वाले तर्क की सहायता से करने वाला व्यक्ति ही धर्म को जानता है और कोई नहीं।

टिप्पणी—यशोविजयजी की सूचनानुसार 'आर्षं च धर्मशास्त्रं च' के स्थान पर एक पाठान्तर है 'आर्षं धर्मोपदेशं च'; उस दशा में भी कारिका के हिन्दी-अनुवाद में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं आएगा।

(२) प्रकृति-पुरुषवाद खण्डन

प्रधानोद्भवमन्ये तु मन्यन्ते सर्वमेव हि।
महदादिक्रमेणेह कार्यजातं विपश्चितः ॥२११॥

कुछ दूसरे बुद्धिमानों का कहना है कि जगत् का समूचा कार्यकलाप 'प्रधान' नाम वाले तत्त्व से उत्पन्न हुआ है, जहाँ उत्पत्तिक्रम महत् आदि तत्त्वों को बीच में डालता हुआ चलता है।

प्रधानाद् महतो भावोऽहंकारस्य ततोऽपि च।
अक्षतन्मात्रवर्गस्य तन्मात्राद् भूतसंहतेः ॥२१२॥

(यह है उक्त उत्पत्तिक्रम :) प्रधान से महत् (नामान्तर 'बुद्धि') की उत्पत्ति होती है, महत् से अहंकार की, अहंकार से (ग्यारह) इन्द्रियों की तथा (पाँच) तन्मात्रों (सूक्ष्म भूतों) की, तन्मात्र से (पाँच) महाभूतों (स्थूल भूतों) की।

घटाद्यपि पृथिव्यादिपरिणामसमुद्भवम् ।
नात्मव्यापारजं किञ्चित् तेषां लोकेऽपि विद्यते ॥२१३॥

जहाँ तक घट आदि की उत्पत्ति का प्रश्न है उसका कारण भी (प्रस्तुत वादियों के मतानुसार) पृथ्वी आदि की रूपान्तर-प्राप्ति मात्र है; (यह इसलिए की) इन वादियों के मतानुसार जगत् की किसी भी वस्तु की उत्पत्ति का कारण आत्मा की कोई क्रिया नहीं ।

अन्ये तु ब्रुवते ह्येतत् प्रक्रियामात्रवर्णनम् ।
अविचार्यैव तद् युक्त्या श्रद्धया गम्यते परम् ॥२१४॥

लेकिन किन्हीं दूसरे वादियों का कहना है कि उपरोक्त सब वर्णन एक मनगढ़न्त कल्पना मात्र है तथा यह कि जो व्यक्ति इस वर्णन को स्वीकार करते हैं वे युक्तिपूर्वक विचार किए बिना एवं श्रद्धा के वशीभूत होकर ऐसा करते हैं ।

युक्त्या तु बाध्यते यस्मात् प्रधानं नित्यमिष्यते ।
तथात्वाप्रच्युतौ चास्य महदादि कथं भवेत् ? ॥२१५॥

उक्त वर्णन युक्ति के तो विरुद्ध जाता है; क्योंकि यहाँ प्रधान को नित्य माना गया है, लेकिन जब तक प्रधान अपने मूल-स्वरूप का परित्याग न करेगा, उससे महत् आदि की उत्पत्ति कैसे होगी ?

तस्यैव तत्स्वभावत्वादिति चेत् किं न सर्वदा ।
अत एवेति चेत् तस्य तथात्वे ननु तत् कुतः ? ॥२१६॥

कहा जा सकता है, कि महत् आदि को उत्पन्न करना प्रधान का स्वभाव ही है, लेकिन तब हमारा प्रश्न है कि प्रधान से महत् आदि की उत्पत्ति सब समय क्यों नहीं होती ?। उत्तर दिया जा सकता है कि यह भी प्रधान का स्वभाव ही है (अर्थात् यह भी प्रधान का स्वभाव ही है कि वह महत् आदि को उत्पन्न करे लेकिन उस उस समय पर); लेकिन इस पर हमारा प्रश्न है कि प्रधान से महत् आदि की उत्पत्ति उस उस समय पर भी कैसे संभव होगी जब तक वह (अर्थात् प्रधान) अपने मूल-स्वरूप में अविकृत भाव से वर्त्तमान है ।

नानुपादानमन्यस्य भावेऽन्यज्जातुचिद् भवेत् ।
तदुपादानतायां च न तस्यैकान्तनित्यता ॥२१७॥

एक वस्तु (उदाहरण के लिए, प्रधान) के उपस्थित रहने पर भी एक दूसरी वस्तु (उदाहरण के लिए, महत्) की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती जबतक इस दूसरी वस्तु का उपादानकारण भी उपस्थित न हो; और यदि उक्त पहली वस्तु ही उक्त दूसरी वस्तु का उपादानकारण है तब उसे (अर्थात् पहली वस्तु को) नितान्त नित्य (अर्थात् अविकृत भाव से नित्य) नहीं माना जा सकता।

घटाद्यपि कुलालादिसापेक्षं दृश्यते भवत् ।
अतो न तत् पृथिव्यादिपरिणामसमुद्भवम् ॥२१८॥

घट आदि को भी हम कुम्हार आदि की सहायता से ही उत्पन्न हुआ पाते हैं; अतः उनके सम्बन्ध में भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनका एकमात्र कारण पृथ्वी आदि की रूपान्तर प्राप्ति हैं।

तत्रापि देहः कर्त्ता[1] चेन्नैवासावात्मनः पृथक् ।
पृथगेवेति चेद् भोग आत्मनो युज्यते कथम् ? ॥२१९॥

कहा जा सकता है कि घट आदि का कर्त्ता भी (कुम्हार आदि का) शरीर है (कोई आत्मा नहीं); लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि शरीर आत्मा से पृथक् तो नहीं (और वह इसलिए कि प्रस्तुतवादी के मतानुसार आत्मा सर्वव्यापी है)। यदि कहा जाए कि शरीर आत्मा से सचमुच पृथक् है तो हमारा प्रश्न होगा कि तब आत्मा भोगकर्त्ता कैसे (और वह इसलिए कि शरीर की सहायता से ही तो आत्मा भोगकर्त्ता बन सकता है)।

देहभोगेन नैवास्य भावतो भोग इष्यते ।
प्रतिबिम्बोदयात् किन्तु यथोक्तं पूर्वसूरिभिः ॥२२०॥

उत्तर दिया जा सकता है: 'क्योंकि भोगकर्त्ता शरीर है इसलिए आत्मा में भोग-कर्तृत्व वास्तविक नहीं किन्तु परछाईं पड़ने जैसा है। जैसा कि प्राचीन मनीषियों का कहना है:

"पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥२२१॥
विभक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि" ॥२२२॥

"पुरुष (अर्थात् आत्मा) स्वयं अविकारी स्वरूप वाला बना रहते हुए ही अचेतन मन को अपने जैसा (अर्थात् चेतन जैसा) बना देता है—उसी प्रकार जैसे

---

१. ख का पाठ: देहकर्त्ता

स्फटिक के पास रखी हुई रंगीन वस्तु स्फटिक को अपने जैसा (अर्थात् रंगीन) बना देती है। पुरुष से पृथक् स्थित बुद्धि (अर्थात् मन) जब इस प्रकार रूपान्तर प्राप्त कर लेती है तब हम कहने लगते हैं कि पुरुष भोग कर रहा है; यह कहना वैसे ही है जैसे स्वच्छ जल में पड़ी हुई चन्द्रमा की परछाईं को चन्द्रमा मान लिया जाए (तथा इस परछाईं की क्रियाओं को चन्द्रमा की क्रियाएँ मान लिया जाए)।"
इस पर हमारा कहना है :

प्रतिबिम्बोदयोऽप्यस्य नामूर्तत्वेन युज्यते ।
मुक्तैरतिप्रसंगाच्च न वै भोगः कदाचन ॥२२३॥

(बुद्धि में) पुरुष की परछाईं पड़ने की बात युक्तिसंगत नहीं और वह इसलिए कि पुरुष एक अमूर्त (अभौतिक) तत्त्व है (जबकि प्रतिबिंबपात्र में अपनी परछाईं डालने की क्षमता एक भौतिक द्रव्य में ही संभव है)। दूसरे, यदि संसारी पुरुष की परछाईं बुद्धि में पड सकती है तो मुक्त पुरुषों की भी पड़नी चाहिए। इस सबका अर्थ यह हुआ कि प्रस्तुत वादी के मतानुसार पुरुष कभी भोगकर्त्ता बनता ही नहीं (वरना उसे मुक्ति-अवस्था में भी भोगकर्त्ता बने रहना चाहिए)।

न च पूर्वस्वभावत्वात् स मुक्तानामसंगतः ।
स्वभावान्तरभावे च परिणामोऽनिवारितः ॥२२४॥

क्योंकि प्रस्तुत वादी के मतानुसार मुक्त पुरुष संसारी अवस्था में एक स्वभावविशेष वाले थे (अर्थात् अपनी परछाईं बुद्धि में डालने वाले अतः भोगकर्त्ता थे) इसलिए हमारी यह आपत्ति अयुक्तिसंगत नहीं कि उसके मतानुसार ये मुक्त पुरुष मुक्ति-अवस्था में भी उसी स्वभावविशेष वाले होने चाहिए (अर्थात् अपनी परछाईं बुद्धि में डालने वाले अतः भोगकर्त्ता होने चाहिए); और यदि कहा जाए कि मुक्त पुरुषों में किसी ऐसे नए स्वभाव का जन्म हो जाता है जो संसारी अवस्था में उनमें वर्त्तमान न था तब प्रस्तुत वादी यह मानने को विवश हो गया कि पुरुष एक ऐसा तत्त्व है जिसमें रूप-रूपान्तरण की प्रक्रिया चला करती है।

देहात् पृथक्त्व एवास्य न च हिंसादयः क्वचित् ।
तदभावेऽनिमित्तत्वात् कथं बन्धः शुभाशुभः ॥२२५॥

यदि आत्मा शरीर से पृथक् ही है तब हिंसा आदि कभी संभव नहीं होने चाहिए (क्योंकि तब तो कहा जा सकेगा कि हिंसा आदि क्रियाएँ शरीर पर की

१. ख का पाठ : मुक्तेर°

जाती हैं आत्मा पर नहीं); और हिंसा आदि के अभाव में शुभ-अशुभ कर्मबन्ध कैसे संभव होगा, क्योंकि उस दशा में तो कर्मबन्ध का निमित्त कारण ही उपस्थित न होगा।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय है कि कर्मबन्ध का निमित्तकारण हिंसा आदि ही हैं।

बन्धादृते न संसारो मुक्तिर्वाऽस्योपपद्यते ।
यमादि तदभावे च सर्वमेव ह्यपार्थकम् ॥२२६॥

कर्मबन्ध के बिना एक आत्मा के लिए न तो पुनर्जन्मचक्र में भ्रमण करना संभव है न मोक्ष प्राप्त करना। और मोक्षके अभाव में यम आदि सभी सदनुष्ठान (जो मोक्ष-साधन माने गए हैं) बेकार सिद्ध होंगे।

टिप्पणी—यहाँ 'यम आदि' से आशय उन आठ सदनुष्ठानों से हैं जिन्हें सांख्य-योग परंपरा में 'योगांग' नाम दिया गया है। आठ योगांग निम्नलिखित हैं—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम,
प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।

आत्मा न बध्यते नापि मुच्यतेऽसौ कदाचन ।
बध्यते मुच्यते चापि प्रकृतिः स्वात्मनेति चेत् ॥२२७॥

कहा जा सकता है कि आत्मा का न तो कभी बन्ध होता है न कभी मोक्ष, अपितु प्रकृति ही अपने आप कभी बन्ध की भागी बनती है, कभी मोक्ष की। इस पर हमारा उत्तर है:

एकान्तेनैकरूपाया नित्यायाश्च न सर्वथा ।
तस्याः क्रियान्तराभावाद् बन्धमोक्षौ तु युक्तितः[1] ॥२२८॥

जब प्रकृति सर्वथा एक रूप वाली तथा नित्य है तब उसमें एक क्रिया के स्थान पर दूसरी क्रिया का उत्पन्न होना संभव नहीं, और ऐसी दशा में प्रकृति के बन्ध-मोक्ष की बात करना युक्तिसंगत नहीं ही है।

मोक्षः प्रकृत्ययोगो यदतोऽस्याः स कथं भवेत् ।
स्वरूपविगमापत्तेस्तथा तन्त्रविरोधतः ॥२२९॥

फिर प्रस्तुत वादी की मान्यतानुसार मोक्ष नाम है प्रकृति के संबन्धविच्छेद का और ऐसी मोक्ष प्राप्त करना प्रकृति के लिए कैसे संभव होगा, क्योंकि तब तो प्रकृति का स्वरूप ही नष्ट हुआ मानना पड़ेगा। दूसरे, उक्त कल्पना (अर्थात्

१. ख का पाठः सुयुक्तितः

'प्रकृति का प्रकृति से संबन्धविच्छेद' की कल्पना) प्रस्तुत वादी के स्वीकृत शास्त्र के विरुद्ध जाती है।

> पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः।
> जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः ॥२३०॥
> पुरुषस्योदिता मुक्तिरिति तन्त्रे चिरन्तनैः।
> इत्थं न घटते चेयमिति सर्वमयुक्तिमत् ॥२३१॥

प्रस्तुत वादी के द्वारा सम्मानित प्राचीन आचार्यों ने अपने शास्त्र में कहा है: "जो व्यक्ति २५ तत्त्वों का ज्ञाता है वह मोक्ष प्राप्त करता है इसमें संदेह नहीं–फिर वह व्यक्ति चाहे किसी भी आश्रम में वर्त्तमान हो तथा वह चाहे जटाधारी हो, चाहे मुण्डित-मस्तक, चाहे शिखाधारी"। इस प्रकार इन आचार्यों ने पुरुष को ही मोक्ष प्राप्त करने वाला माना है। लेकिन प्रस्तुत वादी की तर्कसरणी स्वीकार करने पर पुरुष द्वारा मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं लगती, अतएव सिद्ध होता है कि इस संबन्ध में कही गई उसकी सभी बातें अयुक्तिसंगत है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में निर्दिष्ट २५ तत्त्व पहले ही गिनाए जा चुके हैं और निम्नलिखित हैं।

१ प्रकृति, २ महत्, ३ अहंकार, ४–१४ ग्यारह इन्द्रियाँ, १५–१९ पाँच तन्मात्र, २०–२४ पाँच महाभूत, २५ पुरुष।

> अत्रापि पुरुषस्यान्ये मुक्तिमिच्छन्ति वादिनः।
> प्रकृतिं चापि सन्न्यायात् कर्मप्रकृतिमेव च ॥२३२॥

इस संबन्ध में भी कुछ दूसरे वादी पुरुष को ही मोक्ष प्राप्त करने वाला मानते हैं, और समुचित युक्तिमार्ग का अनुसरण करते हुए वे कहते हैं कि प्रकृति कर्म-प्रकृति का ही दूसरा नाम है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में निर्दिष्ट वादी हैं जैन दार्शनिक; क्योंकि इन्होंने 'कर्म-प्रकृति' (='कर्म') के नाम से एक ऐसे तत्त्व की सत्ता स्वीकार की है जो जड़ है तथा आत्मा के बंध के लिए उत्तरदायी है—उसी प्रकार जैसे कि सांख्य दार्शनिकों की 'प्रकृति' एक ऐसा तत्त्व है जो जड़ है तथा पुरुष के बंध के लिए उत्तरदायी है। लेकिन जैन दार्शनिकों की कर्मप्रकृति तथा सांख्य दार्शनिकों की प्रकृति के बीच एक महत्त्वपूर्ण भेद भी है जिसे ध्यान में रखना आवश्यक है। जैसा कि हम देख चुके हैं, सांख्यदर्शन की मान्यतानुसार समूचा जड़ जगत् (अर्थात् महत् से लेकर पांच महाभूत

तक के २३ तत्त्व) प्रकृति के रूपान्तरणमात्र हैं, इसके विपरीत, जैनदर्शन की कर्मप्रकृति (=कर्म-पुद्गल) जड़-जगत् (=पुद्गल-जगत्) का एक अंश मात्र है जिसका अर्थ यह हुआ कि जैनदर्शन की मान्यतानुसार समूचे जड़-जगत् को कर्मप्रकृति का रूपान्तरण मात्र नहीं कहा जा सकता ।

तस्याश्चानेकरूपत्वात् परिणामित्वयोगतः[1] ।
आत्मनो बन्धनत्वाच्च नोक्तदोषसमुद्भवः ॥२३३॥

क्योंकि यह कर्मप्रकृति अनेक प्रकार की है, क्योंकि उसमें रूप-रूपान्तरण की प्रक्रिया चलती है, क्योंकि उसके द्वारा आत्मा का बंधन संभव हैं इसलिए प्रस्तुत मत में उन दोषों के लिए अवकाश नहीं है जो अभी पीछे वर्णित मत में दिखाए गए थे :

नामूर्त्तं मूर्त्ततां याति मूर्त्तं न यात्यमूर्त्तताम्[2] ।
यतो बन्धाद् यतो न्यायादात्मनोऽसंगतं तया ॥२३४॥

आपत्ति उठाई जा सकती है कि क्योंकि एक मूर्त्त वस्तु अमूर्त्त नहीं बन सकती तथा एक अमूर्त्त वस्तु मूर्त्त नहीं बन सकती, इसलिए यह कहना युक्तिसंगत नहीं कि कर्मप्रकृति के द्वारा आत्मा का बंधन आदि हुआ करता है । इस पर हमारा उत्तर है :

देहस्पर्शादिसंवित्त्या न यात्येवेत्ययुक्तिमत् ।
अन्योन्यव्याप्तिजा चेयमिति बन्धादि संगतम् ॥२३५॥

शरीर को छूने आदि के फलस्वरूप (आत्मा में) अनुभूति का होना सिद्ध करता है कि 'एक अमूर्त्त वस्तु मूर्त्त नहीं बन सकती' यह कहना अ-युक्तिसंगत है; और उक्त अनुभूति का कारण है आत्मा तथा शरीर का परस्पर घनिष्ठ संबन्ध । अतः यह भी सिद्ध हुआ कि कर्म-प्रकृति द्वारा आत्मा का बंधन आदि होना एक युक्ति-संगत मान्यता है ।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि एक शरीर का इस उस प्रकार की वस्तुओं से स्पर्श होने पर इस शरीर में अवस्थित आत्मा इस उस प्रकार की (अर्थात् सुख-दुःखात्मक) अनुभव करने लगती है, और इससे वे निष्कर्ष निकालते हैं कि एक शरीर तथा इस शरीर में अवस्थित आत्मा के बीच कोई घनिष्ठ संबध हुआ करता है । इस अनुभवगोचर दृष्टान्त

---

१. क का पाठ : परिणामत्व°

२ ख का पाठ : नायात्य°

की सहायता से हरिभद्र यह सिद्ध करना चाहते हैं कि चेतन आत्मा का जड़ 'कर्मों' के साथ एक ऐसा घनिष्ठ संबंध होना संभव है जो आत्मा को संसार–बंध में डाल सके।

मूर्त्तयाऽप्यात्मनो योगो घटते नभसो यथा।
उपघातादिभावश्च ज्ञानस्येव सुरादिना ॥२३६॥

मूर्त्त (कर्मप्रकृति) से भी (अमूर्त्त) आत्मा का संबन्ध होना उसी प्रकार संभव है जैसे (मूर्त्त) घट से (अमूर्त्त) आकाश का। और (कर्मप्रकृति से संबन्ध के फलस्वरूप) आत्मा में शक्तिक्षय आदि का होना उसी प्रकार संभव है जैसे सुरा-पान आदि के फलस्वरूप ज्ञान में शक्तिक्षय आदि हुआ करता है।

टिप्पणी—आत्मा तथा 'कर्म' बीच संबन्ध की संभावना सिद्ध करने के लिए हरिभद्र प्रस्तुत कारिका में दो दूसरे दृष्टान्त हमारे सामने उपस्थित करते हैं एक मूर्त्त घट तथा अमूर्त्त आकाश के बीच संबन्ध का दृष्टान्त और दूसरा सुरापान आदि स्थूल शारीरिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप होने वाली ज्ञानह्रास आदि सूक्ष्म मानसिक प्रक्रियाओं का दृष्टान्त। इनमें से पहले दृष्टान्त को समझने के लिए हमें केवल यह स्मरण रखना होगा कि हरिभद्र की मान्यतानुसार घट एक मूर्त्त द्रव्य है तथा आकाश एक अमूर्त्त द्रव्य, उसी प्रकार जैसे कि उनकी मान्यतानुसार कर्म एक मूर्त्त द्रव्य है तथा आत्मा एक अमूर्त्त द्रव्य। और प्रस्तुत दूसरे दृष्टान्त को प्रायः उसी प्रकार से समझना होगा जैसे कि पिछली कारिका का 'शरीर स्पर्श से उत्पन्न आत्म-अनुभूति' का दृष्टान्त।

एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि।
कपिलोक्तत्वतश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः ॥२३७॥

इन कारणों से प्रकृतिवाद को भी एक सच्चा ही वाद माना जाना चाहिए—इसलिए भी कि इस वाद का प्रतिपादन कपिल ने किया है जो एक दैवी महर्षि हैं।

चौथा स्तवक

(१) क्षणिकवाद-खंडन की प्रस्तावना

मन्यन्तेऽन्ये जगत् सर्वं क्लेशकर्मनिबन्धनम् ।
क्षणक्षयि महाप्राज्ञा ज्ञानमात्रं तथाऽपरे ॥२३८॥

कुछ वादियों की मान्यता है कि यह समूचा जगत् (अर्थात् इस जगत् की प्रत्येक वस्तु) दोषयुक्त कर्मों के फलस्वरूप प्रादुर्भूत हुआ है तथा क्षणभंगुर है। कुछ दूसरे महान् बुद्धिमानों का कहना है कि इस जगत् में ज्ञान (अर्थात् चैतन्य) ही एकमात्र वास्तविक तत्त्व है।

त आहुः क्षणिकं सर्वं नाशहेतोरयोगतः ।
अर्थक्रिय मर्थत्वात्[1] परिणामात् क्षयेक्षणात् ॥२३९॥

उनका (अर्थात् क्षणभंगवादियों का) कहना है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु क्षणिक है क्योंकि उसके विनाश का कोई कारण संभव नहीं, क्योंकि वह अर्थक्रिया (=कार्यसिद्धि) करने में समर्थ है, क्योंकि उसमें रूप-रूपान्तरण होता है, क्योंकि उसका नाश होते देखा जाता है।

टिप्पणी— प्रस्तुत कारिका में गिनाई क्षीणकवाद-समर्थक चार युक्तियों का क्रमशः तथा विस्तृत खंडन छठे स्तवक में किया गया है।

ज्ञानमात्रं च यल्लोके ज्ञानमेवानुभूयते ।
नार्थस्तद्व्यतिरेकेण ततोऽसौ नैव विद्यते ॥२४०॥

(विज्ञानवादियों का कहना है कि) इस जगत् में ज्ञान ही एकमात्र वास्तविक तत्त्व है क्योंकि हमें अनुभव एकमात्र ज्ञान का ही होता है; जहाँ तक ज्ञान से अतिरिक्त किसी ज्ञेय-वस्तु का प्रश्न है उसका अनुभव हमें होता नहीं और ऐसी दशा में कहना चाहिए कि ज्ञान से अतिरिक्त किसी ज्ञेय-वस्तु का अस्तित्व है ही नहीं।

अत्राप्यभिदधत्यन्ये स्मरणादेरसंभवात् ।
वाह्यार्थवेदनाच्चैव सर्वमेतदपार्थकम् ॥२४१॥

इस पर भी किन्हीं दूसरे वादियों का कहना है कि ये सब बेकार की बातें हैं, क्योंकि क्षणभंगवाद का सिद्धान्त स्वीकार करने पर स्मरण आदि को असंभव घटनाएँ मानना पड़ेगा जबकि विज्ञानवादी कि मान्यता के विरुद्ध हमें साक्षात् अनुभव होता है कि वाह्य (अर्थात् भौतिक) ज्ञेय वस्तुएँ भी हुआ करती हैं।

---

१. क का पाठः अर्थक्रियाऽस° ।

अनुभूतार्थविषयं स्मरणं लौकिकं यतः ।
कालान्तरे तथाऽनित्ये मुख्यमेतन्न युज्यते ॥२४२॥

सचमुच, पूर्वानुभूत वस्तुओं का कालान्तर में स्मरण, जो एक लोकसिद्ध बात है वास्तविक अर्थ में संभव न होगा यदि जगत् की वस्तुओं को इस प्रकार से (अर्थात् क्षणभंगवादी की भाँति) अनित्य मान लिया जाए (अर्थात् यदि उन्हें क्षणभंगुर मान लिया जाए) ।

सोऽन्तेवासी गुरुः सोऽयं प्रत्यभिज्ञाऽप्यसंगता ।
दृष्टकौतुकमुद्वेगः प्रवृत्तिः प्राप्तिरेव च ॥२४३॥

(क्षणभंगवाद का सिद्धान्त स्वीकार करने पर) यह वही शिष्य है तथा यह वही गुरु है इस प्रकार की पहचान का होना अयुक्तिसंगत सिद्ध होगा; और इसी प्रकार अयुक्तिसंगत सिद्ध होगा एक पूर्वानुभूत वस्तु को पाने की इच्छा करना, उसे न पाने पर उद्विग्न होना, उसे पाने के लिए प्रयत्नशील होना तथा उसे पाना ।

टिप्पणी—यहाँ यशोविजयजी 'दृष्टकौतुकमुद्वेगः' के स्थान पर 'दृष्टकौतुक उद्वेगः (= दृष्टकौतुके उद्वेगः) यह पाठ स्वीकार करते हैं, लेकिन उससे अर्थ में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं आता ।

स्वकृतस्योपभोगस्तु दूरोत्सारित एव हि ।
शीलानुष्ठानहेतुर्यः स नश्यति तदैव यत् ॥२४४॥

उस दशा में अपने किए हुए काम का फल भोगने की संभावना तो एक बहुत दूर की बात हो जाएगी और वह इसलिए कि क्षणभंगवादी की मान्यतानुसार शीलयुक्त आचरण के कारणभूत मन का नाश तत्क्षण हो जाता है ।

टिप्पणी—जैसा कि पहले कहा जा चुका है बौद्धपरंपरा में चेतनतत्त्व को 'मन' नाम दिया गया है तथा उसे क्षणिक माना गया है; इस पर हरिभद्र की प्रस्तुत आपत्ति है कि एक सदाचरण करने वाला मन यदि इस सदाचरण करने के स्थितिक्षण तक ही अस्तित्व में रहता है तो किसी आगामी समय में इस सदाचरण का सुफल भोगना इस मन के लिए कैसे भी सम्भव नहीं होना चाहिए ।

संतानापेक्षयाऽस्माकं व्यवहारोऽखिलो मतः ।
स चैक एव तस्मिंश्च सति कस्मान्न युज्यते ॥२४५॥
यस्मिन्नेव तु संताने आहिता कर्मवासना ।
फलं तत्रैव संधत्ते कर्पासे रक्तता यथा ॥२४६॥

कहा जा सकता है : "उक्त सभी व्यवहारों को हम क्षण-सन्तान (-क्षण-परंपरा) की कल्पना की सहायता से सम्भव सिद्ध करते हैं और यह क्षण-सन्तान हमारे मतानुसार एक है ही; तब क्षण सन्तान की हमारी कल्पना के रहते यह कैसे कहा जा सकता है कि उक्त व्यवहारों के सम्बन्ध में प्रतिपादित हमारी मान्यताएँ युक्तिसंगत नहीं? होता यह है कि कर्मवासना जिस क्षणसंतान में जन्म पाती है उसी में वह आगे चलकर फल को जन्म देती है—उसी प्रकार जैसे कपास के जिस बीज को लाल रंगा जाता है उसी से जन्म पाने वाली कपास लाल रंग की होती है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिकाओं से जाना जा सकता है कि क्षणिकवादी की मान्यतानुसार यद्यपि जगत् की प्रत्येक वस्तु क्षणिक है लेकिन यह भी अपने स्थान पर सच है कि विभिन्न क्षणिक वस्तुएँ विभिन्न 'संतानों' अर्थात् परंपराओं का निर्माण करती हैं। उदाहरण के लिए, एक बीज बोए जाने के समय से लेकर अंकुर उत्पन्न करने के समय तक प्रतिक्षण नया नया रूप धारण करता रहता है—दूसरे शब्दों में वह प्रतिक्षण नया ही बीज बनता रहता है, लेकिन बीज के ये प्रतिक्षण-नवीन रूप—दूसरे शब्दों में, ये प्रतिक्षणनवोत्पन्न बीज, एक परंपरा का निर्माण करते हैं। इस बीजरूप परंपरा अथवा बीजपरंपरा के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उसका एक घटक-विशेष अपने तत्काल परवर्ती घटक का उपादान कारण है जबकि इस घटकविशेष का अपना उपादान कारण है उसका अपना तत्काल पूर्ववर्ती घटक। जैसा कि हम आगे देखेंगे, क्षणिकवादी की इन मान्यताओं के विरुद्ध हरिभद्र की आपत्ति यह है कि यदि उक्त दृष्टान्त में बीज प्रतिक्षण एक नया रूप मात्र धारण करता है तो यह कहना उचित नहीं कि यहाँ बीज प्रतिक्षण एक नया बीज बन जाता है और यदि यहाँ बीज प्रतिक्षण एक नया बीज सचमुच बन जाता है तो यह कहना उचित नहीं कि बीज प्रतिक्षण एक नया रूप धारण करता है। हरिभद्र की अपनी मान्यतानुसार बीज एक स्थायी द्रव्य है जिसकी अवस्थाएँ मात्र प्रतिक्षण बदला करती हैं और उनकी आपत्ति है कि क्षणिकवादी, जो किसी स्थायी वस्तु की सत्ता में विश्वास नहीं रखता, 'क्षणपरंपरा' की अपनी कल्पना की आड़ में अपनी कमजोरी छिपा रहा है। जहाँ तक उपादानकारणता का प्रश्न है हरिभद्र कहेंगे कि उक्त दृष्टान्त में स्थायी बीज उपादान कारण है अपनी प्रतिक्षण-नवीन अवस्थाओं का।

---

१ सन्तान के घटक भूत तत्त्वों के लिए संस्कृत में 'संतानी' शब्द का प्रयोग भी होता है, लेकिन हिन्दी में 'संतान' शब्द ही अपने मूल संस्कृत अर्थ में प्रचलित नहीं।

एतदप्युक्तिमात्रं यन्न हेतुफलभावतः ।
सन्तानोऽन्यः स चायुक्त एवासत्कार्यवादिनः ॥२४७॥

लेकिन यह सब कहना केवल बात बनाना है, क्योंकि जिस 'क्षणसंतान' की कल्पना का सहारा प्रस्तुत वादी ले रहा है वह वस्तुतः कार्यकारणभाव से अतिरिक्त कुछ नहीं और (इस वादी की भांति) असत्कार्यवाद का सिद्धान्त स्वीकार करने पर कार्यकारणभाव की कल्पना अयुक्तिसंगत सिद्ध होती ही है ।

टिप्पणी—जैसा कि अभी कहा जा चुका है, क्षणिकवादी की मान्यतानुसार एक क्षण-परंपरा का निर्माण ऐसे घटक करते हैं जिनमें से प्रत्येक अपने तत्काल परवर्त्ती घटक का उपादानकारण है तथा जिसका अपना उपादानकारण है उसका अपना तत्काल पूर्ववर्त्ती घटक । इसका अर्थ यह हुआ कि क्षणिकवादी की मान्यतानुसार एक कारण (अर्थात् उपादानकारण) अपने कार्य के जन्म के समय उपस्थित नहीं रहता तथा एक कार्य अपने कारण (अर्थात् अपने उपादानकारण) के स्थितिकाल में उपस्थित नहीं रहता। 'असत्कार्यवाद' शब्द का अर्थ है 'वह दार्शनिक सिद्धान्त जिसके अनुसार एक कार्य अपने जन्म के पूर्व सर्वथा असत्ताशील हुआ करता है' । प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र क्षणिकवादी के मत को 'असत्कार्यवाद' नाम दे रहे हैं लेकिन आगामी करिकाओं में वे जिस सिद्धान्त का खंडन करने जा रहे हैं उसकी मूल-मान्यताएँ दो हैं; एक तो यह कि एक कार्य अपने जन्म के पूर्व सर्वथा असत्ताशील हुआ करता है और दूसरी यह कि एक कारण अपने कार्य के जन्म के समय सर्वथा असत्ताशील हो जाया करता है । हरिभद्र की अपनी शब्दावली में पहली मान्यता 'अभाव से भाव की उत्पत्ति' स्वीकार करती हैं तथा दूसरी मान्यता 'भाव से अभाव की'। ठीक अगली कारिका में वे इन दोनों आलोच्य मान्यताओं को शब्दशः हमारे सामने रखते हैं और उसके बाद क्रमांक २४९ से २७५ तक की कारिकाओं में इनमें से दूसरी का खंडन करते हैं जबकि क्रमांक २७६ से ३०२ तक की कारिकाओं में इनमें से पहली का ।

(२) 'भाव अभाव बन जाता है'
इस मत का खंडन

नाभावो भावतां याति शशशृङ्गे तथाऽगतेः ।
भावो नाभावमेतीह तदुत्पत्त्यादिदोषतः ॥२४८॥

एक अभाव रूप वस्तु कभी भाव रूप नहीं बनती, क्योंकि हम देखते हैं कि शशशृंग (जो एक अभाव रूप वस्तु है) कभी भाव रूप नहीं बनता । इसी प्रकार,

एक भावरूप वस्तु कभी अभाव रूप नहीं बनती, क्योंकि उस दशा में इस अभाव रूप वस्तु की उत्पत्ति आदि के प्रश्न को लेकर कठिनाइयाँ उठेंगी ।

टिप्पणी—एक अभावरूप वस्तु की उत्पत्ति आदि के प्रश्न को लेकर उठने वाली जिन कठिनाइयों की ओर इंगित प्रस्तुत कारिका में किया गया है उनका विस्तृत निरूपण ठीक अगली कारिका से प्रारंभ किया गया है ।

सतोऽसत्त्वे तदुत्पादस्ततो नाशोऽपि तस्य यत् ।
तन्नष्टस्य पुनर्भावः सदा नाशे न तत्स्थितिः ॥२४९॥

यदि कहा जाए कि एक भावरूप वस्तु ही अभावरूप बन जाती है तो मानना पड़ेगा कि इस अभाव की उत्पत्ति हुई, और क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश भी होता है, अब हमें मानना पड़ेगा कि एक नष्ट हुई वस्तु (अपने अभाव का नाश होने के फलस्वरूप) दुबारा अस्तित्व में आया करती है। दूसरी ओर, यदि कहा जाए कि एक वस्तु का नाश (=अभाव)सर्वदा स्थाई हुआ करता है तो मानना पड़ेगा कि यह वस्तु कभी अस्तित्व में आती ही नहीं ।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका से प्रारम्भ होने वाले हरिभद्र के क्षणिकवाद-खंडन के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ जिस मान्यता के विरुद्ध आपत्तियाँ उठाई जा रही हैं उसके अनुसार एक वस्तु अपने स्थितिक्षण में सर्वथा सत्ताशील हुआ करती है तथा अपने स्थितिक्षण से अतिरिक्त क्षणों में सर्वथा असत्ताशील; इसके विपरीत, हरिभद्र की अपनी मान्यता यह है कि प्रत्येक वस्तु सदा किसी सीमा तक सत्ताशील हुआ करती है तथा किसी सीमा तक असत्ताशील। हरिभद्र की भाषा में 'प्रत्येक वस्तु क्षण भर टिकने वाली है' यह कहने का अर्थ है कि प्रत्येक वस्तु अपने स्थितिक्षण से अगले क्षण में अभाव रूप हो जाती है अथवा यह कि प्रत्येक वस्तु के स्थितिक्षण से अगले क्षण में इस वस्तु का अभाव उत्पन्न होता है ।

स क्षणस्थितिधर्मा चेद् द्वितीयादिक्षणस्थितौ ।
युज्यते ह्येतदप्यस्य तथा चोक्तानतिक्रमः ॥२५०॥

कहा जा सकता है कि एक वस्तु का नाश (अभाव) क्षण भर टिकने वाला है (न कि सब समय टिकने वाला अथवा कुछ समय टिकने वाला), लेकिन यह कहना तभी युक्तिसंगत ठहरेगा जब उक्त नाश (एक क्षण टिकने के बाद) दूसरे तथा उसके बाद वाले क्षणों में अनुपस्थित रहे और उस दशा में वही पिछली

कठिनाई फिर उठ खड़ी होगी (अर्थात् यह कठिनाई कि एक नष्ट हुई वस्तु अपने अभाव का नाश होने के फलस्वरूप दुबारा अस्तित्व में आया करती है)।

क्षणस्थितौ तदैवास्य नास्थितिर्युक्त्यसंगतेः।
न पश्चादपि सा नेति सतोऽसत्त्वं व्यवस्थितम् ॥२५१॥

सचमुच, एक वस्तु का नाश यदि क्षण भर टिकने वाला है तब यह तो नहीं हो सकता कि यह नाश अपनी स्थिति के क्षण में भी अनुपस्थित रहे क्योंकि वैसा होना एक अयुक्तिसंगत बात होगी। लेकिन उस दशा में (अर्थात् एक वस्तु के नाश को क्षण भर टिकने वाला मानने पर) यह बात तो न होगी कि यह नाश कालान्तर में भी (अर्थात् अपनी स्थिति के क्षण के बाद भी) अनुपस्थित नहीं रहे। और तब प्रस्तुत वादी का मत यही ठहरा कि एक भावरूप वस्तु ही अभाव रूप बन जाती है (जब कि इस सिद्धान्त के विरुद्ध आपत्ति हमने अभी कारिका २४९ में उठाई ही है)।

न तद् भवति चेत् किं न सदा सत्त्वं[1] तदेव यत्।
न भवत्येतदेवास्य भवनं सूरयो विदुः ॥२५२॥

कहा जा सकता है कि एक वस्तु का अभाव अस्तित्व में नहीं आया करता, लेकिन इस पर हमारा पूछना है कि उस दशा में इस वस्तु की सत्ता सदा क्यों नहीं बनी रहती ?। उत्तर दिया जा सकता है कि ऐसा इसलिए कि (एक क्षण बाद) एक वस्तु की सत्ता ही अस्तित्व में नहीं बनी रहती; लेकिन इस पर हमारा कहना होगा कि एक वस्तु की सत्ता के अस्तित्व में न बने रहने को ही बुद्धिमान् लोग उस वस्तु के अभाव का अस्तित्व में आना मानते हैं।

कादाचित्कमदो यस्मादुत्पाद्यस्य तद् ध्रुवम्।
तुच्छत्वान्नेत्यतुच्छस्याप्यतुच्छत्वात् कथं ननु ? ॥२५३॥

और क्योंकि एक वस्तु के अभाव का यह अस्तित्व में आना किसी समयविशेष पर ही हुआ करता है इसलिए इस अभाव की उत्पत्ति आदि की कल्पना करना अनिवार्य हो जाता है। कहा जा सकता है कि अभाव एक तुच्छ (अभावरूप) वस्तु होने के कारण उसकी उत्पत्ति आदि की कल्पना करना उचित नहीं लेकिन इस पर हमारा पूछना है एक अतुच्छ (भावरूप) वस्तु की उत्पत्ति की कल्पना भी इस आधार पर अनुचित क्यों नहीं कि यह वस्तु अतुच्छ है।

१. क का पाठ : सदाऽसत्त्वं

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि अभाव को 'तुच्छ' कहना एक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग भर है; वरना जिस प्रकार भाव रूप वस्तुओं के सम्बन्ध में उत्पत्ति, नाश आदि का प्रश्न उठता है उसी प्रकार का प्रश्न अभाव के संबन्ध में भी उठना चाहिए, यदि प्रस्तुत वादी की तर्कसरणि को स्वीकार करके चला जाए।

तदा भूतेरियं तुल्या तन्निवृत्तेर्न तस्य किम् ।
तुच्छताप्तेर्न भावोऽस्तु नासत् सत् सदसत् कथम् ? ॥२५४॥

उत्तर दिया जा सकता है कि एक अतुच्छ वस्तु तो एक समयविशेष पर अस्तित्व में आती पाई जाती है, लेकिन इस पर हमारा कहना है कि यही बात एक वस्तु के अभाव पर भी लागू होती है (अर्थात् यह अभाव भी किसी समयविशेष पर अस्तित्व में आता पाया जाता है)। कहा जा सकता है कि एक अतुच्छ वस्तु का नाश होता पाया जाता है, लेकिन इस पर भी हमारा पूछना है कि यही बात एक वस्तु के अभाव पर भी लागू क्यों न हो (अर्थात् इस अभाव का भी नाश क्यों न हो)। उत्तर दिया जा सकता है कि एक तुच्छ वस्तु तो तुच्छता प्राप्त किए ही होती है (जबकि एक अतुच्छ वस्तु के नाश का अर्थ होता है उस वस्तु का तुच्छता प्राप्त करना); लेकिन इस पर हमारा सुझाव है कि तुच्छ वस्तुओं को भावरूप मान लिया जाए (ताकि एक तुच्छ वस्तु के नाश की बात युक्तिसंगत ठहर सके)। कहा जा सकता है कि एक अभावरूप वस्तु (जैसी कि तुच्छ वस्तुएँ हुआ करती हैं) भावरूप नहीं बन सकती, लेकिन बदले में हम पूछेंगे कि तब एक भावरूप वस्तु अभावरूप कैसे बन जाती है (जैसी कि प्रस्तुत वादी की मान्यता है)।

स्वहेतोरेव तज्जातं तत्स्वभावं यतो ननु ।
तदनन्तरभावित्वादितरत्राप्यदः समम् ॥२५५॥

उत्तर दिया जा सकता है कि ऐसा इसलिए कि एक भावरूप वस्तु उक्त स्वभाव को (अर्थात् अभाव रूप बन जाने की क्षमता को) साथ लिए हुए ही अपने कारण से जन्म पाती है; लेकिन इस पर हमारा पूछना है कि ठीक यही बात अभाव पर भी लागू क्यों न हो (अर्थात् वह भी भाव रूप बन जाने की क्षमता को साथ लिए हुए ही अपने कारण से जन्म क्यों न पाए) और वह इसलिए कि हम अभाव को एक भावरूप वस्तु के अनन्तर (अर्थात् इस वस्तु को कारण बना कर) उत्पन्न होते पाते ही हैं।

नाहेतोरस्य भवनं न तुच्छे तत्स्वभावता।
ततः कथं नु तद्भाव इति युक्त्या कथं समम् ? ॥२५६॥

कहा जा सकता है : अभाव का जन्म संभव नहीं क्योंकि अभाव का कोई कारण संभव नहीं; और नही एक तुच्छ वस्तु भावरूप हो सकती है। ऐसी दशा में अभाव को भाव रूप कैसे माना जा सकता है, और इस मान्यता को युक्तिसंगत कैसे ठहराया जा सकना है कि जो जो बातें भावरूप वस्तुओं पर लागू होती हैं वे ही अभाव पर भी लागू होनी चाहिए। इस पर हमारा उत्तर है :

स एव भावस्तद्धेतुस्तस्यैव तथाऽस्थितेः ।
स्वनिवृत्तिः स्वभावोऽस्य[1] भावस्येव[2] ततो न किम् ? ॥२५७॥

एक अभाव जिस भावरूप वस्तु के अनन्तर उत्पन्न होता है वही उसका कारण है, क्योंकि यह भावरूप वस्तु ही उस समय (अर्थात् उक्त अभाव के जन्म के समय) अनुपस्थित होती है और ऐसी दशा में स्वयं नष्ट होना अभाव का स्वभाव उसी प्रकार क्यों न माना जाए जैसे कि वह एक भावरूप वस्तु का स्वभाव हुआ करता है।

ज्ञेयत्ववत् स्वभावोऽपि न चायुक्तोऽस्य तद्विधः ।
तदभावे न तज्ज्ञानं तन्निवृत्तेर्गतिः कथम् ? ॥२५८॥

अभाव को भावरूप वस्तुओं की भांति उक्त स्वभाव वाला (अर्थात् अस्तित्वशील) मानना उसी प्रकार अ-युक्तिसंगत नहीं जैसे कि उसे (भावरूप वस्तुओं की भांति) ज्ञेय रूप मानना अयुक्तिसंगत नहीं। सचमुच, यदि अभाव ज्ञेय रूप न हो तो हमें उसका ज्ञान नहीं होना चाहिए और उस दशा में प्रश्न उठेगा कि एक वस्तु के नाश का ज्ञान हमें कैसे हो (यह इसलिए कि एक वस्तु का नाश इस वस्तु का अभाव रूप ही तो है)।

टिप्पणी— इस कारिका के अन्तिम भाग में हरिभद्र एक थोड़ा नया सा प्रश्न उठाते हैं। क्षणिकवादी की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु क्षण भर टिककर नष्ट हो जाती है, हरिभद्र उससे पूछते हैं कि कोई वस्तु नष्ट हो रही है यह ज्ञान हमें कैसे होता है। अगली कुछ कारिकाओं में इसी प्रश्न की चर्चा है।

तत् तद्विधस्वभावं यत् प्रत्यक्षेण तथैव हि ।
गृह्यते तद्गतिस्तेन नैतत् क्वचिदनिश्चयात् ॥२५९॥

---

१ क ख दोनों का पाठ : स्वनिवृत्तिस्व°

२ क का पाठ : भावस्यैव

उत्तर दिया जा सकता है : "क्योंकि स्वयं नष्ट होना एक वस्तु का स्वभाव ही है इस इसलिए हम यह बात (अर्थात् यह बात कि यह वस्तु स्वयं नष्ट हो रही है) प्रत्यक्ष द्वारा जानते हैं, उसी प्रकार जैसे हम प्रत्यक्ष द्वारा यह बात जानते हैं कि यह वस्तु अमुक स्वरूप वाली (अर्थात् नीले आदि स्वरूप वाली है)। यह कारण है कि हमें इस वस्तु के नाश का ज्ञान हो पाता है।" लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि बात ऐसी नहीं क्योंकि कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक वस्तु के नष्ट हो जाने पर भी हमें निश्चय नहीं हो पाता कि वह वस्तु नष्ट हो गई।

समारोपादसौ नेति गृहीतं तत्त्वतस्तु तत् ।
यथाभावग्रहात् तस्यातिप्रसंगाददोऽप्यसत् ॥२६०॥

उत्तर दिया जा सकता है कि उक्त स्थल में वस्तुनाश विषयक निश्चय न होने का कारण समारोप (=भ्रान्ति) है, यद्यपि इस नाश का यथार्थ ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा हो गया होता है—और वह इसलिए कि वस्तुस्वरूप की यथार्थ जानकारी कराना प्रत्यक्ष का स्वभाव है। लेकिन इस पर हमारा कहना है कि यह उत्तर अवाञ्छनीय निष्कर्षों की ओर ले जाने वाला होने के कारण अनुचित है।

गृहीतं सर्वमेतेन तत्त्वतो निश्चयः पुनः ।
मितग्रहसमारोपादिति तत्त्वव्यवस्थितेः ॥२६१॥

(उदाहरण के लिए) तब तो कहा जा सकेगा कि प्रत्यक्ष का स्वरूप ऐसा है कि उसके द्वारा हमें जगत् की सभी वस्तुओं का ग्रहण (=ज्ञान) सचमुच हो जाया करता है लेकिन इनमें से उन्हीं वस्तुओं का हमें निश्चय हुआ करता है जिनके विषय में परिमित ज्ञान का समारोप (=भ्रान्ति) हम कर बैठे होते हैं (अर्थात् जिनके सम्बन्ध में भूल वश हम यह समझ बैठे होते हैं कि हम इन्ही वस्तुओं को जानते हैं)।

टिप्पणी — यशोविजयजी की सूचनानुसार प्रस्तुत कारिका में 'तत्त्वतो निश्चयः पुनः' के स्थान पर एक पाठान्तर 'तत्त्वतोऽनिश्चयः पुनः' यह भी है; उसे स्वीकार करने पर संबंधित कारिका-भाग का हिन्दी अनुवाद होगा "....लेकिन इन सब वस्तुओं का निश्चय हमें इसलिए नहीं होता कि उन उन वस्तुओं के संबंध में परिमित ज्ञान का समारोप (=भ्रान्ति) हम कर बैठे होते हैं....।"

---

१. क का पाठ : यथा भाव

एकत्र निश्चयोऽन्यत्र निरंशानुभवादपि ।
न तथा पाटवाभावादित्यपूर्वमिदं तमः ॥२६२॥

यह कहना अपूर्व अज्ञान का सूचक है कि एक अंशहीन अनुभव भी अनुभूत विषय के एक अंश के सम्बन्ध में तो निश्चय (अर्थात् निश्चित जानकारी) करा पाता है लेकिन असमर्थ होने के कारण उसी विषय के एक दूसरे अंश के सम्बन्ध में वैसा नहीं करा पाता ।

टिप्पणी—प्रस्तुत वादी इस संभावना को स्वीकार कर रहा है कि कोई प्रत्यक्ष ज्ञान अपना विषय बनी हुइ वस्तु के स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी तो करा पाए लेकिन इस वस्तु के हो रहे नाश के सम्बन्ध में नहीं; इस पर हरिभद्र की आपत्ति है कि जब उक्त वस्तु का स्वरूप तथा उसका हो रहा नाश दोनों ही एक ही प्रत्यक्षज्ञान के विषय हैं तब यह सम्भव नहीं कि इनमें से एक के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी तो ज्ञाता को हो लेकिन दूसरे के सम्बन्ध में नहीं।

स्वभावक्षणतो ह्यूर्ध्वं तुच्छता तन्निवृत्तितः ।
नासावेकक्षणग्राहिज्ञानात् सम्यग् विभाव्यते ॥२६३॥

एक वस्तु के स्थितिक्षण से अगले क्षणों में रहने वाले उस वस्तु के विनाशजन्य अभाव का यथावत् स्वरूप-निर्धारण वह प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं करा सकता जिसका विषय एक क्षणमात्र (अर्थात् अपना विषय बनी हुई वस्तु का स्थिति-क्षण मात्र) है।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय एक वस्तु का वर्त्तमान स्वरूप बनता है इस वस्तु का आगामी रूप नहीं ।

तस्यां च नागृहीतायां तत्तथेति विनिश्चयः ।
न हीन्द्रियमतीतादिग्राहकं सद्भिरिष्यते ॥२६४॥

और एक वस्तु के अभाव को जब तक यथार्थ ज्ञान का विषय नहीं बना लिया जाए तब तक निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि यह वस्तु इस अभाव वाली है ही । सचमुच बुद्धिमान् लोगों की यह मान्यता नहीं कि प्रत्यक्ष द्वारा भूतकालीन आदि (अर्थात् भूतकालीन, भविष्यत्कालीन आदि) वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र इस संभावना का अधिक सीधे रूप से खंडन करते हैं कि एक वस्तु का आगामी विनाश उसी प्रत्यक्षज्ञान का

विषय बन सकता है जिसका विषय इस वस्तु का वर्तमान स्थितिक्षण है। उनका सीधा तर्क है कि प्रत्यक्षज्ञान का विषय एक वर्तमान वस्तु हुआ करती है एक आगामी वस्तु (अथवा एक भूतपूर्व वस्तु नहीं) । हरिभद्र की समझ है कि इस प्रकार वे यह सिद्ध करने में समर्थ हो गए कि प्रत्यक्ष-ज्ञान क्षणिकवादी की इस मान्यता का समर्थन नहीं करता कि जगत् की प्रत्येक वस्तु क्षणिक है; (आगे चलकर वे यह सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे कि अनुमानज्ञान भी क्षणिकवादी की इस मान्यता का समर्थन नहीं करता) ।

अन्तेऽपि दर्शनं नास्य कपालादिगतेः क्वचित् ।
न तदेव घटाभावो भावत्वेन प्रतीतितः ॥२६५॥

(यह तो हुई एक तथाकथित क्षणभंगुर वस्तु के अभाव की बात;) कालान्तर में भी हमें एक वस्तु के (उदाहरण के लिए, घड़े के) अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु होता है घड़े के टुकड़े आदि भावरूप वस्तुओं का ही। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये घड़े के टुकड़े ही घड़े का अभाव हैं, क्योंकि इन टुकड़ों का प्रत्यक्ष हमें भावरूप से होता है ।

टिप्पणी— हरिभद्र अब तक इस प्रश्न की चर्चा कर रहे थे कि क्या कोई वस्तु अपने जन्म के अगले ही क्षण में सर्वथा विनष्ट हो जाती हैं; अब वे इस प्रश्न की चर्चा प्रारंभ करते हैं कि क्या कोई वस्तु कभी सर्वथा विनष्ट होती है । [हरिभद्र की अपनी समझ है कि कोई वस्तु न सर्वथा – अर्थात् नए सिरे से – उत्पन्न होती है न सर्वथा – अर्थात् जड़-मूल से विनष्ट होती है ।]

न तद्गतेर्गतिस्तस्य प्रतिबन्धविवेकतः ।
तस्यैवाभवनत्वे तु भावाविच्छेदतोऽन्वयः ॥२६६॥

यह भी नहीं कहा जा सकता कि घड़े के टुकड़ों का ज्ञान घड़े के अभाव के ज्ञान का कारण बनता है क्योंकि घड़े के टुकड़ों तथा घड़े के अभाव के बीच किसी प्रकार का व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं (अर्थात् उनके बीच अनुमान-अनुमेय-भाव नहीं)। कहा जाए कि घड़े के टुकड़ों का होना ही घड़े का न होना है तो यह मान लिया गया कि प्रस्तुत स्थल में भावरूप वस्तुओं की परंपरा का विच्छेद नहीं हुआ--जिसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ एक भूतपूर्व भावरूप वस्तु ने ही एक नया रूप धारण कर लिया ।

टिप्पणी—हरिभद्र की अपनी मान्यतानुसार जगत् की प्रत्येक वस्तु किसी स्थायी तत्त्व की एक अवस्थाविशेष मात्र है; वस्तुस्वरूप के स्थायिता के पहलू को जैनदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में 'अन्वय', 'सामान्य', 'द्रव्य' आदि कहा गया है तथा वस्तुस्वरूप के अवस्थायिता के पहलू को 'व्यतिरेक', 'विशेष', 'पर्याय' आदि। प्रस्तुत कारिका में आए 'अन्वय' शब्द का अर्थ इसी पृष्ठभूमि में समझना चाहिए।

तस्मादवश्यमेष्टव्यं तदूर्ध्वं तुच्छमेव तत्।
ज्ञेयं सद् ज्ञायते[1] ह्येतदपरेणापि युक्तिमत् ॥२६७॥

अतः यह मानना ही चाहिए कि एक भावरूप वस्तु के स्थितिक्षण के अनन्तर एक अभावरूप वस्तु का जन्म होता है; और क्योंकि यह अभावरूप वस्तु ज्ञेयरूप है यह कहना युक्तिसंगत है कि वह भावरूप से (अर्थात् अस्तित्व-शील रूप से) एक दूसरे ज्ञान का भी विषय बनती है (अर्थात् उस ज्ञान का जिसका जन्म उक्त भावरूप वस्तु के स्थितिक्षण के अनन्तर होता है)।

टिप्पणी—एक भावरूप वस्तु के स्थितिक्षण से अगले क्षण में एक अभाव रूप वस्तु का जन्म होता है इस मान्यता से हरिभद्र को तत्त्वतः इनकार नहीं; लेकिन वे प्रस्तुत वादी की इस अतिरिक्त मान्यता का खंडन कर रहे हैं कि उक्त अभावरूप वस्तु उक्त भावरूप वस्तु के सर्वथा विनाश की सूचक है। जैसा कि हम अभी देखेंगे, अपनी अभीष्ट मान्यता को प्रस्तुत वादी स्वयं यह कह कर नहीं उपस्थित करता कि एक भावरूप वस्तु अपने स्थिति-क्षण से अगले क्षण में अभावरूप (अथवा सर्वथा अभाव रूप) बन जाती है; उसका तो केवल इतना कहना है कि एक भावरूप वस्तु अपने अपने स्थितिक्षण से अगले क्षण में सर्वथा विनष्ट हो जाती है। लेकिन हरिभद्र इन दोनों कथनों को समानार्थक मानते हैं।

नोत्पत्त्यादेस्तयोरैक्यं तुच्छेतरविशेषतः।
निवृत्तिभेदतश्चैव बुद्धिभेदाच्च भाव्यताम् ॥२६८॥

यद्यपि उक्त भावरूप तथा अभावरूप दोनों प्रकार की वस्तुओं की उत्पत्ति आदि होती है लेकिन इतने से ही वे सर्वथा एक सी नहीं बन जाती, और वह इसलिए कि इनमें से एक भावरूप है तथा दूसरी अभावरूप, इसलिए कि इनमें से एक का अभाव एक प्रकार का है तथा दूसरी का दूसरे प्रकार का (अर्थात् पहली

---

१ क का पाठ : संज्ञायते

का अभाव अभावरूप है तथा दूसरी का भावरूप), इसलिए कि इनमें से एक की प्रतीति एक रूप से होती है तथा दूसरी की दूसरे रूप से।

एतेनैतत् प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं न्यायमानिना।
न तत्र किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवलम् ॥२६९॥

उक्त तर्कसरणि से हमने न्यायाभिमानी (धर्मकीर्ति) के निम्नलिखित वक्तव्य का भी खंडन कर दिया : "एक भावरूप वस्तु के नाशके समय नष्ट हुई वस्तु के स्थान पर कोई नई वस्तु अस्तित्व में नहीं आती अपितु होता केवल इतना है कि वही भावरूप वस्तु अस्तित्व में बनी नहीं रहती।"

भावे ह्येष विकल्पः स्याद् विधेर्वस्त्वनुरोधतः।
न भावो भवतीत्युक्तमभावो भवतीत्यपि ॥२७०॥

इस प्रकार का विकल्प (कि अमुक वस्तु अमुक दूसरी वस्तु से भिन्न है या अभिन्न) भावरूप वस्तुओं के सम्बन्ध में ही उठना चाहिए, और वह इसलिए कि इन उन मान्यताओं का प्रतिपादन वस्तुओं के (अर्थात् भावरूप वस्तुओं के) संबंध में ही संभव है। अतः जब कहीं यह कहा जाता है कि 'अमुक अभाव अस्तित्व में आया' तब उसका भी अर्थ यही होता है कि 'अमुक भावरूप वस्तु अस्तित्व में नहीं रही'।

एतेनाहेतुकत्वेऽपि ह्यभूत्वा नाशभावतः।
सत्ताऽनाशित्वदोषस्य[1] प्रत्याख्यातं प्रसञ्जनम् ॥२७१॥

अतः यद्यपि हम नाश को अहेतुक मानते हैं फिर भी हम अपने मत के विरुद्ध उठाई गई इस आपत्ति का उत्तर दे सके हैं कि जब एक भावरूप वस्तु का नाश पहले अस्तित्व में न रहने के बाद अस्तित्व में आता है तब आगे चलकर (इस नाश का नाश होने के फलस्वरूप) उक्त भाव रूप वस्तु अविनष्ट बन जानी चाहिए (अर्थात् उसे पुनः अस्तित्व में आ जाना चाहिए)।

टिप्पणी—क्षणिकवादी द्वारा समर्थित नाश-अहेतुकतावाद का विस्तृत खंडन हरिभद्र छठे स्तवक में करने जा रहे हैं। यहाँ हमें इतना ही समझ लेना है कि क्षणिकवादी की दृष्टि में 'प्रत्येक वस्तु क्षणिक है,' 'प्रत्येक वस्तु स्वभावतः नाशवान् है', 'प्रत्येक वस्तु का नाश किसी कारण की प्रतीक्षा किए बिना होता है', 'प्रत्येक वस्तु का नाश अहेतुक है' आदि वाक्य सर्वथा समानार्थक हैं।

---

१ ख का पाठ : सत्वाना°

प्रतिक्षिप्तं च यत् सत्ताऽनाशित्वागोऽनिवारितम्[1] ।
तुच्छरूपा तदाऽसत्ता भावाप्तेर्नाशितोदिता ॥२७२॥

धर्मकीर्त्ति के उक्त वक्तव्य का खंडन हमने यह दिखाकर कर दिया कि उनका मत स्वीकार करने पर एक नष्ट हुई वस्तु के पुनः अविनष्ट बन जाने वाली आपत्ति उठे बिना नहीं रहती। यह इसलिए कि एक वस्तु के स्थितिक्षण से अगले क्षणों में उसका अभाव तुच्छ रूप है जब कि प्रस्तुत वादी को यह मानने के लिए हम वाध्य कर चुके कि एक तुच्छ रूप वस्तु भावरूप अतः विनाशी है।

भावस्याभवनं यत् तदभावभवनं तु यत्।
तत्तथाधर्मके ह्युक्तविकल्पो न विरुध्यते ॥२७३॥

वस्तुतः एक भावरूप वस्तु का न होना ही उस वस्तु के अभाव का होना है; यही कारण है कि उन उन धर्मों वाले (अर्थात् ज्ञेयता, सत्ता आदि धर्मों वाले) इस अभाव के संबंध में पूर्वोक्त प्रकार का विकल्प भी उठाना अनुचित नहीं (अर्थात् यह विकल्प कि यह अभाव उक्त भावरूप वस्तु से भिन्न है अथवा अभिन्न)।

तदेव न भवत्येतद् विरुद्धमिव लक्ष्यते ।
तदेव वस्तुसंस्पर्शाद् भवनप्रतिषेधतः ॥२७४॥

फिर (धर्मकीर्त्ति का) यह कहना कि (नाश-स्थल में) वही (अर्थात् एक भूतपूर्व वस्तु ही) अस्तित्व में रहना समाप्त कर देती है एक अन्तर्विरोध-पूर्ण सा वक्तव्य है, क्योंकि 'वही' शब्द के प्रयोग से लगता है कि इस शब्द द्वारा सूचित पदार्थ वस्तुरूप (अर्थात् अस्तित्वशील रूप है) जब कि दूसरी ओर इसी पदार्थ के संबन्ध में कहा जा रहा है कि वह अस्तित्व में नहीं रहता।

सतोऽसत्त्वं यतश्चैवं सर्वथा नोपपद्यते ।
भावो नाभावमेतीह ततश्चैतद् व्यवस्थितम् ॥२७५॥

इस प्रकार जब यह सिद्ध हो गया कि अस्तित्व में रहने वाली वस्तु का अस्तित्व में न रहना किसी भी प्रकार संभव नहीं तब यह मत भी स्थिर हो गया कि एक भावरूप वस्तु अभावरूप नहीं बनती।

(३) 'अभाव भाव बन जाता है' इस मत का खंडन

असतः सत्त्वयोगे तु तत्तथाशक्तियोगतः ।
नासत्त्वं तदभावे तु न तत्सत्त्वं तदन्यवत् ॥२७६॥

---

१ ख का पाठः सत्त्वाना°

एक अभाव रूप वस्तु से एक भाव रूप वस्तु की उत्पत्ति संभव मानने पर भी एक द्विविधा उठ खड़ी होती है, क्योंकि यदि माना जाए कि उक्त अभावरूप वस्तु उक्त भावरूप वस्तु को जन्म देने की क्षमता से सम्पन्न है तब तो वह अभावरूप वस्तु अभावरूप नहीं रही (यह इसलिए कि किसी क्षमता से सम्पन्न होना एक भावरूप वस्तु के लिए ही संभव है), और यदि माना जाए कि उक्त अभावरूप वस्तु उक्त भावरूप वस्तु को जन्म देने की क्षमता से शून्य है तब इस स्थल पर इस भावरूप वस्तु का अस्तित्व उसी प्रकार असंभव होना चाहिए जैसे कि किसी अन्य वस्तु का।

टिप्पणी—जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रस्तुत कारिका से हरिभद्र क्षणिकवादी की इस मान्यता का खंडन प्रारम्भ करते हैं कि एक कार्य अपने जन्म से पूर्व सर्वथा असत्ताशील हुआ करता है -- अर्थात् उस मान्यता का जिसका पारिभाषिक नाम 'असत्कार्यवाद' है। हरिभद्र की समझ है कि 'अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है' यह कथन भी उक्त मान्यता को ही व्यक्त करने का एक प्रकारविशेष है, और इस संबन्ध में उनका मुख्य कहना यह है कि किसी कार्य को जन्म देने की क्षमता एक सर्वथा अभाव रूप वस्तु में नहीं रह सकती। [हरिभद्र का अपना मत यह है कि जगत् की वे वे वस्तुएँ, जो उन उन कार्यों को जन्म देने की क्षमता रखती हैं, भावरूप तथा अभावरूप दोनो हैं।]

असदुत्पद्यते तद्धि विद्यते यस्य कारणम्।
विशिष्टशक्तिमत् तच्च ततस्तत्सत्त्वसंस्थितिः ॥२७७॥

कहा जा सकता है : "अस्तित्व में न रही हुई वही वस्तु अस्तित्व में आया करती है जिसका कारण उपस्थित हो, और क्योंकि यह कारण एक विशिष्ट क्षमता वाला है (अर्थात् उक्त वस्तु को जन्म देने की क्षमता वाला है) इसलिये उसके द्वारा उक्त वस्तु का नियमतः अस्तित्व में लाया जाना संभव बनता है"। इस पर हमारा उत्तर है —

टिप्पणी—प्रस्तुत वादी का आशय यह है कि यद्यपि अपनी उत्पत्ति के ठीक पूर्व अपने उत्पत्ति-स्थल पर एक कार्य उसी प्रकार अनुपस्थित रहता है जैसे अन्य कोई वस्तु, लेकिन क्योंकि उस समय उस स्थल पर इस कार्य का कारण उपस्थित रहता है इसलिए यह कार्य अस्तित्व में आ पाता है।

अत्यन्तासति सर्वस्मिन् कारणस्य न युक्तितः।
विशिष्टशक्तिमत्त्वं हि कल्प्यमानं विराजते ॥२७८॥

जो वस्तु अस्तित्व से सर्वथा शून्य है उसके सम्बन्ध में यह कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता कि कोई कारणविशेष एक विशिष्ट क्षमता वाला है (अर्थात् यह कि कोई कारणविशेष उस वस्तु को जन्म देने की क्षमता वाला है) ।

तत्सत्त्वसाधकं तन्न तदेव हि तदा न यत् ।
अत एवेदमिच्छन्तु न चै तस्येत्ययोगतः[1] ॥२७९॥

कहा जा सकता है कि उक्त वस्तु का कारण उसे अस्तित्व में लाने वाला (अतः उसे जन्म देने की क्षमता वाला) है, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि ऐसा नहीं माना जा सकता और वह इसलिए कि प्रस्तुत वादी के मतानुसार यह वस्तु अपने जन्म से पूर्व सर्वथा अस्तित्व-शून्य है। उत्तर दिया जा सकता है कि क्योंकि उक्त वस्तु अपने जन्म से पूर्व सर्वथा अस्तित्वशून्य है इसीलिए तो उसके कारण को उसे अस्तित्व में लाने वाला (अतः उसे जन्म देने की क्षमता वाला) मान लिया जाना चाहिए; लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि बात ऐसी नहीं और वह इसलिए कि जो वस्तु सर्वथा अस्तित्वशून्य है उसके संबंध में यह कहना उचित नहीं कि अमुक कोई दूसरी वस्तु 'उसे' अस्तित्व में लाती है ।

टिप्पणी—यहाँ यशोविजयजी 'इच्छन्तु' के स्थान पर 'इत्थं तु' यह पाठ स्वीकार करते हैं लेकिन उससे कारिका के अर्थ में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं पड़ता ।

वस्तुस्थित्या तथा तद्यत् तदनन्तरभावि तत् ।
नान्यत् ततश्च नाम्नेह न तथाऽस्ति प्रयोजनम् ॥२८०॥

उत्तर दिया जा सकता है : "वस्तुस्थितिवश एक वस्तु एक दूसरी वस्तु को अस्तित्व में लाने वाली कही जाती है क्योंकि यह दूसरी वस्तु इस वस्तु के अनन्तर (= ठीक बाद) उत्पन्न होती है तथा अन्य कोई वस्तु इस वस्तु के अनन्तर उत्पन्न नहीं होती; ऐसी दशा में नाम संबंधी चर्चा से हमें कोई प्रयोजन नहीं (अर्थात् इस चर्चा से हमें कोई प्रयोजन नहीं कि उक्त वस्तु को 'उक्त दूसरी वस्तु को अस्तित्व में लाने वाली' यह नाम दिया जाए या नहीं) ।" इस पर हमारा कहना है —

नाम्ना विनाऽपि तत्त्वेन विशिष्टावधिना विना ।
चिन्त्यतां यदि सन्न्यायाद् वस्तुस्थित्याऽपि तत्तथा ॥२८१॥

---

१ क का पाठः न चैतस्ये°

यदि नाम की बात छोड़ दी जाए तो भी सोचना चाहिए कि क्या वस्तु-स्थितिवश भी कोई वस्तु एक विशिष्ट अवधि वाली सचमुच हुए बिना किसी दूसरी वस्तु को अस्तित्व में लाने वाली (अर्थात् इस दूसरी वस्तु का कारण) सचमुच कही जा सकती है।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि 'एक कारणविशेष एक कार्य-विशेष को जन्म देने की क्षमता वाला है' यह कहने का अर्थ हुआ कि उक्त कार्य उक्त कारण की 'विशिष्ट अवधि (=विशिष्ट सीमा)' है, और तब वे तर्क देते हैं कि क्योंकि एक सर्वथा असत्ताशील वस्तु किसी दूसरी वस्तु की 'विशिष्ट अवधि' नहीं बन सकती इसलिए उक्त कार्य अपने जन्म के पूर्व भी सर्वथा असत्ताशील नहीं।

साधकत्वे तु सर्वस्य ततो भावः प्रसज्यते ।
कारणाश्रयणेऽप्येवं न तत्सत्त्वं तदन्यवत् ॥२८२॥

यदि कहा जाए कि कोई वस्तु एक विशिष्ट अवधि वाली हुए बिना भी एक दूसरी वस्तु को अस्तित्व में ला सकती है तब तो यह वस्तु दूसरी सभी वस्तुओं को अस्तित्व में लाने वाली होनी चाहिए; और ऐसी दशा में एक कारणभूत वस्तु की उपस्थिति में भी इस कारण की कार्यभूत वस्तु का जन्म नहीं होना चाहिए उसी प्रकार जैसे कि उस स्थिति में अन्य वस्तुओं का जन्म नहीं हुआ करता।

किञ्च तत् कारणं कार्यभूतिकाले न विद्यते ।
ततो न जनकं तस्य तदाऽसत्त्वात्[1] परं यथा ॥२८३॥

दूसरे, क्योंकि प्रस्तुत वादी की मान्यतानुसार एक कारण अपने कार्य के जन्म के समय वर्त्तमान नहीं रहता हम अनुमान दे सकते हैं : "यह कारण इस कार्य को उत्पन्न करने वाला नहीं, क्योंकि यह कारण इस कार्य के जन्म के समय वर्त्तमान नहीं—उसी प्रकार जैसे कि दूसरा कोई कारण।"

अनन्तरं च तद्भावस्तत्त्वादेव निरर्थकः ।
समं च हेतुफलयोर्नाशोत्पादावसङ्गतौ ॥२८४॥

कहा जा सकता है कि एक कारण अपने कार्य के अनन्तर (=ठीक पहले) तो उपस्थित रहता है, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि इस अनन्तरता के आधार पर ही तो (अर्थात् इस आधार पर ही तो कि कारण तथा कार्य आगे-पीछे आते हैं) हम यह कह रहे हैं कि जहाँ तक उक्त कार्य की उत्पत्ति का संबन्ध है

१. क का पाठ : तदा सत्त्वात्

उक्त कारण का कोई उपयोग नहीं। दूसरे, एक कारण का नाश तथा इस कारण के कार्य की उत्पत्ति इन दो घटनाओं को समकालीन मानना युक्तिसंगत नहीं (जब कि क्षणिकवादी उन्हें समकालीन मानता है)।

स्तस्तौ भिन्नावभिन्नौ वा ताभ्यां भेदे तयोः कुतः।
नाशोत्पादावभेदे तु तयोर्वै तुल्यकालता ॥२८५॥

हम पूछते हैं कि कारण का नाश कारण से तथा कार्य की उत्पत्ति कार्य से भिन्न है अथवा अभिन्न। यदि वे परस्पर भिन्न हैं तब इस नाश को कारण का नाश कैसे कहा जाए तथा इस उत्पत्ति को कार्य की उत्पत्ति कैसे कहा जाए; और यदि वे परस्पर अभिन्न हैं तब उक्त मान्यता का (अर्थात् इस मान्यता का कि कारण का नाश तथा कार्य की उत्पत्ति दो परस्पर–समकालीन घटनाएँ हैं) अर्थ कारण तथा कार्य को समकालीन मानना हुआ।

न हेतुफलभावश्च तस्यां सत्यां हि युज्यते।
तन्निबन्धनभावस्य द्वयोरपि वियोगतः ॥२८६॥

लेकिन जब दो वस्तुएँ परस्पर समकालीन हैं तो उनके बीच कार्य कारण भाव मानना युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि ऐसी दो वस्तुएँ कार्य कारण भाव की नियामकभूत विशेषताओं से (उदाहरण के लिए, एक की उपस्थिति में दूसरी का उपस्थित होना तथा एक की अनुपस्थिति में दूसरी का अनुपस्थित होना) शून्य हुआ करती हैं।

टिप्पणी—अभी कारिका २८३ में हरिभद्र ने क्षणिकवादी के विरुद्ध आपत्ति उठाते समय कहा था कि कारण को कार्य का समकालीन होना चाहिए, जब कि प्रस्तुत कारिका में वे कह रहे हैं कि दो समकालीन वस्तुओं के बीच कार्य-कारण भाव संभव नहीं। यहाँ समझना यह है कि हरिभद्र के मतानुसार कारण (अर्थात् उपादानकारण) अपने कार्य की उत्पत्ति के पूर्व भी उपस्थित रहता है तथा इस उत्पत्ति के समय भी–अतः पिछली कारिका में हरिभद्र की आपत्ति का आशय यह–था कि क्षणिकवादी के मतानुसार कारण कार्य की उत्पत्ति के समय उपस्थित नहीं जब कि उनकी प्रस्तुत आपत्ति का आशय यह होना चाहिए कि उसके मतानुसार कारण कार्य की उत्पत्ति के पूर्व उपस्थित नहीं।

कल्पितश्चेदयं धर्मधर्मिभावो हि भावतः।
न हेतुफलभावः स्यात् सर्वथा तदभावतः ॥२८७॥

कहा जा सकता है कि कारण तथा नाश के बीच और कार्य तथा उत्पत्ति के बीच रहने वाला धर्म–धर्मिभाव वस्तुतः काल्पनिक है; लेकिन इस पर हमारा कहना है कि धर्म-धर्मिभाव को असत्ताशील (क्योंकि काल्पनिक) मानने का अर्थ होगा कार्यकारणभाव के अस्तित्व से ही इनकार करना (यह इसलिए कि प्रस्तुत वादी के मतानुसार एक कारण की कारणता ही इस बात में हैं कि उसका नाश होने पर कार्य उत्पन्न हो जब कि यहाँ वह कह रहा है कि कारण का नाश एक काल्पनिक घटना है वास्तविक घटना नहीं)।

न धर्मी[1] कल्पितो धर्मधर्मिभावस्तु कल्पितः ।
पूर्वो हेतुर्निरंशः स उत्तरः फलमुच्यते ॥२८८॥

कहा जा सकता है कि यहाँ धर्मी को नहीं अपितु धर्म-धर्मिभाव को काल्पनिक बतलाया जा रहा है जब कि पूर्वक्षण में रहने वाला अंशहीन धर्मी कारण कहलाता है तथा उत्तर क्षण में रहने वाला अंशहीन धर्मी कार्य। इस पर हमारा उत्तर है।

टिप्पणी—यहाँ धर्मी को 'अंशहीन' कहने का अर्थ यह है कि यह धर्मी केवल धर्मी है किन्हीं धर्मों को धारण करने वाला धर्मी नहीं।

पूर्वस्यैव तथाभावाभावे हन्तोत्तरं कुतः ।
तस्यैव तु तथाभावेऽसतः सत्त्वमदो न सत् ॥२८९॥

पूर्वक्षणकालीन धर्मी का ही रूपान्तरण हुए बिना उत्तरक्षणकालीन धर्मी अस्तित्व में कैसे आएगा ?; और यदि यह मान लिया गया कि पूर्वक्षणकालीन धर्मी के रूपान्तरण के फलस्वरूप उत्तरक्षणकालीन धर्मी अस्तित्व में आता है तब यह कहना उचित नहीं कि कार्योत्पत्ति के समय एक सर्वथा असत्ताशील वस्तु अस्तित्व में आया करती है।

टिप्पणी–एक कार्यभूत वस्तु अपनी कारणभूत वस्तु का रूपान्तरण हुआ करती है यह मान्यता स्वयं हरिभद्र को तत्त्वतः स्वीकार्य है। इस मान्यता को ठीक क्या रूप देना उन्हें अभीष्ट है यह हम सातवें स्तवक में जानेंगे।

तं प्रतीत्य तदुत्पाद इति तुच्छमिदं वचः ।
अतिप्रसंगतश्चैव तथा चाह महामतिः ॥२९०॥

प्रस्तुत वादी का यह कहना भी (पूर्वोक्त कारण से) बेकार की बात है कि कार्य का जन्म कारण पर निर्भर रहते हुए हुआ करता है; दूसरे, ऐसा कहना

१ क का पाठः धर्मः

(कुछ नए) अवाञ्छनीय निष्कर्षों को ला उपस्थित करता है (उदाहरण के लिए, तब तो एक कारणविशेष अपने उत्तरक्षणवर्त्ती समूचे विश्व का कारण होना चाहिए किसी कार्यविशेष का नहीं)। जैसा कि महामति का कहना है।

टिप्पणी---यहाँ 'महामति' से हरिभद्र को कोई ग्रंथकारविशेष अभीष्ट होना चाहिए।

सर्वथैव तथाभाविवस्तुभावादृते न यत्।
कारणानन्तरं कार्यं द्राग् नभस्तस्ततो न तत् ॥२९१॥

"जो वादी रूपान्तरणशील वस्तुओं के अस्तित्व से सर्वथा इनकार करता है उसके मतानुसार एक कार्य का अपने कारण के अनन्तर उत्पन्न होना उसी प्रकार असंभव है जैसे कि उसका आकाश से टपकना, और इसका अर्थ यह हुआ कि इस वादी के मतानुसार कोई कार्य उत्पन्न ही नहीं होता।

तस्यैव तत्स्वभावत्वकल्पनासम्पदप्यलम्।
न युक्ता युक्तिवैकल्यराहुणा जन्मपीडनात् ॥२९२॥

'अपने कारण के अनन्तर उत्पन्न होना एक कार्य का स्वभाव ही है' इस प्रकार की कल्पना गढ़ना भी सर्वथा अयुक्तिसंगत है और वह इसलिए कि इस कल्पना का जन्म युक्तिशून्यता रूपी दुष्ट ग्रह से पीड़ित घड़ी में हुआ है।

तदनन्तरभावित्वमात्रतस्तद्व्यवस्थितेः।
विश्वस्य विश्वकार्यत्वं स्यात् तद्भावाविशेषतः ॥२९३॥

यदि एक वस्तु को एक दूसरी वस्तु का कार्य केवल इस आधार पर कहा जाए कि यह वस्तु इस दूसरी वस्तु के अनन्तर उत्पन्न हुई है तब तो (उत्तरक्षणकालीन) समूचे विश्व को (पूर्वक्षणकालीन) समूचे विश्व का कार्य कहा जा सकेगा; क्योंकि यह भी एक वस्तु (= पूर्वक्षणकालीन विश्व) के अनन्तर एक दूसरी वस्तु (= उत्तरक्षणकालीन विश्व) के उत्पन्न होने का स्थल तो है ही।

अभिन्नदेशतादीनामसिद्धत्वादनन्वयात्।
सर्वेषामविशिष्टत्वान्न तन्नियमहेतुता ॥२९४॥

क्योंकि प्रस्तुत वादी की यह मान्यता प्रमाणसिद्ध नहीं कि कारण तथा कार्य के बीच एकदेशता आदि रूप संबंध हुआ करते हैं। और क्योंकि उसके मतानुसार कार्य-कारण का रूपान्तर नहीं उसे मानना ही पड़ेगा कि

उत्तरक्षणकालीन विश्व की सभी वस्तुओं का पूर्वक्षणकालीन विश्व की सभी वस्तुओं के साथ एक सा सम्बन्ध है; और ऐसी दशा में उसके लिए ऐसे किसी नियम का निर्धारण करना संभव न होगा जिसकी सहायता से हम जान सकें कि अमुक वस्तुविशेष का कारण अमुक वस्तुविशेष है।

टिप्पणी—हरिभद्र की आपत्ति है कि प्रस्तुत वादी का मत स्वीकार करने पर इस उस वस्तु को इस उस वस्तु का कारण नहीं माना जा सकेगा बल्कि यही कहना पड़ेगा कि पूर्वक्षणकालीन समूचा विश्व उत्तरक्षणकालीन समूचे विश्व का कारण है। अपने बचाव में प्रस्तुत वादी दो बातें कह सकता है:— (१) यह कि एक पूर्वक्षणकालीन वस्तुविशेष एक उत्तरक्षणकालीन वस्तुविशेष का कारण बन सकती है, बशर्ते कि ये दोनों वस्तुएँ एक ही स्थान पर अवस्थित हों; (२) यह कि एक पूर्वक्षणकालीन वस्तुविशेष एक उत्तरक्षणकालीन वस्तुविशेष का कारण बन सकती है बशर्ते कि किसी प्रकारविशेष से यह दूसरी वस्तु इस पहली वस्तु का रूपान्तरण है। इनमें से पहले बचाव के विरुद्ध हरिभद्र का कहना है कि प्रस्तुत वादी 'स्थान' का स्वरूपनिरूपण करने में असमर्थ है। (उदाहरण के लिए, उसके मतानुसार कोई दो स्थान-अर्थात् किन्हीं दो घटनाओं के स्थिति स्थान एक दूसरे से अभिन्न नहीं हो सकते), दूसरे के विरुद्ध यह कि उसकी संगति क्षणिकवाद के साथ नहीं बैठती।

योऽप्येकस्यान्यतो भावः सन्ताने दृश्यतेऽन्यदा।
तत एव विदेशस्थात् सोऽपि यत् तन्न बाधकम् ॥२९५॥

और जो कभी कभी दीखता है कि एक कार्यपरंपरा का घटकभूत कोई कार्य अपने नियत कारण से अतिरिक्त कारण से उत्पन्न हो रहा है वहाँ भी वस्तुतः उक्त कार्य अपने उस नियत कारण से ही उत्पन्न होता है भले ही वह कारण दूर स्थान पर वर्त्तमान क्यों न हो; (उदाहरण के लिए, एक धूमरेखा का अग्नि निकटवर्त्ती भाग अग्नि से उत्पन्न होता दीखते हुए भी उसका अग्निदूरवर्ती भाग धूम से ही उत्पन्न होता दीखता है, लेकिन वस्तुतः धूमरेखा का यह अग्निदूरवर्त्ती भाग भी अग्नि द्वारा ही उत्पन्न हुआ होता है)। ऐसी दशा में उक्त वस्तुस्थिति भी हमारे पूर्वोक्त कथन का बाधक नहीं (अर्थात् इस कथन का कि एक कार्यविशेष का जन्म एक नियत कारणविशेष से ही होता है।

एतेनैतत् प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं सूक्ष्मबुद्धिना।
नासतो भावकर्तृत्वं तदवस्थान्तरं न सः ॥२९६॥

उक्त तर्कसरणि से हमने सूक्ष्मबुद्धि (शान्तरक्षित) के निम्नलिखित वक्तव्य का भी खंडन कर दिया " एक असत्ताशील (अर्थात् अभावरूप) वस्तु एक भावरूप वस्तु का कारण नहीं होती और न यह भावरूप वस्तु इस असत्ताशील वस्तु का रूपान्तर है ।

टिप्पणी—पिछली चर्चा के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि वादी स्वयं अपने मत को यह कहकर प्रस्तुत नहीं करना चाहेगा कि एक भावरूप वस्तु अभावरूप बन जाती है; इस कारिका द्वारा जाना जा सकता है कि वर्तमान चर्चा में भी प्रस्तुत वादी स्वयं अपने मत को यह कहकर प्रस्तुत नहीं करना चाहेगा कि एक अभावरूप वस्तु भावरूप बन जाती है ।

वस्तुनोऽनन्तरं सत्ता कस्यचिद् या नियोगतः ।
सा तत्फलं मता सैव भावोत्पत्तिस्तदात्मिका ॥२९७॥

एक वस्तु के अनन्तर जो एक दूसरी वस्तु नियमतः अस्तित्व में आया करती है उस दूसरी वस्तु का अस्तित्व उस वस्तु का कार्य कहलाता है ; इस दूसरी वस्तु का यह अस्तित्व में आना ही इस दूसरी वस्तु की उत्पत्ति कहलाता है और यह उत्पत्ति इस वस्तु के ही स्वरूप वाली है (अर्थात् यह उत्पत्ति इस वस्तु से पृथक् कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं) ।

असदुत्पत्तिरप्यस्य प्रागसत्त्वात् प्रकीर्त्तिता ।
नासतः सत्त्वयोगेन कारणात् कार्यभावतः ॥२९८॥

उक्त (भावरूप) वस्तु की उत्पत्ति को एक अ-सत्ताशील वस्तु की उत्पत्ति भी कहा जाता है और वह इसलिए कि यह वस्तु पहले अस्तित्व में न थी—न कि इसलिए कि प्रस्तुत स्थल में एक अ-सत्ताशील (अभावरूप) वस्तु एक भावरूप वस्तु बन गई है; हमारी इस मान्यता की आधारभूत वस्तुस्थिति यह है कि एक (भाव-रूप) कार्य अपने (भावरूप)कारण से उत्पन्न होता है ।"

प्रतिक्षिप्तं च तद् हेतोः प्राप्नोति फलतां विना ।
असतो भावकर्तृत्वं तदवस्थान्तरं च सः ॥२९९॥

शान्तरक्षित के उक्त वक्तव्य का खण्डन इसलिए हो गया कि जब तक कार्य को कारण का रूपान्तर न माना जाएगा तब तक यह मान्यता गले पड़ेगी ही कि एक अ-शत्ताशील वस्तु एक भावरूप वस्तु का कारण बन गई तथा यह कि उक्त भावरूप वस्तु अ-शत्ताशील वस्तु का रूपान्तर है ।

वस्तुनोऽनन्तरं सत्ता तत्तथातां विना भवेत् ।
नभःपातादसत्सत्त्वयोगाद् वेति न तत्फलम् ॥३००॥

यदि एक वस्तु के अनन्तर एक दूसरी वस्तु अस्तित्व में आए लेकिन यह दूसरी वस्तु इस वस्तु का रूपान्तर न हो तो वह उसका कार्य नहीं हो सकती, क्योंकि उस दशा में या तो यह मानना पड़ेगा कि यह दूसरी वस्तु आकाश से टपकी या यह कि एक अ-शत्ता शील वस्तु ने भावरूप प्राप्त किया है।

असदुत्पत्तिरप्येव नास्यैव प्रागसत्त्वतः ।
किं त्वसत् सद् भवत्येवमिति सम्यग् विचार्यताम् ॥३०१॥

और ऐसी दशा में एक भावरूप वस्तु की उत्पत्ति एक अ-शत्ताशील वस्तु की उत्पत्ति इस अर्थ में नहीं कहलाई कि यह भावरूप वस्तु पहले अस्तित्व में न थी अपित इस अर्थ में कि एक अ-शत्ताशील वस्तु ने भावरूप प्राप्त कर लिया ; प्रस्तुत वादी को इस स्थिति पर ध्यान से विचार करना चाहिए ।

एतच्च नोक्तवद् युक्त्या सर्वथा युज्यते यतः ।
नाभावो भावतां याति व्यवस्थितमिदं ततः ॥३०२॥

और क्योंकि पूर्वोक्त कारणों से यह बात सर्वथा अयुक्तिसंगत सिद्ध हो चुकी कि एक असत्ताशील वस्तु भावरूप प्राप्त कर सकती है इसलिए यह मत स्थिर रहा कि एक अभावरूप वस्तु भाव रूप नहीं बनती।

(४) क्षणिकवाद में सामग्रीकारणतावाद की अनुपपत्ति

याऽपि रूपादिसामग्री विशिष्टप्रत्ययोद्भवा ।
जनकत्वेन बुद्धयादेः कल्प्यते साऽप्यनर्थिका ॥३०३॥

और जो प्रस्तुत वादी ने यह कल्पना की है कि अपने कारणविशेष से उत्पन्न रूप आदि कारण-सामग्री (= कारणभूत वस्तु-समुदाय) बुद्धि (= ज्ञान) आदि कार्यों को जन्म देती है वह भी बेकार की बात है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र एक नई चर्चा का सूत्रपात करते हैं जिसे समझने के लिए एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है और वह कि क्षणिकवादी की मान्यतानुसार रूप-प्रत्यक्ष की (अर्थात् रूप के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान की) उत्पादक कारण-सामग्री निम्नलिखित चार भागों में बटी हुई है—

---

१ क ख दोनों का पाठः तत्तथा तां

(१) रूप—पारिभाषिक नाम 'आलम्बन-प्रत्यय';
(२) नेत्र-इन्द्रिय—पारिभाषिक नाम 'अधिपति-प्रत्यय';
(३) प्रकाश आदि—पारिभाषिक नाम 'सहकारि-प्रत्यय';
(४) ज्ञाता की तत्कालीन मनःस्थिति—पारिभाषिक नाम 'समनन्तर-प्रत्यय';

साथ ही यह ध्यान रहे कि क्षणिकवादी की मान्यतानुसार पूर्वक्षणकालीन रूप, नेत्र तथा प्रकाश उत्तरक्षणकालीन ज्ञान के ही कारण नहीं अपितु क्रमशः उत्तरक्षणकालीन रूप, नेत्र तथा प्रकाश के भी कारण बनते हैं। इस सबंध में हरिभद्र की मुख्य आपत्तियाँ दो हैं तथा निम्नलिखित—(१) जब रूप, नेत्र, प्रकाश तथा मनःस्थिति परस्परभिन्न स्वभाव वाले हैं तब वे एक ही कार्य को जन्म देने में कैसे सफल होते हैं ? (२) जब रूप, नेत्र तथा प्रकाश ज्ञान के कारण हैं तब वे क्रमशः रूप, नेत्र तथा प्रकाश के भी कारण कैसे ?

सर्वेषां बुद्धिजनने यदि सामर्थ्यमिष्यते ।
रूपादीनां ततः कार्यभेदस्तेभ्यो न युज्यते ॥३०४॥

क्योंकि यदि उक्त कारणसामग्री की अंगभूत रूप आदि प्रत्येक वस्तु बुद्धि रूप कार्य को जन्म देने में समर्थ है तब यह मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि रूप आदि वस्तुएँ किन्हीं अन्य कार्यों को भी (अर्थात् बुद्धि से अतिरिक्त किन्हीं कार्यों को भी) जन्म देती हैं।

रूपालोकादिकं कार्यमनेकं चोपजायते ।
तेभ्यस्तावद्भ्य एवेति तदेतच्चिन्त्यतां कथम् ॥३०५॥

ऐसी दशा में सोचना चाहिए कि ठीक उन्हीं (रूप, आलोक आदि) वस्तुओं से रूप आलोक आदि एकाधिक कार्य का (अर्थात् एक ओर रूप आलोक आदि का तथा दूसरी ओर बुद्धि का) जन्म कैसे होता है।

प्रभूतानां च नैकत्र साध्वी सामर्थ्यकल्पना ।
तेषां प्रभूतभावेन तदेकत्वविरोधतः ॥३०६॥

फिर यह कल्पना भी उचित नहीं जान पड़ती कि अनेक वस्तुएँ एक ही कार्य को जन्म देने में समर्थ हैं, क्योंकि इन अनेक वस्तुओं में अनेकता रहती है जब कि इस अनेकता का प्रस्तुत कार्यगत एकता के साथ विरोध है।

तानशेषान् प्रतीत्येह भवदेकं कथं भवेत् ।
एकस्वभावमेकं यत् तत्तु नानेकभावतः ॥३०७॥

कारणसामग्री की अंगभूत सभी वस्तुओं पर निर्भर रहते हुए अस्तित्व में आने वाला कार्य एक कैसे कहा जा सकता है; क्योंकि एक वस्तु वह होती है जिसमें एकस्वभावता रहती है जबकि अनेक वस्तुओं से उत्पन्न होने वाली वस्तु में एकस्वभावता रह नहीं सकती ।

यतो भिन्नस्वभावत्वे सति तेषामनेकता ।
तावत् सामर्थ्यजत्वे च कुतस्तस्यैकरूपता ॥३०८॥

बात यह है कि कारणसामग्री की अंगभूत वस्तुएँ अनेक इसीलिए हैं कि उनके स्वभाव परस्पर भिन्न हैं; ऐसी दशा में इन्हीं (अनेक) वस्तुओं की सामर्थ्य के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली वस्तु एक रूप कैसे हो सकती है? ।

यज्जायते प्रतीत्यैकसामर्थ्यं नान्यतो हि तत् ।
तयोरभिन्नतापत्तेर्भेदे भेदस्तयोरपि ॥३०९॥

जो कार्य एक वस्तु की सामर्थ्य के फलस्वरूप उत्पन्न होता है वह किसी दूसरी वस्तु से भी उत्पन्न हो यह संभव नहीं; क्योंकि उस दशा में उक्त दो वस्तुएँ परस्पर अभिन्न हो जाएगी । और यदि ये वस्तुएँ परस्पर भिन्न रहेंगी तो यह कार्य भी दो रूपों वाला हो जाएगा (अर्थात् तब ये वस्तुएँ एक कार्य को नहीं बल्कि दो परस्परभिन्न कार्यों को उत्पन्न करेंगी) ।

न प्रतीत्यैकसामर्थ्यं जायते तत्र किञ्चन ।
सर्वसामर्थ्यभूतिस्वभावत्वात् तस्य चेन्न तत् ॥३१०॥

कहा जा सकता है कि कोई भी कार्य किसी एक वस्तु की सामर्थ्य के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं होता, और वह इसलिए कि यह इस कार्य का स्वभाव है कि वह अपनी कारणसामग्री की अंगभूत सभी वस्तुओं की सामर्थ्य के फलस्वरूप उत्पन्न हो । इस पर हमारा उत्तर है :

प्रत्येकं तस्य तद्भावे युक्ता ह्युक्तस्वभावता ।
न हि तत्सर्वसामर्थ्यं[1] तत्प्रत्येकत्ववर्जितम् ॥३११॥

किन्हीं वस्तुओं के सम्बन्ध में यह कहना कि किसी कार्यविशेष को जन्म देने में वे सभी समर्थ हैं तभी युक्तसंगत है जब इनमें से प्रत्येक वस्तु उक्त कार्य को जन्म देने में समर्थ हो; क्योंकि 'सबकी सामर्थ्य' 'प्रत्येक की सामर्थ्य' के बिना सम्भव नहीं ।

१ ख का पाठ : यत्सर्व°

अत्र चोक्तं न चाप्येषां तत्स्वभावत्वकल्पना ।
साध्वीत्यतिप्रसंगादेरन्यथाऽप्युक्तिसंभवात् ॥३१२॥

और यह हम कह ही चुके (कारिका ३०९ में) की कीन्हीं अनेक वस्तुओं को किसी एक कार्य का कारण मानना उचित नहीं; और नहीं यह कल्पना करना उचित है कि एक कार्य का यह स्वभाव ही है कि वह अनेक घटकों वाली कारण-सामग्री से उत्पन्न हो, क्योंकि उस दशा में और कुछ भी कह बैठना सम्भव होने के कारण अवाञ्छनीय निष्कर्षों का सामना करना पड़ता है तथा ऐसी ही दूसरी कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं । [उदाहरण के लिए, तब कहा जा सकेगा कि एक कार्य का जनक अनेक कारणसामग्रीयाँ हो सकती हैं अथवा यह की एक कार्य की कारणसामग्री का एक ही घटक इस कार्य का वास्तविक कारण है जब कि शेष घटक वहाँ बेकार बैठते हैं ।]

अथान्यत्रापि सामर्थ्यं रूपादीनां प्रकल्प्यते ।
न तदेव तदित्येवं नाना चैकत्र तत् कुतः ॥३१३॥

कल्पना की जा सकती है कि रूप आदि बुद्धि के अतिरिक्त किन्हीं अन्य वस्तुओं को भी (अर्थात् रूप आदि को भी) उत्पन्न करने में समर्थ हैं; लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि रूप आदि की यह दूसरी सामर्थ्य उनकी उस पहली सामर्थ्य से भिन्न है और अनेक सामर्थ्यों का एक ही वस्तु में रहना कैसे सम्भव ?।

सामग्रीभेदतो यश्च कार्यभेदः प्रगीयते ।
नानाकार्यसमुत्पादादेकस्याः सोऽपि बाध्यते ॥३१४॥

दूसरे, प्रस्तुत वादी की जो यह मान्यता है कि विभिन्न कार्यों का जन्म विभिन्न कारणसामग्रियों से होता है वह भी बाधित सिद्ध होती हैं यदि यह मान लिया जाए कि एक ही कारणसामग्री से अनेक कार्यों का (उदाहरण के लिए, एक ही कारणसामग्री से एक ओर बुद्धि का तथा दूसरी ओर रूप आदि का जन्म होता है) ।

उपादानादिभावेन[1] न चैकस्यास्तु संगता ।
युक्त्या विचार्यमाणेह तदेनकत्वकल्पना ॥३१५॥

यह कल्पना भी विचार करने पर युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती कि एक ही कारणसामग्री (अर्थात् इस सामग्री की अंगभूत वस्तुएँ) उपादान कारण आदि रूपों से अनेक प्रकार की भूमिकाएँ अदा कर पाती हैं ।

---

१ क का पाठ : °भोगेन

टिप्पणी — क्षणिकवादी की मान्यता यह है पूर्वक्षणकालीन रूप, नेत्र, प्रकाश तथा मनःस्थिति क्रमशः उत्तरक्षणकालीन रूप, नेत्र, प्रकाश तथा रूपप्रत्यक्ष के उपादानकारण है जब कि पूर्वक्षणकालीन रूप, नेत्र तथा प्रकाश उत्तरक्षणकालीन रूपप्रत्यक्ष के कारण हैं लेकिन उपादानकारण नहीं; इस उपादानभिन्न कोटि के कारण को परिभाषिक शब्दावली में 'सहकारी कारण' (अथवा 'निमित्तकारण') कहा गया है।

रूपं येन स्वभावेन रूपोपादानकारणम् ।
निमित्तकारणं ज्ञाने तत् तेनान्येन वा भवेत् ॥३१६॥

क्योंकि प्रश्न उठता है कि रूप रूप का उपादानकारण जिस स्वभाव से है क्या वह ज्ञान का निमित्तकारण भी उसी स्वभाव से है या किसी अन्य स्वभाव से।

यदि तेनैव विज्ञानं बोधरूपं न युज्यते ।
अथान्येन बलाद् रूपं द्विस्वभावं प्रसज्यते ॥३१७॥

यदि कहा जाए कि उसी स्वभाव से तब तो इस रूप के कार्यभूत ज्ञान को भी ज्ञानरूप नहीं होना चाहिए (उसी प्रकार जैसा कि इस रूप का कार्यभूत रूप ज्ञानरूप नहीं'); यदि कहा जाए कि किसी अन्य रूप से तब प्रस्तुत वादी यह मानने को विवश हो गया कि रूप दो स्वभावों वाला है।

अबुद्धिजनकव्यावृत्त्या चेद् बुद्धिप्रसाधकः ।
रूपक्षणो ह्यबुद्धित्वात् कथं रूपस्य साधकः ॥३१८॥

कहा जा सकता है कि क्षणस्थायी रूप (अपने स्थिति क्षण से अगले क्षण में) बुद्धि को जन्म इसलिए दे पाता है कि वह उन वस्तुओं से भिन्न स्वभाव वाला है जो बुद्धि से भिन्न वस्तुओं को जन्म देती हैं; लेकिन इस पर हम पूछते हैं कि तब वही क्षणस्थायी रूप (अपने स्थितिक्षण से अगले क्षण में) रूप को जन्म कैसे दे पाता है, क्योंकि यह नया रूप भी तो बुद्धि से भिन्न वस्तु ही है।

टिप्पणी—क्षणिकवादियों की एक विलक्षण शब्दरचनाशैली है भावात्मक वस्तुओं का वर्णन दो निषेधों की सहायता से करना, उदाहरण के लिए 'गाय' को 'अगाय से भिन्न' कहना। इसी शैली का अनुसरण करते हुए 'बुद्धिजनक' को 'अबुद्धिजनक से भिन्न' कहा जा सकता है। हरिभद्र 'अबुद्धिजनक से भिन्न' का अर्थ 'बुद्धिजनक से भिन्न' करते हैं और आपत्ति उठाते हैं कि रूप यदि

(बुद्धिजनक होने के अतिरिक्त) रूपजनक भी है और रूप यदि अबुद्ध्यात्मक है तो रूप 'अबुद्धिजनक से भिन्न' कैसे हुआ ।

स हि व्यावृत्तिभेदेन रूपादिजनको ननु ।
उच्यते व्यवहारार्थमेकरूपोऽपि तत्त्वतः ॥३१९॥

कहा जा सकता है कि क्योंकि उक्त रूप उन उन वस्तुओं से भिन्न स्वभाव वाला है इसलिए उसे रूप आदि (अर्थात् रूप, बुद्धि आदि) कार्यों को जन्म देने वाला व्यवहारवश कहा जाता है यद्यपि तत्त्वतः वह एक-रूप (अर्थात एक स्वभाव वाला) ही है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में क्षणिकवादी अपनी उसी पूर्वोक्त मान्यता को दुहरा रहा है कि रूप बुद्धि-जनक तथा रूपजनक दोनों है, लेकिन यह कहकर कि रूप 'अबुद्धिजनक से भिन्न' तथा 'अरूपजनक से भिन्न' दोनों है ; ('रूप उन उन वस्तुओं से भिन्न स्वभाव वाला है' यह कहने का अर्थ यही होता है) । उसका नया कहना यह है कि इन दो विशेषताओं वाला होने के बावजूद रूप एक ही स्वभाव वाला बना रहता है ; इस नए कथन के विरुद्ध हरिभद्र की आपत्तियाँ ठीक अगली कारिका में मिलेंगी ।

अगन्धजननव्यावृत्त्याऽयं कस्मान्न गन्धकृत् ।
उच्यते तदभावाच्चेद् भात्रोऽन्यस्याः प्रसज्यते ॥३२०॥

लेकिन इस पर हम पूछते हैं कि क्योंकि यह रूप उन वस्तुओं से भिन्न स्वभाव वाला है जो गंध से भिन्न वस्तुओं को जन्म देती हैं वह गंध को जन्म देने वाला भी क्यों नहीं कहलाया जा सकता । उत्तर दिया जा सकता है कि ऐसा न होने का कारण यह वस्तुस्थिति है कि उक्त रूप उन वस्तुओं से भिन्न स्वभाव वाला सचमुच नहीं जो गंध से भिन्न वस्तुओं को जन्म देती हैं । लेकिन ऐसा उत्तर देने का अर्थ यह हुआ कि उक्त रूप उन वस्तुओं से भिन्न स्वभाव वाला सचमुच है जो बुद्धि (तथा रूप आदि) से भिन्न वस्तुओं को जन्म देती है ।

टिप्पणी—क्षणिकवादी का कहना है कि रूप अरूपजनक से भिन्न तथा अबुद्धिजनक से भिन्न, दोनों कहलाया जाने के बावजूद वस्तुतः एक ही स्वभाव वाला है; इस पर हरिभद्र की आपत्ति है कि यदि रूप को एक नामविशेष दिए जाने का कोई वास्तविक आधार नहीं तब तो उसे 'अगंधजनक से भिन्न' यह

नाम (अथवा अन्य कोई नाम) भी दिया जा सकना चाहिए। और यदि उसे एक नामविशेष दिए जाने का कोई वास्तविक आधार हैं तब यहाँ नाम-भेद स्वभाव-भेद का सूचक होना चाहिए।

एवं व्यावृत्तिभेदेऽपि तस्यानेकस्वभावता ।
बलादापद्यते सा चायुक्ताऽभ्युपगमक्षतेः ॥३२१॥

और उस स्थिति में उस रूप को उन उन वस्तुओं से भिन्न स्वभाव वाला कहना भी प्रस्तुतवादी को यही मानने के लिए विवश करेगा कि यह रूप अनेक स्वभावों वाला है, जब कि एक वस्तु को अनेक स्वभावों वाली मानना इस लिए अयुक्तिसंगत है कि वैसा करने पर प्रस्तुत वादी अपने स्वीकृत मत को छोड़ रहा होगा।

टिप्पणी--वस्तुतः प्रस्तुत चर्चा में क्षणिकवादी के विरुद्ध हरिभद्र की मुख्य आपत्ति यही है कि वह एक वस्तु को एक ही स्वभाव वाली मानता है अनेक स्व-भावों वाली नहीं। यदि क्षणिक वादी रूप आदि में से प्रत्येक को तथा रूपप्रत्यक्ष को अनेक स्वभावों वाला मान ले तो हरिभद्र को यह मानने में कोई तात्त्विक आपत्ति नहीं होगी कि रूप आदि रूपप्रत्यक्ष को जन्म देने वाली कारण-सामग्री सचमुच हैं।

विभिन्नकार्यजननस्वभावाश्चक्षुरादयः ।
यदि ज्ञानेऽपि भेदः स्यात् न चेद् भेदो न युज्यते ॥३२२॥

यदि नेत्र आदि विभिन्न वस्तुओं का स्वभाव विभिन्न कार्यों को जन्म देना हो तो इन नेत्र आदि से जनित ज्ञान भी विभिन्न स्वभावों वाला होना चाहिए; और यदि कहा जाए कि विभिन्न कार्यों को जन्म देना नेत्र आदि का स्वभाव नहीं तो इन नेत्र आदि से जनित (बुद्धि आदि) कार्यों में भी परस्पर–भेद नहीं होना चाहिए।

सामग्र्यपेक्षयाऽप्येवं सर्वथा नोपपद्यते ।
यद् हेतुहेतुमद्भावस्तदेषाऽप्युक्तिमात्रकम् ॥३२३॥

इस प्रकार एक कार्य का कारण (किसी अकेली वस्तु को नहीं अपितु) किसी वस्तु समुदाय को मानने पर भी कार्य-कारणभाव की संगति (प्रस्तुत वादी के मतानुसार) कैसे ही नहीं बैठती; और ऐसी दशा में वस्तु-समुदाय सम्बन्धी यह बात भी एक खाली बात सिद्ध होती है।

(५) क्षणिकवाद में वास्य-वासकभाव की अनुपपत्ति

नानात्वाबाधनाच्चेह कुतः स्वकृतवेदनम् ।
सत्यप्यस्मिन् मिथोऽत्यन्तं तद्भेदादिति चिन्त्यताम् ॥३२४॥

और यदि कार्यकारणभाव को कैसे ही संभव मान लिया जाए तो भी क्योंकि प्रस्तुत वादी अपनी इस मान्यता को वापस नहीं ले रहा है कि जगत् की सभी वस्तुएँ एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं हमें सोचना है कि उसके मतानुसार एक प्राणी द्वारा अपने किए काम का फल भोगा जाना कैसे संभव होगा, यह इसलिए कि प्रस्तुत वादी के मतानुसार काम करने वाला मन फल भोगने वाले मन से सर्वथा भिन्न है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र फिर एक नई चर्चा का सूत्रपात करते हैं । अपनी समझ के अनुसार वे यह दिखा चुके कि क्षणिकवादी की मान्यताएँ स्वीकार करने पर वस्तुओं के बीच कार्य-कारणभाव संभव नहीं होना चाहिए—न एक वस्तु का एक वस्तु के साथ न अनेक वस्तुओं का एक वस्तु के साथ । अब वे यह कहते हैं कि क्योंकि क्षणिक वादी की मान्यतानुसार एक कारण तथा उसका कार्य एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं उसे यह भी मानना चाहिए कि एक 'कर्म' का संचय करने वाला मन उस 'कर्म' का फल भोगने वाले मन से सर्वथा भिन्न है—जब कि यह एक बेतुकी बात है कि किसी अन्य के किये का फल कोई अन्य भोगे ।

वास्य-च कभावाच्चेन्नैतत् तस्याप्यसंभवात् ।
असंभवः कथं न्वस्य विकल्पानुपपत्तितः ॥३२५॥

कहा जा सकता है कि एक प्राणी द्वारा अपने किए काम का फल भोगा जाना वास्य-वासक भाव के कारण संभव होगा (अर्थात् इस स्थिति के कारण संभव होगा कि वासक मन द्वारा किए गए काम का फल वास्य मन भोगता है); लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि प्रस्तुत वादी का मत स्वीकार करने पर उक्त वास्य-वासक भाव ही असंभव हो जाता है । यदि पूछा जाए कि वह कैसे असंभव हो जाता है तो हमारा उत्तर होगा 'इस सम्बन्ध में कोई भी विकल्प संभव न होने के कारण' ।

वासकाद् वासना भिन्ना अभिन्ना वा भवेद् यदि ।
भिन्ना स्वयं तया शून्यो नैवान्यं वासयत्यसौ ॥३२६॥

हम पूछते हैं कि वासना वासक मन से भिन्न है अथवा अभिन्न; यदि भिन्न तब तो वासक मन वासना से शून्य हुआ और ऐसी दशा में वह किसी अन्य मन को वासित नहीं कर सकता ।

अथाभिन्ना न संक्रान्तिस्तस्या वासकरूपवत् ।
वास्ये सत्यां च संसिद्धिर्द्रव्यांशस्य प्रजायते ॥३२७॥

यदि कहा जाए कि वासना वासक मन से अभिन्न है तब इसे वासना का वास्य मन में प्रवेश उसी प्रकार असंभव होगा जैसे कि वासक मन के स्वरूप का वास्य मन में प्रवेश असंभव है; और यदि वासक मन स्वरूप का वास्य मन में प्रवेश संभव मान लिया गया तब इस मत की सिद्धि हो गई कि क्रमशः उत्पन्न अनेक वस्तुओं में समान भाव से रहनेवाला तथा 'द्रव्य' पारिभाषिक नाम वाला भी कोई तत्त्व हुआ करता है।

(टिप्पणी)—"क्रमशः उत्पन्न अनेक वस्तुओं में समान भाव से रहने वाला तथा 'द्रव्य' पारिभाषिक नाम वाला भी कोई तत्त्व हुआ करता है" यह हरिभद्र को अपनी मान्यता है।

असत्यामपि संक्रान्तौ वासयत्येव चेदसौ ।
अतिप्रसंगः स्यादेवं स च न्यायबहिष्कृतः ॥३२८॥

यदि कहा जाए कि वास्य मन में किसी प्रकार का (अर्थात् वासना का अथवा अपने स्वरूप का) प्रवेश कराए बिना भी वासक मन उसे वासित करता है तो वह मनमानी बात कहता होगा, और मनमानी बातों का तर्क के क्षेत्र में अवस्थान निषिद्ध है।

वास्य-वासकभावश्च न हेतुफलभावतः ॥
तत्त्वतोऽन्य इति न्यायात् स चायुक्तो निदर्शितः ॥३२९॥

फिर वास्य-वासक भाव कार्य-कारण भाव से तत्त्वतः भिन्न कोई वस्तु नहीं, और यह हम दिखा ही चुके कि प्रस्तुत वादी का मत स्वीकार करने पर कार्य-कारण भाव का सिद्धान्त अयुक्तिसंगत ठहरता है।

(६) क्षणिकवाद में कार्यकारण ज्ञान की अनुपपत्ति

तत् तज्जननस्वभावं जन्यभावं तथाऽपरम् ।
अतः स्वभावनियमान्नायुक्तः स कदाचन ॥३३०॥

कहा जा सकता है : 'कार्य को जन्म देना कारण का स्वभाव है तथा कारण द्वारा जनित होना कार्य का स्वभाव है, और इस प्रकार जब कारण तथा कार्य का अपना अपना स्वभाव निश्चित है तब कार्य-कारण भाव के सिद्धान्त को अयुक्तिसंगत कभी नहीं कहा जा सकता।' इस पर हमारा उत्तर है :

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र एक अन्य नई चर्चा के लिए भूमिका तैयार करते हैं। उन्होंने अभी कहा है कि क्षणिकवादी का मत स्वीकार करने पर कार्य-कारण भाव का सिद्धान्त अयुक्तिसंगत ठहरता है। अब वे यह दिखलाने चलते हैं कि क्षणिकवादी का मत स्वीकार करने पर हमारे लिए यह जानना संभव नहीं होना चाहिए कि किन्हीं दो वस्तुओं के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध वर्त्तमान है।

उभयोर्ग्रहणाभावे न तथाभावकल्पनम् ।
तयोर्न्यार्य्यं न चैकेन द्वयोर्ग्रहणमस्ति वः ॥३३१॥

दो वस्तुओं को एक ही ज्ञान का विषय बनाए बिना उनके बीच कार्य-कारण भाव की कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं लेकिन प्रस्तुत वादी के मतानुसार दो वस्तुएँ एक ही ज्ञान का विषय हो नहीं सकतीं।

टिप्पणी—प्रस्तुत चर्चा में क्षणिकवादी के विरुद्ध हरिभद्र की मुख्य आपत्ति यही है कि वह एक ज्ञान का विषय एक ही वस्तु को मानता है, एकाधिक वस्तुओं को नहीं। यदि क्षणिकवादी यह मान ले कि एक ज्ञान का विषय एकाधिक वस्तुएँ बन सकती हैं तो हरिभद्र को यह मानने में कोई तात्त्विक आपत्ति न होगी कि दो वस्तुओं के बीच कार्य-कारण भाव का ज्ञान प्राप्त करना हमारे लिए संभव है।

एकमर्थं विजानाति न विज्ञानद्वयं यथा ।
विजानाति न विज्ञानमेकमर्थद्वयं तथा ॥३३२॥

(प्रस्तुत वादी की तर्क-सरणि के अनुसार तो) जिस प्रकार दो ज्ञान एक ही वस्तु को अपना विषय नहीं बना सकते उसी प्रकार एक ज्ञान दो वस्तुओं को अपना विषय नहीं बना सकता।

वस्तुस्थित्या तयोस्तत्त्वे एकेनापि तथाग्रहात् ।
नो वाधकं न चैकेन द्वयोर्ग्रहणमस्त्यदः ॥३३३॥

कहा जा सकता है "जब स्थिति ऐसी हो कि (आगे-पीछे आने वाली) दो वस्तुओं के बीच कार्य-कारण भाव वर्त्तमान है तब एक ही ज्ञान को इन्हें इस रूप में ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए तथा यह एक ज्ञान द्वारा दो वस्तुओं के ग्रहण किए जाने की स्थिति नहीं हुई (और वह इसलिए कि यहाँ ज्ञान का विषय उक्त दो वस्तुओं में से एक ही है जब कि दूसरी वस्तु

के साथ इस वस्तु का संबंध इस वस्तु का विशेषण मात्र है) लेकिन इस पर हमारा उत्तर है :

तथाग्रहस्तयोर्नेतरेतरग्रहणात्मकः ।
कदाचिदपि युक्तो यदतः कथमबाधकम् ॥३३४॥

उक्त दो वस्तुओं में से पहली को दूसरी के कारण रूप से जानना दूसरी को भी जानना है तथा दूसरी को पहली के कार्य रूप से जानना पहली को भी जानना है; और इस रूप से इन वस्तुओं को जानना एक एक ज्ञान के लिए कदापि संभव नहीं । ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि उक्त वस्तु-स्थिति प्रस्तुत वादी के सामने कोई कठनाई उपस्थित नहीं करती ।

तथाग्रहे च सर्वत्राविनाभावग्रहं विना ।
न धूमादिग्रहादेव ह्यनलादिगतिः कथम् ॥३३५॥

यदि किसी भी वस्तु का एक दूसरी वस्तु से संबंधित रूप में ग्रहण इस दूसरी वस्तु के बिना संभव हो तब धूम तथा अग्नि के बीच अविनाभाव संबन्ध का ग्रहण किए बिना भी केवल धूम के ज्ञान से अग्नि का (अनुमानात्मक) ज्ञान क्यों नहीं हो जाता ?

टिप्पणी—हरिभद्र के कहने का आशय यह है कि किन्हीं दो वस्तुओं के बीच अविनाभाव संबन्ध (=हेतु साध्य-सम्बन्ध) तब तक नहीं जाना जा सकता जब तक उन दोनों वस्तुओं को कभी न कभी एक साथ ज्ञानगोचर न कर लिया जाए; वरना तो (उदाहरण के लिए) धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करना ही उस व्यक्ति के लिए भी संभव हो जाना चाहिए, जिसने कभी अग्नि को देखा नहीं ।

समनन्तरवैकल्यं तत्रेत्यनुपपत्तिकम् ।
तुल्ययोरपि तद्भावे हन्त ! क्वचिददर्शनात् ॥३३६॥

कहा जा सकता है कि जहाँ धूम के ज्ञान के बाद भी अग्नि का (अनुमानात्मक) ज्ञान नहीं होता वहाँ इस धूमज्ञान के समनन्तर—कारणभूत ज्ञान का अभाव होता है; लेकिन यह कहना उचित नहीं क्योंकि एक से समनन्तर कारण वाले दो धूम-ज्ञानों के संबन्ध में भी यह संभव है कि उनमें से एक के बाद अग्नि का अनुमा-नात्मक ज्ञान हो तथा दूसरे के बाद नहीं ।

टिप्पणी—जैसा कि पहले प्रसंगवश कहा जा चुका है, क्षणिक वादी के मतानुसार रूपप्रत्यक्ष का एक कारण ज्ञाता की तत्कालीन मनःस्थिति है और इस

कारण का सामान्य पारिभाषिक नाम 'समनन्तर-प्रत्यय' है। इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञान के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उसका समनन्तर-प्रत्यय ज्ञाता की तत्कालीन मनःस्थिति है। अतः जब क्षणिक वादी कहता है कि जिस धूमज्ञान से अग्नि का अनुमान नहीं हो पाता है उसका समनन्तर कारण त्रुटिपूर्ण है तब उसका आशय यही जताना है कि इस स्थल में ज्ञाता की तत्कालीन मनःस्थिति त्रुटिपूर्ण है—अर्थात् यह कि वहां ज्ञान के अब तक के उपार्जित ज्ञानभंडार में 'धूम तथा अग्नि के बीच अविनाभाव संबन्ध का ज्ञान' का समावेश नहीं। प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र क्षणिकवादी का आशय यह समझ रहे हैं कि जो ज्ञाता धूमज्ञान से अग्नि का अनुमानात्मक ज्ञान कर पाता है उसकी तात्कालिक मनःस्थिति एकस्वरूप वाली होती है तथा जो ज्ञाता धूमज्ञान से अग्नि का अनुमानात्मक ज्ञान नहीं कर पाता है उसके दूसरे स्वरूप वाली (अर्थात् यदि पहले ज्ञाता की तात्कालिक मनःस्थिति 'क का ज्ञान' इस स्वरूप वाली है तो दूसरी की 'ख का ज्ञान' इस स्वरूप वाली)। अगली कारिकाओं में हरिभद्र क्षणिक वादी के आशय को अन्य प्रकार से भी समझने का प्रयत्न करते हैं—यद्यपि इस सम्बन्ध में क्षणिक वादी के सभी संभव आशय उनकी दृष्टि में आपत्तिजनक बने रहते हैं।

न तयोस्तुल्यतैकस्य यस्मात् कारणकारणम् ।
ओघात् तद्धेतुविषयं न त्वेवमितरस्य च ॥३३७॥

उत्तर में कहा जा सकता है कि उक्त स्थल में दो धूम-ज्ञानों के समनन्तर-कारण वस्तुतः एक से नहीं और वह इसलिए कि इनमें से केवल एक समनंतर-कारण का—न कि दूसरे का भी—कोई दूरस्थ कारण एक ऐसे प्रकार का ज्ञान है जिसका विषय धूम का कारण है (अर्थात् इनमें से केवल एक समनन्तर कारण का—न कि दूसरे का भी—कोई दूसरा कारण अग्नि-ज्ञान है)। लेकिन इस पर हमारा उत्तर हैं :

यः केवलानलग्राहिज्ञानकारणकारणः ।
सोऽप्येवं न च तद्धेतोस्तज्ज्ञानादपि तद्गतिः ॥३३८॥

जिस धूम-ज्ञान के समनन्तर-कारण का कोई (दूरस्थ कारण) केवल अग्नि का ज्ञान होता है (न कि धूम-सहित अग्नि का ज्ञान) उस पर भी प्रस्तुत वादी का उक्त वर्णन लागू पड़ता हैं, लेकिन इतने भर से इस धूमज्ञान से अग्नि का अनुमानात्मक ज्ञान नहीं होता।

तज्ज्ञानं यन्न वै धूमज्ञानस्य समनन्तरः ।
तथाऽभूदित्यतो नेह तज्ज्ञानादपि तद्गतिः ॥३३९॥

उत्तर में कहा जा सकता है कि इस नए स्थल में एक अग्निज्ञान एक धूमज्ञान का समनन्तर-कारण उस प्रकार से नहीं हुआ जैसे कि उसे होना चाहिए (अर्थात् जैसे कि उसे अग्नि तथा धूम के बीच अविनाभावसंबन्ध-ग्रहण के समय होना चाहिए) और यही कारण है कि इस प्रकार के अग्निज्ञान वाला व्यक्ति धूमज्ञान से अग्नि का अनुमानात्मक ज्ञान नहीं कर पाता। लेकिन इस पर हम पूछते हैं :

तथेति हन्त! को न्वर्थः तत्तथाभावतो यदि ।
इतरत्रैकमेवेत्थं ज्ञानं तद्ग्राहि भाव्यताम् ॥३४०॥

'इस नए स्थल में एक अग्निज्ञान एक धूमज्ञान का समनन्तर-कारण उस प्रकार से नहीं हुआ जैसे कि उसे होना चाहिए' यह कहने का क्या अर्थ? यदि इसका अर्थ यह है कि इस नए स्थल में एक अग्निज्ञान ही एक धूमज्ञान के रूप में परिणत नहीं हुआ तब तो प्रस्तुत वादी को मानना चाहिए कि जहाँ कोई व्यक्ति धूमज्ञान से अग्नि का अनुमानात्मक ज्ञान सचमुच कर पाता है वहाँ (अग्नि तथा धूम के बीच अविनाभावसंबन्ध-ग्रहण करते समय कोई धूमज्ञान एक अग्निज्ञान का रूपान्तरण हुआ करता है और इसलिए वहाँ वस्तुस्थिति यह होती है कि) कोई का ही ज्ञान अग्नि तथा धूम दोनों को ग्रहण करने वाला हुआ करता है।

टिप्पणी—हरिभद्र की अपनी समझ है कि अग्नि तथा धूम के बीच अविनाभावसंबन्ध को अपना विषय बनाने वाला ज्ञान एक अग्निज्ञान तथा एक धूमज्ञान का जोड़ मात्र नहीं, यह इसलिए कि उनकी मान्यतानुसार उक्त अविनाभाव संबन्ध-विषयक ज्ञान के स्थल में एक अग्निविषयक ज्ञान एक धूमविषयक ज्ञान के रूप में परिणत होता है। और क्योंकि क्षणिकवादी की मान्यतानुसार किसी भी वस्तु में रूपान्तरण की प्रक्रिया संभव नहीं। हरिभद्र सोचते हैं कि उसकी मान्यताएँ स्वीकार करने पर उक्त अविनाभावसंबन्ध-विषयक ज्ञान असंभव बना रहेगा। अपनी इस ज्ञान-रूपान्तरण की कल्पना के आधार पर ही हरिभद्र यह सिद्ध करना संभव मानते हैं कि उक्त अविनाभावसंबन्ध-विषयक ज्ञान के स्थल में एक ही ज्ञान का विषय दो वस्तुएँ—अर्थात् अग्नि तथा धूम हैं। इस प्रकार क्षणिकवादी की यह मान्यता कि किसी वस्तु का रूपान्तरण नहीं हुआ करता तथा उसकी यह मान्यता कि किसी

ज्ञान का विषय दो वस्तुएँ नहीं हुआ करतीं, हरिभद्र की दृष्टि में एक दूसरे से सम्बद्ध हो जाती हैं।

तदभावेऽन्यथा भावस्तस्य सोऽस्यापि विद्यते ।
अनन्तरचिरातीतं तत् पुनर्वस्तुतः समम् ॥३४१॥

अन्यथा (अर्थात् यदि यह न माना जाएगा कि अग्नि तथा धूम के बीच अविनाभावसंबन्ध-ग्रहण करते समय एक अग्निज्ञान ही धूमज्ञान का रूप धारण करता है तो) कहना होगा कि अग्नि तथा धूम के बीच अविनाभावसम्बन्ध ग्रहण करते समय धूमज्ञान अग्निज्ञान की अनुपस्थिति में उत्पन्न हो रहा होता है, लेकिन अग्निज्ञान की अनुपस्थिति में धूम का ज्ञान तो उस व्यक्ति को भी हो सकता है जिसने अग्नि तथा धूम के बीच अविनाभावसंबन्ध को कभी जाना ही नहीं (और ऐसी दशा में प्रस्तुतवादी के मतानुसार इस व्यक्ति को भी धूम से अग्नि का अनुमानात्मक ज्ञान हो जाना चाहिए); सचमुच, एक वस्तु एक दूसरी वस्तु की अपेक्षा निकटतम भूत में अस्तित्व में आई या सुदूर भूत में दोनों ही दशाओं में यह वस्तुस्थिति है कि यह दूसरी वस्तु इस पहली वस्तु की अनुपस्थिति में अस्तित्व में आई (और ऐसी स्थिति में यह कहने से भी काम नहीं चलेगा कि धूम से अग्नि का अनुमानात्मक ज्ञान वह व्यक्ति तो कर सकेगा जिसने एक धूमज्ञान के ठीक पहले अग्निज्ञान प्राप्त किया लेकिन वह व्यक्ति नहीं जिसने एक धूमज्ञान के बहुत पहले अग्निज्ञान प्राप्त किया)।

अग्निज्ञानजमेतेन धूमज्ञानं स्वभावतः ।
तथा विकल्पकृन्नान्यदिति प्रत्युक्तमिष्यताम् ॥३४२॥

इस प्रकार इस मत का खंडन हुआ समझना चाहिए कि अग्निज्ञान से उत्पन्न होने वाला धूमज्ञान, न कि अन्य कैसा भी धूमज्ञान–यह धूम अग्नि-जन्य है' इस प्रकार के निश्चयात्मक ज्ञान को स्वभावतः जन्म देता है।

टिप्पणी—देखा जा सकता है कि क्षणिकवादी के मतानुसार अग्नि तथा धूम के बीच अविनाभाव सम्बन्ध-ग्रहण का कारण एक धूमज्ञान है और इस धूमज्ञान का कारण है एक अग्निज्ञान; हरिभद्र का इसमें इतना संशोधन है कि उक्त अविनाभावसम्बन्ध-ग्रहण का कारणभूत उक्त धूमज्ञान उक्त अग्निज्ञान का रूपान्तरण है। स्पष्ट ही इस मतभेद के मूल पर वह मतभेद विद्यमान है जो क्षणिकवादी तथा हरिभद्र के बीच इस प्रश्न को लेकर है कि कार्य-कारणसम्बन्ध का सामान्य स्वरूप क्या है।

अतः कथंचिदेकेन तयोरग्रहणे सति ।
तथाऽप्रतीतितो न्याय्यं न तथाभावकल्पनम् ॥३४३॥

अतः जब तक यह न स्वीकार किया जाए कि दो वस्तुओं को अपना विषय बनाना एक ही ज्ञान के लिए किसी न किसी प्रकार से संभव है तब तक इन वस्तुओं के बीच कार्य-कारणसम्बन्ध मानना युक्तिसंगत नहीं—क्योंकि उस दशा में तो हमें इस आशय का अनुभव ही न हो सकेगा (अर्थात् इस आशय का कि इनमें से एक वस्तु दूसरी वस्तु का कारण है—और वह इसलिए कि दो वस्तुओं को एक साथ जाने बिना यह जानना संभव नहीं कि इनमें से एक दूसरी का कारण है)।

प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां हन्तैवं साध्यते कथम् ।
कार्यकारणता तस्मात्तद्भावादेरनिश्चयात् ॥३४४॥

और तब प्रस्तुत वादी वस्तुओं के बीच कार्यकारणभाव को प्रत्यक्ष तथा अनुपलंभ के आधार पर स्थापित कैसे कर सकता है, क्योंकि अब तो उसके मतानुसार यह बात अनिश्चित ही बनी रहेगी कि अमुक वस्तु का जन्म दूसरी वस्तु से हो रहा है (अथवा यह कि उसका जन्म इस दूसरी वस्तु से अन्य किसी वस्तु से नहीं हो रहा है ?

टिप्पणी— दो वस्तुओं के बीच कार्य-कारणभाव प्रत्यक्ष तथा अनुपलंभ की सहायता से जाना जाता है यह क्षणिकवादी का मत है । इस मत का भावार्थ यह है जब 'क' की उपस्थिति में 'ख' का प्रत्यक्ष होता है तथा 'क' की अनुपस्थिति में 'ख' का अनुपलंभ (=दीख न पड़ना) तब हम कहते हैं कि 'क' 'ख' का कारण है । हरिभद्र की समझ है कि क्षणिकवादी को यह सब कहने का अधिकार तब तक प्राप्त नहीं जब तक वह इस संभावना को स्वीकार न करे कि एक ही ज्ञान दो वस्तुओं को (उक्त उदाहरण में 'क' तथा 'ख' को) अपना विषय बनाता है ।

न पूर्वमुत्तरं चेह तदन्याग्रहणाद् ध्रुवम् ।
गृह्यतेऽत इदं नातो नं त्वतीन्द्रियदर्शनम् ॥३४५॥

जब प्रस्तुत वादी की यह मान्यता है कि एक ज्ञान एक ही वस्तु का ग्रहण कर सकता है किसी दूसरी वस्तु का नहीं तब निश्चय ही किन्हीं दो वस्तुओं

१ क का पाठः अथ । २ ख का पाठः नन्वती° ।

के सम्बन्ध में वह यह नहीं कह सकता कि इनमें से यह पहले अस्तित्व में आई और वह बाद में; और नहीं किसी वस्तु के सम्बन्ध में वह यह कह सकता है कि इसका जन्म इस दूसरी वस्तु से हुआ है, न कि उस दूसरी वस्तु से। और जहाँ तक अतींद्रिय प्रत्यक्ष का प्रश्न है उसका यहाँ प्रसंग ही नहीं (यद्यपि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा भूतकालीन तथा भविष्यत्कालीन वस्तुओं को अवश्य जाना जा सकता है)।

टिप्पणी—क्षणिकवादी के मतानुसार दो वस्तुओं के कार्य-कारणसम्बन्ध या तो प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाना चाहिए या विकल्प (=चिन्तन) के द्वारा। प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र कह रहे हैं कि यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जाना जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय एक वर्त्तमान वस्तु होती है—एक भूतपूर्व अथवा आगामी वस्तु नहीं—जब कि कारणभूत वस्तु तथा कार्यभूत वस्तु के बीच पौर्वापर्य सम्बन्ध हुआ करता है। अगली कारिकाओं में हरिभद्र कहेंगे कि उक्त सम्बन्ध विकल्प द्वारा भी नहीं जाना जा सकता।

विकल्पोऽपि तथा न्यायाद् युज्यते न ह्यनीदृशः।
तत्संस्कारप्रसूतत्वात् क्षणिकत्वाच्च सर्वथा ॥३४६॥

उक्त कारणों से यह मानना भी उचित नहीं कि वस्तुओं के बीच कार्य-कारणसंबन्ध प्रत्यक्ष से विलक्षण स्वभाव वाले विकल्पात्मक (= चिन्तनात्मक) ज्ञान का विषय बनता है, क्योंकि विकल्प की उत्पत्ति प्रत्यक्ष द्वारा जनित संस्कारों से होती है (जब कि यह दिखाया जा चुका कि प्रस्तुत वादी के मतानुसार कार्य-कारण सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा संभव नहीं); दूसरे, प्रस्तुत वादी की मान्यतानुसार जगत् की वस्तुएँ सर्वथा क्षणिक हैं (और ऐसी दशा में उसे यह कहने का अधिकार नहीं कि कभी उत्पन्न हुए कोई संस्कार इस समय विकल्पात्मक ज्ञान को जन्म देते हैं)

नेत्थं बोधान्वयाभावे घटते तद्विनिश्चयः।
माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैतत् चिन्त्यतां स्वयमेव तु ॥३४७॥

इस प्रकार इस संभावना को स्वीकार किए बिना कि कोई ज्ञान अपने रूप रूपान्तरों के बीच एक ही बना रहता है वस्तुओं के बीच कार्य कारणभाव का निश्चय किया जाय संभव नहीं। प्रस्तुत वादी को चाहिए कि वह इस परिस्थिति पर मध्यस्थ भाव से स्वयं विचार करे।

(१) ख का पाठः तथान्यायात्

अग्न्यादिज्ञानमेवेह न धूमज्ञानतां यतः ।
व्रजत्याकारभेदेन कुतो बोधान्वयस्ततः ॥३४८॥

कहा जा सकता है: 'अग्नि आदि का ज्ञान ही धूमज्ञान नहीं बन जाया करता, क्योंकि इन दोनों के बीच रूपभेद पाया जाता है; और ऐसी दशा में इस संभावना को कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि अपने रूप रूपान्तरों के बीच कोई ज्ञान एक ही बना रहता है।' इस पर हमारा उत्तर है :

तदाकारपरित्यागात् तस्याकारान्तरस्थितिः ।
बोधान्वयः प्रदीर्घैकाध्यवसायप्रवर्तकः ॥३४९॥

एक रूप को त्यागकर दूसरे रूप को धारण करना ही एक ज्ञान का अपने रूप रूपान्तरों के बीच एक बने रहना है ; इस प्रकार एक बना रहने वाला ज्ञान ही हमारे लिए यह कहना संभव बनाता है कि अमुक एक ज्ञानधारा बहुत लम्बे समय तक चली ।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि 'अमुक ज्ञानधारा बहुत लम्बे समय तक चली' । इस प्रकार का कथन तभी सुसंगत बनता है जब ज्ञान को रूप-रूपान्तर धारण करने वाला एक स्थायी तत्त्व माना जाए ।

स्वसंवेदनसिद्धत्वात् न च भ्रान्तोऽयमित्यपि ।
कल्पना युज्यते युक्त्या सर्वभ्रान्तिप्रसंगतः ॥३५०॥

और क्योंकि उक्त प्रकार से ज्ञान का एक बने रहना हमारे निकट एक स्वानुभव सिद्ध बात है यह कल्पना करना भी युक्तसंगत नहीं कि ज्ञान का यह एक बने रहना एक भ्रान्त प्रतीति है, क्योंकि तब तो किसी भी प्रतीति को भ्रान्त कह दिया जा सकेगा ।

प्रदीर्घाध्यवसायेन नश्वरादिविनिश्चयः ।
अस्य च भ्रान्ततायां यत् तत्तथेति न युक्तिमत् ॥३५१॥

लम्बे समय तक एक ही ज्ञानधारा को प्रवाहित रखने के फलस्वरूप ही हम निश्चय कर पाते हैं कि जगत् की वस्तुएँ नश्वर आदि स्वभावों वाली हैं, ऐसी दशा में यदि हमारा उक्त ज्ञानधारा विषयक स्वानुभव एक भ्रान्ति है तो हमारा उक्त निश्चय भी युक्तिसंगत नहीं ।

तस्मादन्वयमेष्टव्यं विकल्पस्यापि कस्यचित् ।
येन केन प्रकारेण सर्वथाऽभ्रान्तरूपता ॥३५२॥

अतः प्रस्तुतवादी को भी किन्हीं विकल्पात्मक ज्ञानों के संबंध में यह मत कैसे ही न कैसे बनाना ही पड़ेगा कि वे सर्वथा अभ्रान्त हैं।

टिप्पणी हरिभद्र का आशय यह है कि जब क्षणिकवाद की सिद्धि भी विकल्पात्मक ज्ञान की सहायता से ही संभव है तब क्षणिकवादी यह नहीं कह सकता कि सभी विकल्पात्मक ज्ञान मिथ्या हुआ करते हैं।

सत्यामस्यां स्थितोऽस्माकमुक्तवन्न्याययोगतः ।
बोधान्वयोऽदलोत्पत्त्यभावाच्चातिप्रसंगतः ॥३५३॥

और जब कुछ विकल्पात्मक ज्ञान अभ्रान्त सिद्ध हो गए तब हमारी पूर्वोक्त युक्तियों से यह संभावना भी सिद्ध हो गई कि एक ही ज्ञान रूप-रूपान्तर धारण करता है। उक्त संभावना को अस्वीकार करने पर दो अन्य कठिनाइयाँ भी उठ खड़ी होती हैं—एक तो ज्ञान की उत्पत्ति उपादानकारण के विना संभव मानने की कठिनाई और दूसरी कुछ अवाञ्छनीय निष्कर्षों को स्वीकार करने पर बाध्य होने की कठिनाई।

टिप्पणी—अपनी समझ के अनुसार हरिभद्र यह दिखा ही चुके हैं कि क्षणिकवादी का मत स्वीकार करने पर किसी एक वस्तु को किसी दूसरी वस्तु का उपादान कारण मानना कैसे असंभव हो जाता है?।

अन्यादृशपदार्थेभ्यः स्वयमन्यादृशोऽप्ययम् ।
यतश्चेष्टस्ततो नास्मात् तत्रासंदिग्धनिश्चयः ॥३५४॥

और क्योंकि प्रस्तुत वादी के मतानुसार भी एक विकल्पात्मक ज्ञान के संबन्ध में यह संभव है कि वह वस्तुतः एक वस्तु को ग्रहण कराने वाला होते हुए भी (भ्रान्ति-वश) किसी दूसरी वस्तु का ग्रहण करा बैठे इस प्रकार का ज्ञान उन उन वस्तुओं का स्वरूप–निश्चय (सर्वथा) असंदिग्ध भाव से कराने वाला नहीं हुआ करता।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि जब क्षणिकवादी यह स्वीकार करता है कि कुछ विकल्पात्मक ज्ञान मिथ्या भी हो सकते हैं तव वह यह तर्क नहीं दे सकता कि "क्षणिकवाद की सिद्धि करने वाला विकल्पात्मक ज्ञान सत्य है क्योंकि वह एक विकल्पात्मक ज्ञान है"।

तत्तज्जननभावत्वे ध्रुवं तद्भावसंगतिः ।
तस्यैव भावो नान्यो यज्जन्याच्च जननं तथा ॥३५५॥

इस प्रकार जब यह निश्चय हो गया कि एक वस्तु का स्वभाव एक दूसरी वस्तु को जन्म देता है तब यह बात भी निश्चय रूप से सिद्ध होती है कि यह पहली

वस्तु हो दूसरी वस्तु वन जाती है; यह इसलिए कि एक कारणभूत वस्तु का स्वभाव इस कारणभूत वस्तु से भिन्न नहीं तथा एक कार्यभूत वस्तु का जन्म इस कार्यभूत वस्तु से भिन्न नहीं।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र निम्नलिखित तीन वक्तव्यों की सहायता से निम्नलिखित चौथे वक्तव्य को फलित कर रहे है :

(१) कारण का स्वभाव कार्य को जन्म देना है;
(२) कारण का स्वभाव कारण से अभिन्न है;
(३) कार्य का जन्म कार्य से अभिन्न है;
(४) कारण कार्य से अभिन्न है।

एवं तज्जन्यभावत्वेऽप्येषा भाव्या विचक्षणैः।
तदेव हि यतो भावः स चेतरसमाश्रयः ॥३५६॥

इसी प्रकार विद्वानों को सोचना चाहिए कि जब कहा जाता है कि एक वस्तु का स्वभाव दूसरी वस्तु से जन्म पाना है तब भी पूर्वोक्त वात ही निश्चित होती है (अर्थात् यह कि यहाँ उक्त दुसरी वस्तु ही उक्त पहली वस्तु वन जाती है) ; यह इसलिए कि उक्त पहली वस्तु का यह स्वभाव ही है कि वह जन्म पाए जब कि उसका यह जन्म पाना रूप स्वभाव उक्त दुसरी वस्तु पर निर्भर करता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र निम्नलिखित दो वक्तव्यों की सहायता से निम्नलिखित तीसरे वक्तव्य को फलित कर रहे हैं :

(१) कार्य का स्वभाव कारण से जन्म पाना है;
(२) कारण से जन्म पाना कारण पर निर्भर होता है (अर्थात् कारण से अभिन्न होता है)।
(३) कार्य का स्वभाव कारण पर निर्भर होता है (अर्थात् कारण से अभिन्न होता है)।

इत्येवमन्वयापत्तिः शब्दार्थादेव जायते।
अन्यथा कल्पनं चास्य सर्वथा न्यायवाधितम् ॥३५७॥

इस प्रकार (जनक, जन्य आदि) शब्दों के अर्थों पर विचार करने से ही यह मत स्थिर हो जाता है कि रूप-रूपान्तर धारण करते हुए एक बने रहना वस्तुओं का स्वभाव है, उक्त अर्थों के सम्बन्ध में किसी अन्य प्रकार की कल्पना करना सर्वथा तर्क-विरुद्ध है।

तद्रूपशक्तिशून्यं तत् कार्यं कार्यान्तरं य ।
व्यापारोऽपि न तस्यापि नापेक्षाऽसत्त्वतः क्वचित् ॥३५८॥
तथाऽपि तु तयोरेव तत्स्वभावत्वकल्पनम् ।
अन्यत्रापि समानत्वात् केवलं [1]ध्यान्ध्यसूचकम् ॥३५९॥

एक कार्यविशेष को जन्म देने की सामर्थ्य से शून्य वस्तु तो जैसी इस कार्य को वैसी अन्य किसी कार्य को (अर्थात् यह वस्तु जैसे अन्य किसी कार्य को जन्म नहीं देती वैसे ही वह प्रस्तुत कार्यविशेष को भी नहीं दे सकती)। इसी प्रकार प्रस्तुत वादी के मतानुसार कारण कार्य को जन्म देते समय किसी प्रकार का व्यापार नहीं करता और न ही अपने जन्म के पूर्व सर्वथा असत्ताशील होने के कारण कार्य कारण पर कैसे निर्भर रहता है। इतने पर भी यदि प्रस्तुत वादी को वस्तु-विशेषों के बीच कार्यकारणभाव की कल्पना करना संभव समझे तो यह उसकी मनमानी का (ख के पाठानुसार : उसके अपने अज्ञान का) सूचक होगा, क्योंकि उसकी मान्यतानुसार तो किन्हीं भी दो वस्तुओं के बीच कार्यकारणभाव की कल्पना की जानी संभव होनी चाहिए ।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिकाओं में हरिभद्र अपनी पूर्वोक्त कार्यकारणभाव संबंधी चर्चा का अन्तिम उपसंहार कर रहे हैं। देखा जा सकता है कि हरिभद्र की मान्यतानुसार 'एक कारण एक कार्यविशेष को जन्म देने की क्षमता वाला है' यह कहने का अर्थ यह है कि यह काय इस कारण में अपने जन्म से पूर्व भी कैसे ही न कैसे विद्यमान है; इसी प्रकार उनकी मान्यतानुसार 'एक कारणविशेष एक कार्यविशेष को जन्म देता है' यह कहने का अर्थ है कि यह कारण इस कार्य को जन्म देने के बाद भी इस कार्य में कैसे ही न कैसे विद्यमान है। और क्योंकि क्षणिकवादी न कारण में कार्य का अस्तित्व संभव मानता है, न कार्य में कारण का, इसलिए हरिभद्र की समझ है कि 'जनक (=कारण)' तथा 'जन्य (=कार्य)' शब्दों के अर्थ ही क्षणिकवाद का खंडन कर रहे हैं।

(७) बुद्ध-वचनों की सहायता से क्षणिकवाद का खंडन

किञ्चन्यात् क्षणिकत्वे व आर्षोऽर्थोऽपि विरुध्यते ।
विरोधापादनं चास्य नाल्पस्य तमसः फलम् ॥३६०॥

---

१ ख का पाठः स्वांध्य°

दूसरे, क्षणिकवाद का सिद्धान्त स्वीकार करने पर प्रस्तुत वादी (अपने ही अभीष्ट) शास्त्रवचनों के विरोध में आ रहा होता है, जबकि शास्त्रवचनों के विरोध में आना कम अज्ञान का फल नहीं ।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका से हरिभद्र यह दिखाना प्रारंभ करते हैं कि बौद्ध धर्मग्रन्थों में कही गई कुछ बातें ही क्षणिकवाद के विरुद्ध किस प्रकार जाती हैं ।

इत एकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥३६१॥

मे मयेत्यात्मनिर्देशस्तद्गतोक्ता वधक्रिया ।
स्वयमाप्तेन यत् तद् वः कोऽयं क्षणिकताऽऽग्रहः ॥३६२॥

"हे भिक्षुओ ! अब से पहले ९१ वें कल्प में मेरे एक शस्त्र से एक पुरुष मारा गया था, उस कार्य का यह फल है कि मेरा पैर कांटे से बिंधा है।" इस कथन में 'मैं', 'मेरे द्वारा' आदि शब्दों से वक्ता का अपना सूचन हुआ है तथा उसी के संबंध में (अर्थात् वक्ता के अपने संबंध में) वधक्रिया का उल्लेख एक आप्त व्यक्ति द्वारा (अर्थात् भगवान् बुद्ध द्वारा) हुआ है। ऐसी दशा में प्रस्तुत वादी का क्षणिकवाद के पक्ष में इतना आग्रह क्यों ?।

टिप्पणी--हरिभद्र का आशय यह है कि प्रस्तुत वाक्य का वक्ता तथा प्रस्तुत वाक्य में वर्णित वध-क्रिया का कर्त्ता एक ही व्यक्ति होने चाहिए – जबकि क्षणिकवादी की मान्यतानुसार ये दोनों एक व्यक्ति नहीं हो सकते। यहाँ यशोविजयजी 'शक्त्या मे पुरुषो हतः' का अर्थ करते हैं "मेरे एक व्यापार से (अर्थात् मेरे किए एक काम से) एक पुरुष मारा गया था।" 'कल्प' चार करोड़ बत्तीस लाख वर्ष की अवधि को कहते हैं ।

सन्तानापेक्षयैतच्चेदुक्तं भगवता ननु ।
स हेतुफलभावो यत् तन्मे इति न संगतम् ॥३६३॥

कहा जा सकता है कि उक्त स्थल में भगवान् बुद्ध ने क्षणसंतान (=क्षण-परंपरा को दृष्टि में रखकर बात की है, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि क्षण-संतान कार्यकारणभाव से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं और ऐसी दशा में प्रस्तुत वादी के मतानुसार उक्त स्थल में 'मेरा' शब्द का प्रयोग अयुक्तिसंगत ठहरना चाहिए।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि 'अमुक दो वस्तुएँ एक ही क्षणपरंपरा की घटक हैं' क्षणिकवादी के इस कथन का अर्थ यही होना चाहिए

कि इन दो वस्तुओं के बीच कार्यकारणभाव है—न कि यह कि ये दो वस्तुएँ एक ही व्यक्ति हैं । और तब हरिभद्र का यह प्रश्न अपने स्थान पर बना रहता है कि उक्त दो वस्तुएँ एक व्यक्ति कैसे ।

ममेति हेतुशक्त्या चेत् तस्यार्थोऽयं विवक्षितः ।
नात्र प्रमाणमत्यक्षा तद्विवक्षा यतो मता ॥३६४॥

कहा जा सकता है कि उक्त स्थल में 'मैं' शब्द से भगवान का 'मेरी हेतुशक्ति' से है, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है ऐसा कहना प्रमाणसिद्ध नहीं और वह इसलिए कि (प्रस्तुत वादी के अपने ही मतानुसार) वक्ता का आशय एक अतीन्द्रिय (अतः अज्ञेय) वस्तु हुआ करता है ।

टिप्पणी—क्षणिकवादी का कहना है प्रस्तुत वाक्य में भगवान बुद्ध का आशय यह है कि इस वाक्य का वक्ता तथा इस वाक्य में वर्णित वधक्रिया का कर्त्ता एक ही कार्यकारणपरम्परा के एक वर्तमान घटक तथा एक भूतपूर्व घटक क्रमशः हैं । इस पर हरिभद्र यह उत्तर नहीं देते कि इस वाक्य के शब्दों को यह अर्थ पहनाना क्लिष्ट कल्पना हैं बल्कि यह कि (प्रस्तुत वादी के मतानुसार) एक व्यक्ति के मन का आशय जानना दूसरे व्यक्ति के लिए संभव नहीं ।

तद्देशना प्रमाणं चेत् न साऽन्यार्थी[1] भविष्यति ।
तत्रापि किं प्रमाणं चेदिदं पूर्वोक्त पकम् ॥३६५॥

कहा जा सकता है इस सम्बन्ध में भगवान का उपदेशविशेष ही प्रमाण है, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है प्रमाण रूप से प्रस्तुत किए गए भगवान् के उस उपदेश का कुछ और ही अर्थ होना चाहिए (न कि प्रस्तुत वादी का अभीष्ट अर्थ) और यदि पूछा जाए कि हमारे इस उत्तर के पक्ष में प्रमाण क्या है तो हम कहेंगे : "वही बुद्धकथन जिसका उल्लेख हमने अभी ऊपर किया" ।

टिप्पणी—क्षणिक वादी का कहना है कि वह किन्हीं ऐसे बुद्ध वचनों को उद्धृत कर सकता है जिसमें क्षणिकवादी का सीधा समर्थन किया गया है; हरिभद्र का उत्तर है कि उन बुद्धवचनों का कुछ दूसरा ही अर्थ होना चाहिए और वह इसलिए कि जिस बुद्धवचन की चर्चा अभी होकर चुकी है वह क्षणिकवाद के विरुद्ध जाता है ।

---

१ ख का पाठः साऽन्यर्था

तथाऽन्यदपि यत् कल्पस्थायिनी पृथिवी क्वचित् ।
उक्ता भगवता भिक्षूनामन्त्र्य स्वयमेव तु ॥३६६॥

फिर कहीं अन्यत्र भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित करके स्वयं कहा है कि यह पृथ्वी एक कल्प तक स्थिर रहने वाली है (जिसका अर्थ यह हुआ कि यह पृथ्वी क्षणस्थायिनी नहीं) ।

पञ्च बाह्या द्विविज्ञेया इत्यन्यदपि चार्पकम् ।
प्रमाणमवगन्तव्यं प्रक्रान्तार्थप्रसाधकम् ॥३६७॥

इसके अतिरिक्त यह भी एक शास्त्रवचन है कि पांच बाह्य (भौतिक) पदार्थ दो इन्द्रियों द्वारा जाने जा सकने योग्य हैं (अर्थात् एक इन्द्रियविशेष द्वारा तथा मन रूप सामान्य इन्द्रिय द्वारा जाने जा सकने योग्य है) और यह शास्त्र-वचन हमारे अभीष्ट मन्तव्य को सिद्ध करने वाला है (अर्थात् इस मन्तव्य को कि जगत् की वस्तुएँ क्षणिक मात्र नहीं) ।

क्षणिकत्वे यतोऽमीषां न द्विविज्ञेयता भवेत् ।
भिन्नकालग्रहे ह्याभ्यां तच्छब्दार्थोपपत्तितः ॥३६८॥

सचमुच, ये बाह्य पदार्थ यदि क्षणिक होंगे तो दो इन्द्रियों द्वारा जाने जा सकने योग्य नहीं होंगे क्योंकि दो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा दो विभिन्न समयों पर जाना जाने वाला पदार्थ ही 'दो इन्द्रियों द्वारा जाना सकने योग्य' कहलाता है ।

एककालग्रहे तु स्यात् तस्यैकस्याप्रमाणता ।
गृहीतग्रहणादेवं मिथ्या ताथागतं वचः ॥३६९॥

यदि कोई पदार्थ दो इन्द्रियों द्वारा एक ही समय में ग्रहण किया जाएगा तो इनमें से एक इन्द्रिय द्वारा जनित ज्ञान अप्रमाण होना चाहिए और वह इसलिए कि यह ज्ञान एक ज्ञात वस्तु को विषय बना रहा होगा (जबकि प्रस्तुत वादी के मतानुसार 'प्रमाण' नाम है 'एक अज्ञात वस्तु को विषय बनाने वाले ज्ञान' का); और ऐसी दशा में भगवान बुद्ध का यह वचन मिथ्या होगा कि कुछ पदार्थ दो इन्द्रियों द्वारा जाने जा सकने योग्य हैं ।

इन्द्रियेण परिच्छिन्ने रूपादौ तदनन्तरम् ।
यद्रूपादि ततस्तत्र मनोज्ञानं प्रवर्तते ॥३७०॥
एवं च न विरोधोऽस्ति- द्विविज्ञेयत्वभावतः ।
पञ्चानामपि चेन्न्यायादेतदप्यसमञ्जसम् ॥३७१॥

कहा जा सकता है : "एक इन्द्रिय द्वारा जाने गए रूप आदि के ठीक बाद जो रूप आदि उक्त रूप आदि से उत्पन्न होते हैं वे मनोज्ञान का विषय हुआ करते हैं, और ऐसी दशा में पांच बाह्य पदार्थों को दो इन्द्रियों द्वारा जाने जा सकने योग्य कहने में कोई असंगति नहीं।" लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि ऐसा कहना भी न्यायसंगत नहीं ।

नैकोऽपि यद् द्विविज्ञेय एकैकेनैव वेदनात् ।
सामान्यापेक्षयैतच्चेन्न तत्सत्त्वमसंगतः ॥३७२॥

क्योंकि अब भी यह तो सिद्ध नहीं हुआ कि कोई एक ही पदार्थ दो इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है और वह इसलिए कि उक्त स्थल में भी दो ज्ञानों ने दो अलग अलग पदार्थों को विषय बनाया है (न कि एक ही ज्ञान ने दो पदार्थों को)। प्रस्तुत वादी यह भी नहीं कह सकता कि उसके मन्तव्य का आधार यह वस्तुस्थिति है कि उक्त दो पदार्थ एक ही सामान्य का आश्रय होते हैं (और इसलिए यह कहना अनुचित नहीं कि यहाँ किसी एक ही वस्तु को दो इन्द्रियों द्वारा जाना जा रहा है), क्योंकि तब तो वह यह मानने को विवश हो गया कि सामान्य एक वास्तविक पदार्थ है ।

टिप्पणी—अनेक एकजातीय व्यक्तियों में समान भाव से रहने वाले एक नित्य पदार्थ को 'सामान्य' (अथवा 'जाति') कहते हैं यह न्यायवैशेषिक आदि दार्शनिकों की मान्यता है, लेकिन क्षणिकवादी बौद्ध को यह मान्यता स्वीकार्य नहीं। उसके मतानुसार तो इस प्रकार का सामान्य एक मन की कल्पना मात्र है। इसीलिए हरिभद्र अगली कारिका में कहेंगे कि क्षणिकवादी यदि 'सामान्य' को एक वास्तविक पदार्थ मान ले तो भी वह उसे दो इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया जाने योग्य पदार्थ नहीं मान सकता (भले ही उसके मतानुसार मन भी इन्द्रिय क्यों न हों)।

सत्त्वेऽपि नेन्द्रियज्ञानं हन्त ! तद्गोचरं मतम् ।
द्विविज्ञेयत्वमित्येवं क्षणभेदे न तत्त्वतः ॥३७३॥

और यदि सामान्य को एक वास्तविक पदार्थ मान भी लिया जाए तो भी यह बात अपने स्थान पर सच है कि प्रस्तुत वादी सामान्य को इन्द्रियविशेषों द्वारा (अथवा मन-इन्द्रिय द्वारा) जाना जा सकने योग्य (अर्थात् प्रत्यक्ष किया जा सकने योग्य) नहीं मानता (और ऐसी दशा में सामान्य के सम्बन्ध में यह कहने

का प्रश्न ही नहीं उठता कि वह दो इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकने योग्य है)। अतः यह सिद्ध हो गया कि यदि जगत् के सभी पदार्थ क्षणिक हैं तो इनमें से कोई भी पदार्थ 'दो इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकने योग्य' वस्तुतः नहीं कहा जा सकता ।

सर्वमेतेन विक्षिप्तं क्षणिकत्वप्रसाधनम्।
तथाऽप्यूर्ध्वं विशेषेण किञ्चित् तत्रापि वक्ष्यते ॥३७४॥

इस प्रकार हमने क्षणिकवाद की साधक सभी युक्तियों का खंडन कर दिया, फिर भी इस सम्बन्ध में कुछ अन्य विशेष बातें आगे भी कही जाएंगी ।

टिप्पणी—क्षणिकवाद का यह आगामी खंडन हमें छठे स्तवक में मिलेगा

पांचवाँ स्तवक

(१) बाह्यार्थखंडन-खंडन

विज्ञानमात्रवादोऽपि न सम्यगुपपद्यते ।
मानं यत् तत्त्वतः किञ्चिदर्थाभावे न विद्यते ॥३७५॥

विज्ञान ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है यह सिद्धान्त भी संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऐसा कोई भी यथार्थ प्रमाण हमें प्राप्त नहीं जो बाह्य पदार्थों का अभाव सिद्ध कर सके।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र विज्ञानाद्वैतवाद का खण्डन प्रारम्भ करते हैं जो इस समूचे स्तवक में चलेगा।

न प्रत्यक्षं यतोऽभावालम्बनं[1] न तदिष्यते।
नानुमानं तथाभूतसल्लिङ्गानुपपत्तितः[2] ॥३७६॥

बाह्य पदार्थों का अभाव प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध नहीं, क्योंकि प्रस्तुत वादी 'अभाव' को प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं मानता, और न ही यह अभाव अनुमान द्वारा सिद्ध है, क्योंकि इस अभाव का अनुमापक कोई समर्थ हेतु हमें प्राप्त नहीं।

उपलब्धिलक्षणप्राप्तोऽर्थो यन्नोपलभ्यते[3] ।
ततश्चानुपलब्ध्यैव तदभावोऽवसीयते ॥३७७॥

क्योंकि जो पदार्थ 'उपलब्धिलक्षणप्राप्त' होने पर भी उपलब्ध न हो उसकी अनुपलब्धि—तथा उसकी यह अनुपलब्धि ही—उसके अभाव का निश्चय कराने वाली है।

उपलब्धिलक्षणप्राप्तिस्तद्धेत्वन्तरसंहतिः ।
एषां च तत्स्वभावत्वे तस्यासिद्धिः कथं भवेत् ॥३७८॥

और एक पदार्थ के 'उपलब्धिलक्षणप्राप्त' होने के अर्थ है उस पदार्थ की उपलब्धि कराने वाली शेष सब सामग्री का उपस्थित होना; लेकिन यदि किसी सामग्री के संवन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह अमुक पदार्थ की उपलब्धि कराने वाली है तव इस पदार्थ को सत्ताशून्य कैसे माना जा सकता है ?।

सहार्थेन तज्जननस्वभावानीति चेन्ननु ।
जनयत्येव सत्येवमन्यथाऽतत्स्वभावता ॥३७९॥

---

१ क का पाठ : यतो भावा°।
२ क का पाठ : °तल्लिङ्गा°।
३ ख का पाठ : येनोप.।

कहा जा सकता है कि उक्त सामग्री का यह स्वभाव ही है कि वह उक्त पदार्थ की उपस्थिति में उस पदार्थ की उपलब्धि कराती ही है, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि यह कहने का अर्थ भी तो यही हुआ कि उक्त पदार्थ के उपस्थित रहने पर उक्त सामग्री उस पदार्थ की उपलब्धि कराती ही है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो इस सामग्री को उक्त स्वभाव वाली ही न कहा जा सकेगा।

योग्यतामधिकृत्याथ तत्स्वभावत्वकल्पना ।
हन्तैवमपि सिद्धो वः कदाचिदुपलब्धितः ॥३८०॥

तर्क दिया जा सकता है कि उक्त सामग्री को उक्त स्वभाव वाली इसलिए कहा जाता है कि उस सामग्री में उक्त पदार्थ की उपलब्धि को उत्पन्न करने की योग्यता है, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि ऐसा कहने पर भी तो उक्त पदार्थ की सत्ता सिद्ध ही हो गई, क्योंकि अब तो इस पदार्थ की उपलब्धि कभी कभी हो ही जानी चाहिए।

अन्यथा योग्यता तेषां कथं युक्त्योपपद्यते ।
न हि लोकेऽश्वमापादेः सिद्धा पक्त्यादियोग्यता ॥३८१॥

यदि ऐसा न हो (अर्थात् यदि उक्त पदार्थ की उपलब्धि कभी न होती हो) तो किसी भी सामग्री के संबन्ध में यह कहना कहाँ तक युक्तिसंगत होगा कि उसमें उक्त पदार्थ की उपलब्धि कराने की योग्यता है ? सचमुच, कुटका (जो पकने पर कभी नहीं गलता) आदि पदार्थों के सम्बन्ध में यह कभी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि उनमें पकने आदि की योग्यता है।

पराभिप्रायतो ह्येतदेवं चेदुच्यते न यत् ।
उपलब्धिलक्षणप्राप्तोऽर्थस्तस्योपलभ्यते ॥३८२॥

कहा जा सकता है कि प्रस्तुत वादी उक्त सब बातें (अर्थात् बाह्य पदार्थों की उपलब्धि सम्बन्धी सब बातें) अपने विरोधियों की मान्यता को ध्यान में रख कर कर रहा है, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि यह कहने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि इन विरोधियों का तो यह विश्वास है कि 'उपलब्धिलक्षणप्राप्त' होने पर बाह्य पदार्थों की उपलब्धि हुआ ही करती है (न कि नहीं हुआ करती—जैसी कि प्रस्तुतवादी की मान्यता है)।

अतद्ग्रहणभावैश्च[1] यदि नाम न गृह्यते ।
तत एतावताऽसत्त्वं[2] न तस्यातिप्रसंगतः ॥३८३॥

---

१ ख का पाठ: तद्ग्रहण° ।
२ ख का पाठ: °ता सत्त्वं° ।

कहा जा सकता है कि बाह्य पदार्थों को ग्रहण करना जिस सामग्री का स्वभाव नहीं उसके द्वारा बाह्य पदार्थों का ग्रहण नहीं होता, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि बाह्य पदार्थ सत्ताशून्य हैं; क्योंकि यदि ऐसा माना जाए तब तो अवाञ्छनीय निष्कर्ष सिर पर आ पड़ते हैं (वह इसलिए कि तब तो किसी भी पदार्थ के संबन्ध में कहा जा सकेगा कि वह सत्ताशून्य है क्योंकि उसका ग्रहण वह सामग्री नहीं करती जिसका स्वभाव उसे ग्रहण करना नहीं) ।

विज्ञानं यत् स्वसंवेद्यं न त्वर्थो युक्त्ययोगतः ।
अतस्तद्‌वेदने तस्य ग्रहणं नोपपद्यते ॥३८४॥
एवं चाग्रहणादेव तदभावोऽवसीयते ।
अतः किमुच्यते मानमर्थाभावे न विद्यते ॥३८५॥

कहा जा सकता है : "विज्ञान एक स्वसंवेद्य वस्तु है (अर्थात् अपना ज्ञान आप करने वाली एक वस्तु है) जबकि बाह्य पदार्थ उस स्वभाव वाले नहीं, और वह इसलिए कि बाह्य पदार्थों को स्वसंवेद्य मानना अयुक्तिसंगत है । ऐसी दशा में 'विज्ञान को ग्रहण करते समय बाह्य पदार्थों का भी ग्रहण हो' यह बात बनती नहीं । और यही वस्तुस्थिति कि बाह्य पदार्थों का ग्रहण नहीं होता यह भी निश्चय करा देती है कि बाह्य पदार्थ सत्ताशून्य हैं । तब फिर कैसे कहा जा सकता है कि ऐसा कोई भी प्रमाण हमें प्राप्त नहीं जो बाह्य पदार्थों का अभाव सिद्ध कर सके ?" इस पर हमारा उत्तर है :

अर्थग्रहणरूपं यत् तत् स्वसंवेद्यमिष्यते ।
तद्‌वेदने ग्रहस्तस्य ततः किं नोपपद्यते ॥३८६॥

जिस विज्ञान को प्रस्तुत वादी स्वसंवेद्य मान रहा है वही "बाह्य पदार्थों का ग्रहण" इस रूप वाला है, और ऐसी दशा में 'इस विज्ञान का ग्रहण करते समय ही बाह्य पदार्थों का ग्रहण हो' यह बात बनती क्यों नहीं (अर्थात् अवश्य बनती है) ?

टिप्पणी—विज्ञानाद्वैतवादी की मान्यतानुसार हमें ज्ञान की स्वानुभूति 'केवल ज्ञान' इस रूप से होती है जबकि हरिभद्र की मान्यतानुसार हमें ज्ञान की स्वानुभूति 'बाह्यार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान' इस रूप से होती है ।

घटादिज्ञानमित्यादिसंवित्तेस्तत्प्रवृत्तितः ।
प्राप्तेरर्थक्रियायोगात् स्मृतेः कौतुकभावतः ॥३८७॥

हमारी उक्त मान्यता का आधार यह वस्तुस्थिति है कि हमें ज्ञान की अनुभूति 'घट आदि (बाह्य पदार्थों) का ज्ञान' इस रूप से होती है, यह कि हम घट आदि की ओर अग्रसर होते हैं, यह कि हमें घट आदि की प्राप्ति होती है, यह कि हम घट आदि को काम में लाते हैं, यह कि हमें घट आदि की स्मृति होती है, यह कि हमें घट आदि को प्राप्त करने की इच्छा होती है ।

ज्ञानमात्रे तु विज्ञानं ज्ञानमेवेत्यदो भवेत् ।
प्रवृत्त्यादि ततो न स्यात् प्रसिद्धं लोकशास्त्रयोः ॥३८८॥

यदि जगत् में ज्ञान ही एक मात्र वास्तविक सत्ता हो तो हमारी जानकारी का स्वरूप 'यह (घट आदि बाह्य पदार्थ) ज्ञान ही है' ऐसा होना चाहिए, और उस दशा में उन क्रियाकलापों की ओर अभिमुख होना आदि हमारे लिए कभी संभव नहीं होना चाहिए जो कि लोक तथा शास्त्र में प्रसिद्ध हैं ।

तदन्यग्रहणे चास्य प्रद्वेषोऽर्थेऽनिबन्धनः ।
ज्ञानान्तरेऽपि सदृशं तदसंवेदनादि यत् ॥३८९॥

यदि प्रस्तुतवादी यह मानने को तैयार है कि ज्ञान अपने से अतिरिक्त किसी वस्तु को अपना विषय बनाता है तो उसका बाह्य पदार्थों से शत्रुता रखना (अर्थात् उनकी सत्ता से इनकार करना) बेतुका है; क्योंकि उस दशा में भी (अर्थात् ज्ञान का विषय अबाह्य रूप होने की दशा में भी) इस प्रकार की (कुतर्कमूलक) आपत्तियाँ तो उठाई ही जा सकेंगी कि "एक व्यक्ति एक दूसरे व्यक्ति के ज्ञान को अपने ज्ञान का विषय नहीं बना सकता (अतः इस दूसरे व्यक्ति का ज्ञान सत्ताशून्य है)" ।

युक्त्ययोगश्च योऽर्थस्य गीयते जातिवादतः ।
ग्राह्यादिभावद्वारेण ज्ञानवादेऽप्यसौ समः ॥३९०॥

और प्रस्तुत वादी जो यह थोथी आपत्ति उठाता है कि "बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं क्योंकि बाह्य पदार्थ ग्राह्य आदि रूप वाले नहीं (अर्थात् ग्राह्य, ग्राहक, उभय, अनुभय इन चारों में से एक भी रूप वाले नहीं)" वह ज्ञान को एकमात्र वास्तविक सत्ता मानने वाले सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी सच है ।

नैकान्तग्राह्यभावं तद् ग्राहकाभावतो भुवि ।
ग्राहकैकान्तभावं तु ग्राह्याभावादसंगतम् ॥३९१॥
विरोधान्नोभयाकारमन्यथा तदसद् भवेत् ।
निःस्वभावत्वतस्तस्य सत्त्वं युज्यते कथम् ॥३९२॥

(सचमुच, ज्ञान के संबन्ध में भी हम कह सकते हैं कि) वह केवल ग्राह्य स्वरूप नहीं क्योंकि उस दशा में वह ग्राहक स्वरूप नहीं रह सकेगा, वह केवल ग्राहक स्वरूप नहीं क्योंकि उस दशा में वह ग्राह्य स्वरूप नहीं रह सकेगा, वह ग्राह्य स्वरूप तथा ग्राहक स्वरूप दोनों नहीं क्योंकि उस दशा में उसका स्वभाव अन्तर्विरोधपूर्ण हो जाएगा, वह ग्राह्य स्वरूप तथा ग्राहक स्वरूप दोनों के अभाव वाला नहीं क्योंकि उस दशा में स्वभावशून्य होने के कारण वह सत्ता-शून्य हो जाएगा। ऐसी दशा में उसकी (अर्थात् ज्ञान की) सत्ता स्वीकार करना कहाँ तक उचित है?

प्रकाशैकस्वभावं हि विज्ञानं तत्त्वतो मतम् ।
अकर्मकं तथा चैतत् स्वयमेव प्रकाशते ॥३९३॥
यथाऽऽस्ते शेत इत्यादौ विना कर्म स एव हि ।
तथोच्यते जगत्यस्मिंस्तथा ज्ञानमपीष्यताम् ॥३९४॥

कहा जा सकता है: "वस्तुतः ज्ञान का एकमात्र स्वरूप प्रकाशनक्रिया है; और क्योंकि यह क्रिया अकर्मक है इसलिए हमें कहना चाहिए कि ज्ञान अपने आप से प्रकाशित होता है। जिस प्रकार 'वह बैठता है' 'वह सोता है' आदि प्रयोगों में क्रिया कर्म से शून्य है तथा कर्त्ता को ही उस उस क्रिया का करने वाला कहा जाता है वैसी ही बात ज्ञान के संबन्ध में भी है (अर्थात् प्रकाशनक्रिया-रूप ज्ञान भी कर्म से शून्य है तथा वह स्वयं ही प्रकाशनक्रिया का कर्त्ता है)"।

टिप्पणी—हिन्दी में पूछा जा सकता है कि ज्ञान को 'चमकता है' इस अकर्मक क्रिया का कर्त्ता माना जाए या 'चमकाता है' इस सकर्मक क्रिया का। विज्ञानाद्वैतवादी का कहना है कि उनमें से पहला विकल्प स्वीकार किया जाना चाहिए, हरिभद्र कहेंगे कि दूसरा।

उच्यते सांप्रतमदः[1] स्वयमेव विचिन्त्यताम् ।
प्रमाणाभावतस्तत्र यद्येतदुपपद्यते ॥३९५॥

१ क का पाठः उच्यतेऽसाम्प्रत°

इसके उत्तर में हम चाहेंगे कि प्रस्तुतवादी स्वयं सोचे कि क्या उसका मत स्वीकार करने पर किसी भी प्रकार की तत्त्वव्यवस्था (अर्थात् किसी भी वस्तु को किसी भी रूप वाली कहना) समुचित रूप से संभव होगी; हमारी आपत्ति का आधार यह वस्तुस्थिति है कि किसी भी प्रकार की तत्त्वव्यवस्था के पक्ष में किसी भी प्रकार का प्रमाण उपस्थित करना प्रस्तुतवादी के लिए संभव नहीं।

एवं न यत् तदात्मानमपि हन्त प्रकाशयेत् ।
अतस्तदित्थं नो युक्तमन्यथा न व्यवस्थितिः ॥३९६॥

क्योंकि तब तो (अर्थात् ज्ञान को अकर्मक प्रकाशनक्रिया भर मानने पर) मानना पड़ेगा कि ज्ञान अपने स्वरूप का भी प्रकाशन नहीं कर सकता, और ऐसी दशा में प्रस्तुत वादी का यह कहना उचित न होगा कि ज्ञान अमुक स्वरूप वाला है। और यदि ऐसा नहीं है (अर्थात् यदि प्रस्तुत वादी का यह कहना उचित है कि ज्ञान अकर्मक प्रकाशनक्रिया भर है) तो ज्ञान की स्वरूपव्यवस्था संभव नहीं।

व्यवस्थितौ च तत्त्वस्य[1] तथाभावप्रकाशकम् ।
ध्रुवं यतस्ततोऽकर्मकत्वमस्य कथं भवेत् ॥३९७॥

दूसरी ओर ज्ञान की स्वरूपव्यवस्था संभव है यह कहने का अर्थ है कि एक ऐसे ज्ञान की सत्ता निश्चय संभव है जो ज्ञान के स्वरूप को यथार्थ भाव से प्रकाशित करता है: ऐसी दशा में इस ज्ञान को (अर्थात् ज्ञान के स्वरूप विषयक ज्ञान को) अकर्मक कैसे माना जा सकेगा ?

व्यवस्थापकमस्यैवं भ्रान्तं चैतत्तु भावतः ।
तथेत्यभ्रान्तमत्रापि ननु मानं न विद्यते ॥३९८॥

कहा जा सकता है कि ज्ञान की स्वरूपव्यवस्था उक्त रूप से करने वाला कोई ज्ञान होता तो है लेकिन वह वस्तुतः भ्रान्त हुआ करता है; इस पर हमारा उत्तर है कि तब तो इस संबन्ध में (अर्थात् ज्ञान को स्वरूपव्यवस्था के संबन्ध में) कोई अभ्रान्त प्रमाण हमें प्राप्त नहीं रहा।

भ्रान्ताच्चाभ्रान्तरूपा न युक्तियुक्ता व्यवस्थितिः ॥
दृष्टा तैमिरिकादीनामक्षादाविति चेन्न तत् ।३९९॥

और यह मानना युक्तिसंगत नहीं कोई भ्रान्त ज्ञान किसी वस्तु के संबन्ध में अभ्रान्त स्वरूपव्यवस्था कर सकता है। कहा जा सकता है कि तिमिर आदि नेत्र रोगों से पीड़ित व्यक्तियों के भ्रान्त ज्ञान इन व्यक्तियों के नेत्र रोग के संबन्ध में अभ्रान्त स्वरूपव्यवस्था कराया ही करते हैं, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है :

१. ख का प्रस्तावित पाठ : °तौ तत्तत्त्वस्य ।

टिप्पणी—प्रस्तुत वादी का आशय यह है कि तिमिर रोग से पीड़ित एक व्यक्ति के नेत्र-जन्य प्रत्यक्षों को भ्रान्त पाने पर हम जान लेते हैं कि यह व्यक्ति तिमिररोग से पीड़ित है, और इस प्रकार यहाँ उक्त भ्रान्त ज्ञान उक्त व्यक्ति के तिमिररोग के संबन्ध में अभ्रान्त ज्ञान करा पाते हैं।

नाक्षादिदोषविज्ञानं तदन्यभ्रान्तिवद्यतः।
भ्रान्तं तस्य तथाभावे भ्रान्तस्याभ्रान्तता भवेत् ॥४००॥

नेत्ररोग से पीड़ित उक्त व्यक्तियों का नेत्रजन्य ज्ञान जिस प्रकार भ्रान्त होता है वैसे ही भ्रान्त वह ज्ञान नहीं जिसका विषय उक्त नेत्र-रोग है; क्योंकि इस नेत्ररोग विषयक ज्ञान को भ्रान्त मानने का अर्थ होगा उक्त नेत्रजन्य ज्ञान को (जो वस्तुतः भ्रान्त है) अभ्रान्त मानना।

न च प्रकाशमात्रं तु लोके क्वचिदकर्मकम्।
दीपादौ युज्यते न्यायादतश्चैतदपार्थकम् ॥४०१॥

फिर हम दीप आदि के लोकप्रसिद्ध दृष्टान्तों में कहीं भी यह कहना न्याय-संगत नहीं पाते कि यहाँ प्रकाशनक्रिया केवल प्रकाशनरूप तथा अकर्मक है; इसलिए भी प्रस्तुत वादी का उक्त मत किसी काम का नहीं (अर्थात् यह मत कि ज्ञान एक अकर्मक तथा केवल प्रकाशन रूप क्रिया है)।

दृष्टान्तमात्रतः सिद्धिस्तदत्यन्तविधर्मिणः।
न च साध्यस्य यत् तेन शब्दमात्र ावपि ॥४०२॥

और केवल दृष्टान्तों की सहायता से एक ऐसे साध्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता जो उन दृष्टान्तों से अत्यन्त विसदृश हो; अतः प्रस्तुत वादी द्वारा अपने पक्ष के समर्थन में दिए गए दृष्टान्त भी (अर्थात् 'बैठना', 'सोना' आदि क्रियाओं के दृष्टान्त भी) कोरे शब्द हैं।

(२) विज्ञानाद्वैतवाद में मोक्ष की अनुपपत्ति

किं च विज्ञानमात्रत्वे न संसारापवर्गयोः।
विशेषो विद्यते कश्चित् तथा चैतद् वृथोदितम् ॥४०३॥

दूसरे, विज्ञान को ही एक मात्र वास्तविक सत्ता मानने पर संसार तथा मोक्ष के बीच किसी प्रकार का अन्तर नहीं रह जाता; और ऐसी दशा में प्रस्तुत वादी का निम्नलिखित कथन किसी काम का नहीं :

चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥४०४॥

"राग आदि मनोदोषों से दूषित चित्त का ही नाम संसार है तथा इन्हीं मनोदोषों से मुक्त चित्त का नाम मोक्ष है" ।

रागादिक्लेशवर्गो यन्न विज्ञानात् पृथग् मतः ।
एकान्तैकस्वभावे च तस्मिन् किं केन वासितम् ॥४०५॥

सचमुच, प्रस्तुत वादी के मतानुसार राग आदि मनोदोष विज्ञान से पृथक् कोई वस्तु नहीं होने चाहिए, और इस प्रकार जब विज्ञान ही एक मात्र वास्तविक सत्ता है तो प्रश्न उठता है कि कौन किसे दूषित करता है (प्रश्न इसलिए कि कोई वस्तु अपने आप को दूषित नहीं कर सकती) ।

क्लिष्टं विज्ञानमेवासौ क्लिष्टता तस्य यद्वशात् ।
नील्यादिवदसौ वस्तु तद्वदेव प्रसज्यते ॥४०६॥

कहा जा सकता है कि दूषित विज्ञान का ही नाम राग आदि मनोदोष है, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि तब तो वह वस्तु जिसके कारण विज्ञान दूषित अवस्था प्राप्त करता है विज्ञान की ही भांति एक वास्तविक सत्ता होनी चाहिए उसी प्रकार जैसे नील आदि (जो एक स्वच्छ वस्त्र को रंग पाते हैं इस वस्त्र की ही भांति) एक वास्तविक सत्ता हैं ।

मुक्तौ च तस्य भेदेन भावः स्यात् पटशुद्धिवत् ।
ततो बाह्यार्थतासिद्धिरनिष्टा संप्रसज्यते ॥४०७॥

और मोक्षावस्था में विज्ञान अपने को दूषित करने वाली उक्त वस्तु से पृथक् होकर अवस्थित रहता है–उसी प्रकार जैसे नील आदि से पृथक् होकर वस्त्र पुनः स्वच्छ अवस्था प्राप्त करता है; जब बात ऐसी है तब विज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थों की सत्ता, जिसे स्वीकार करना प्रस्तुत वादी को अभीष्ट नहीं, सिद्ध हो गई ।

प्रकृत्यैव तथाभूतं तदेव क्लिष्टेति चेत् ।
तदन्यूनातिरिक्तत्वे केन मुक्तिर्विचिन्त्यताम् ॥४०८॥

यदि कहा जाए कि विज्ञान का स्वभाव से ही दूषित होना उसका दूषित होना कहलाता है तो हम चाहेंगे कि प्रस्तुत वादी सोचे कि जब दोषों के अवस्थान की परिधि विज्ञान की परिधि से न कम है न अधिक तब मोक्षप्राप्ति (अर्थात् विज्ञान की दोषों से मुक्ति) कैसे संभव होगी ।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि जब विज्ञान स्वभावतः दोषयुक्त है तब वह दोषमुक्त हो ही कैसे सकता है ।

असत्यपि च या बाह्ये ग्राह्यग्राहकलक्षणा[1] ।
द्विचन्द्रभ्रान्तिवद् भ्रान्तिरियं नः क्लिष्टतेति चेत् ॥४०९॥

प्रस्तुत वादी कह सकता है: "बाह्य पदार्थों के अभाव में भी अनुभूत होने वाले ग्राह्यग्राहकभाव को ही हम विज्ञान का दूषित होना कहते हैं, और यह ग्राह्यग्राहकभाव (अतएव विज्ञान का यह दूषित होना) एक भ्रान्ति है उसी प्रकार जैसे (किसी नेत्ररोगी को) दो चन्द्रमाओं का दीखना ।" लेकिन इस पर हमारा उत्तर है:

टिप्पणी—यहाँ 'ग्राह्य' का अर्थ है ज्ञानविषय और 'ग्राहक' का अर्थ ज्ञान । 'असत्यपि च या बाह्ये ग्राह्यग्राहकलक्षणा' के स्थान पर यशोविजयजी द्वारा स्वीकृत पाठ है 'असत्यपि च या बाह्ये ग्राह्ये ग्राहकलक्षणे'; उनके अनुसार कारिका का अनुवाद होगा "ग्राह्यरूप बाह्य पदार्थों के तथा ग्राहकरूप ज्ञान के अभाव में भी अनुभूत होने वाले ग्राह्यग्राहकभाव को ही हम........।"

अस्त्वेतत् किन्तु तद्धेतुभिन्नहेत्वन्तरोद्भवा ।
इयं स्यात् तिमिराभावे न हीन्दुद्वयदर्शनम् ॥४१०॥

यह सब कुछ ऐसा ही भले क्यों नहो, लेकिन एक भ्रान्ति का कारण ज्ञान-मात्र के कारण से भिन्न ही होना चाहिए; सचमुच, तिमिर नामक नेत्र रोग के अभाव में किसी व्यक्ति को दो चन्द्रमा नहीं दिखलाई पड़ते ।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि यदि ज्ञानमात्र का कारण भ्रान्ति का कारण है तो ज्ञानमात्र को भ्रान्त ज्ञान होना चाहिए ।

न चासदेव तद्धेतुर्बोधमात्रं न चापि तत् ।
सदैवं[2] क्लिष्टतापत्तेरिति मुक्तिर्न युज्यते ॥४११॥

भ्रान्ति का कारण कोई अवास्तविक सत्ता नहीं हो सकती और न ही यह कारण ज्ञानमात्र हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर (अर्थात् किसी अवास्त-विक सत्ता को अथवा ज्ञानमात्र को भ्रान्ति का कारण मानने पर) मानना पड़ेगा कि विज्ञान सदैव दूषित रहा करता है और उस दशा में मोक्ष की (अर्थात् विज्ञान की दोषमुक्ति की) संभावना अयुक्तिसंगत सिद्ध होगी ।

---

१ क का पाठः °लक्षणे

२ क का पाठः तदैव

मुक्त्यभावे च सर्वैव ननु चिन्ता निरर्थिका ।
भावेऽपि सर्वदा तस्याः सम्यगेतत् विचिन्त्यताम् ॥४१२॥

यदि मोक्ष एक असंभव घटना है तो सब दार्शनिक चर्चा व्यर्थ सिद्ध होती है, और यदि मोक्ष एक सदा वर्त्तमान अवस्था है तो भी उक्त चर्चा व्यर्थ सिद्ध होती है । प्रस्तुत वादी को इस परिस्थिति पर भली भांति विचार करना चाहिए ।

विज्ञानमात्रवादो यत् नेत्थं युक्त्योपपद्यते ।
प्राज्ञस्याभिनिवेशो[1] न तस्मादत्रापि युज्यते ॥४१३॥

विज्ञान को एकमात्र वास्तविक सत्ता मानने का सिद्धान्त जब इस प्रकार अयुक्तिसंगत सिद्ध होता है तब बुद्धिमानों को चाहिए कि वे इस पर भी जमे न रहें ।

---

१ ख का पाठ : °स्यापि निवेशो ।

छठा स्तबक

(१) 'निर्हेतुक विनाश' से क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं

यच्चोक्तं पूर्वमत्रैव क्षणिकत्वप्रसाधकम् ।
नाशहेतोरयोगादि तदिदानीं परीक्ष्यते ॥४१४॥

क्षणिकवाद के समर्थन में यहीं पहले जो युक्तियाँ दी गई थीं कि 'प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, क्योंकि उसके नाश का कोई कारण संभव नहीं' आदि आदि, अब हम उनकी परीक्षा करते हैं ।

टिप्पणी—पिछली बार क्षणिकवाद का खंडन करते समय प्रारम्भ में ही अर्थात् कारिका २३९ में ही हरिभद्र ने कहा था कि इस वाद के समर्थन में चार युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं । इन्हीं चार युक्तियों का क्रमशः खण्डन प्रायः समूचे प्रस्तुत स्तबक में चलेगा; (स्तबक की ६३ कारिकाओं में से केवल अन्तिम १० में शून्यवाद का खंडन है) ।

हेतोः स्यान्नश्वरो भावोऽनश्वरो वा विकल्प्य यत्[1] ।
नाशहेतोरयोगित्वमुच्यते तन्न युक्तिमत् ॥४१५॥

जो यह तर्क दिया जाता है कि एक वस्तु यदि नश्वर रूप में अपने कारण से उत्पन्न हो तो उसके नाश का कोई कारण संभव नहीं और यदि वह अ-नश्वर-रूप में अपने कारण से उत्पन्न हो तो भी नहीं वह युक्तिसंगत नहीं ।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका से क्षणिकवादी के इस तर्क का खंडन प्रारम्भ होता है कि प्रत्येक वस्तु क्षणिक है क्योंकि किसी वस्तु के नाश का कोई कारण संभव नहीं । क्षणिकवादी के तर्क का आधार उसकी यह समझ है कि जब किसी धर्म के संबन्ध में यह मान लिया जाए कि वह अमुक वस्तु का स्वभाव है तब यह प्रश्न उठाना कोई अर्थ नहीं रखता कि इस धर्म के इस वस्तु में पाए जाने का कारण क्या है; और क्योंकि क्षणिकवादी का मत है कि क्षणिकता—अर्थात् उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाना—प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है उसका यह भी कहना है कि यह प्रश्न उठाना कोई अर्थ नहीं रखता कि एक वस्तु में पाई जाने वाली क्षणिकता का—अर्थात् उत्पन्न होते ही होने वाले इस वस्तु के नाश का—कारण क्या है। 'नाश-निर्हेतुकतावाद' का सीधा अर्थ यही है, लेकिन हरिभद्र को यह वाद त्रुटिपूर्ण

---

१ ख का पाठ : विकल्पयत् ।

लगता है जिसका मुख्य कारण यह है कि उनके अपने मतानुसार प्रत्येक वस्तु का स्वभाव क्षणिकता नहीं अपितु क्षणिकता-संवलित-नित्यता है।

हेतुं प्रतीत्य यदसौ तथा नश्वर इष्यते ।
यथैव भवतो हेतुर्विशिष्टफलसाधकः ॥४१६॥

क्योंकि हमारे मतानुसार एक वस्तु किसी कारणविशेष पर निर्भर रहती हुई नष्ट होती है—उसी प्रकार जैसे कि प्रस्तुत वादी के मतानुसार वही वस्तु इसी कारण पर निर्भर रहती हुई एक विशिष्ट (अर्थात् अपने से विसदृश) कार्य को जन्म देती है।

टिप्पणी—जिस वस्तुस्थिति को सामान्यतः यह कहकर व्यक्त किया जाता है कि "क के कारण ख नष्ट होकर ग हो गया (उदाहरण के लिए, डण्डा लग जाने के कारण घड़ा टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो गया)" उसे क्षणिकवादी यह कहकर व्यक्त करेगा कि "क के कारण ख ने ग को जन्म दिया और ग ख से विसदृश है (यदि क न आया होता तो ख ने ख' को जन्म दिया होता और ख' ख के सदृश होता)"; इसके विपरीत, हरिभद्र इसी वस्तुस्थिति को यह कहकर व्यक्त करेंगे कि "क के कारण ख का विनाश हुआ तथा ग का जन्म हुआ।"

तथास्वभाव एवासौ स्वहेतोरेव जायते ।
सहकारिणमासाद्य यस्तथाविधकार्यकृत् ॥४१७॥

प्रस्तुत वादी के मतानुसार एक वस्तु अपने कारण से ही ऐसे रूप वाली होकर उत्पन्न होती है कि वह सहकारिकारण की उपस्थिति में उक्त प्रकार के (अपने से विसदृश) कार्य को जन्म देती है।

टिप्पणी—पिछली टिप्पणी की भाषा में रखा जाए तो क्षणिकवादी का मत है कि ख अपने कारण से ही ऐसा स्वभाव लेकर उत्पन्न हुआ था कि वह क की उपस्थिति में ग को जन्म दे। वस्तुस्थिति को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि घड़े के दृष्टान्त में ख का अर्थ होगा 'घड़े के अस्तित्व का अन्तिम क्षण', ग का अर्थ 'घड़े के टुकड़ों के अस्तित्व का प्रथम क्षण', क का अर्थ 'डण्डे के अस्तित्व का वह क्षण जो घड़े के अस्तित्व के अन्तिम क्षण के समकालीन था'।

न पुनः क्रियते किञ्चित् तेनास्य सहकारिणा ।
समानकालभावित्वात् तथा चोक्तमिदं तव ॥४१८॥

प्रस्तुत वादी की यह भी मान्यता है कि उस सहकारिकारण उक्त वस्तु में कुछ नवीनता नहीं लाता और वह इसलिए कि यह सहकारिकारण इस वस्तु का समकालीन है। प्रस्तुत वादी के ही शब्दों में :

टिप्पणी—पूर्वोक्त टिप्पणी की भाषा में, क्षणिकवादी कह रहा है कि क ख में कुछ नवीनता नहीं लाता क्योंकि क तथा ख परस्पर समकालीन हैं।

उपकारी विरोधी च सहकारी च यो मतः।
प्रबन्धापेक्षया सर्वो नैककाले कदाचन ॥४१९॥
सहकारिकृतो हेतोर्विशेषो नास्ति यद्यपि ।
फलस्य तु विशेषोऽस्ति तत्कृतातिशयान्वितः ॥४२०॥

"एक वस्तु अपनी समकालीन किसी दूसरी वस्तु का न उपकार कर सकती है, न उसका विरोध कर सकती है, न उसे किसी प्रकार की सहायता पहुँचा सकती है; यदि यह वस्तु उपकार आदि करती ही है तो इस दूसरी वस्तु से आरंभ होने वाली क्षण-परंपरा का। इस प्रकार यद्यपि एक सहकारिकारण अपने से संबन्धित मुख्य कारण में कुछ नवीनता नहीं लाता, लेकिन इस सहकारिकारण से प्राप्त कोई सामर्थ्यविशेष इस मुख्य कारण द्वारा जनित कार्य में कुछ नवीनता अवश्य लाती है।' इस पर हमारा उत्तर है :

टिप्पणी—पूर्वोक्त टिप्पणी की भाषा में, यद्यपि क ने ख में कोई नवीनता नहीं उत्पन्न की लेकिन यदि क न आया होता तो जहाँ हमें ग दिखाई पड़ रहा है वहाँ ख' दिखलाई पड़ रहा होता।

न चास्यातत्स्वभावत्वे स फलस्यापि युज्यते ।
सभागक्षणजन्माप्तेस्तथाविधतदन्यवत् ॥४२१॥

जब तक उक्त मुख्य कारण में हो उस प्रकार का (अर्थात् अपने से विसदृश कार्य को उत्पन्न करने का) स्वभाव न माना जाएगा तब तक यह कहना युक्तिसंगत नहीं ठहरेगा कि इस मुख्य कारण से जनित कार्य उक्त नवीनता वाला है (अर्थात् उस मुख्य कारण से विसदृश स्वभाव वाला है); क्योंकि यदि ऐसा न हो तो उक्त मुख्य कारण भी अपने से सदृश कार्य को ही जन्म दे बैठेगा—उसी प्रकार जैसे कि इस मुख्य कारण के पूर्ववर्ती भूत क्षणों ने अपने से सदृश कार्यों को ही जन्म दिया था।

टिप्पणी—पूर्वोक्त टिप्पणी की भाषा में, यदि क की उपस्थिति ख में कोई नवीनता नहीं लाती तो समझ में नहीं आता कि क्यों ख के बाद ग का ही जन्म हुआ ख' का नहीं।

अस्थानपक्षपातश्च हेतोरनुपकारिणि ।
अपेक्षायां नियुङ्क्ते यत् कार्यमेतद् वृथोदितम् ॥४२२॥

प्रस्तुत वादी का कहना है कि यदि एक वस्तु को अपना किसी प्रकार का उपकार न करने वाली एक दूसरी वस्तु पर निर्भर रहने के लिए बाध्य होना पड़े तो इसका अर्थ यह हुआ कि इस पहली वस्तु के कारण का इस दूसरी वस्तु के प्रति अनुचित पक्षपात है; लेकिन उसका यह कहना बेकार की बात है।

टिप्पणी—पूर्वोक्त टिप्पणी की भाषा में, यदि ख का नाश अवश्यंभावी था चाहे क आता या न आता तब ख के नाश का कारण क को मानने में कोई तुक नहीं; (इसके विपरीत, क्योंकि क की अनुपस्थिति में ग की उत्पत्ति नहीं हुई होती इसलिए ग की उत्पत्ति का कारण क को मानना उचित है), ऐसी दशा में भी यदि कहा जाए कि ख के कारण ने ख को ऐसे रूप में उत्पन्न किया कि वह क की उपस्थिति में नष्ट हो तो कहना यह हुआ कि ख के कारण का क के प्रति अनुचित पक्षपात है।

यस्मात्तस्याप्यदस्तुल्यं विशिष्टफलसाधकम् ।
भावहेतुं समाश्रित्य ननु न्यायान्निदर्शितम् ॥४२३॥

क्योंकि हम युक्तिपूर्वक दिखा चुके कि उक्त आक्षेप प्रस्तुत वादी की इस मान्यता पर भी लागू होता है कि एक वस्तु (एक दूसरी वस्तु पर निर्भर रहती हुई) एक विशिष्ट (अर्थात् अपने से विसदृश) कार्य के जन्म का कारण बनती है।

टिप्पणी—पूर्वोक्त टिप्पणी की भाषा में, यदि क ने ख में किसी प्रकार की नवीनता नहीं उत्पन्न की और फिर भी कहा जाए कि ख के कारण ने ख को ऐसे रूप में उत्पन्न किया कि वह क की उपस्थिति में ग को जन्म दे तो कहना यह हुआ कि ख के कारण का क के प्रति अनुचित पक्षपात है।

एवं च व्यर्थमेवेह व्यतिरिक्तादिचिन्तनम् ।
नाश्यमाश्रित्य नाशस्य क्रियते यद् विचक्षणैः ॥४२४॥

ऐसी दशा में बुद्धिमानों का इस प्रश्न की चर्चा में पड़ना व्यर्थ ही है कि एक नष्ट होने वाली वस्तु तथा उसका नाश एक दूसरे से भिन्न हैं या अभिन्न आदि आदि।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि ठीक ऐसे ही प्रश्न एक उत्पन्न होने वाली वस्तु तथा उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में उठाए जा सकते हैं।

किञ्च निर्हेतुके नाशे हिंसकत्वं न युज्यते।
व्यापाद्यते सदा यस्मान्न कश्चित् केनचित् क्वचित् ॥४२५॥

दूसरे, यदि नाश का कोई कारण न माना जाए तब किसी को किसी की हिंसा करने वाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस दशा में तो कोई किसी के द्वारा कभी मारा ही नहीं जाएगा।

कारणत्वात् स सन्तानविशेषप्रभवस्य चेत्।
हिंसकस्तन्न सन्तानसमुत्पत्तेरसंभवात् ॥४२६॥

कहा जा सकता है कि कोई व्यक्तिविशेष हिंसक इसलिए है कि वह एक विशिष्ट (अर्थात् मारे गए प्राणी से विसदृश) क्षण-परंपरा को जन्म देता है, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि प्रस्तुत वादी का मत स्वीकार करने पर तो क्षण--परंपराओं की उत्पत्ति ही संभव नहीं।

टिप्पणी–प्रस्तुत वादी के कहने का आशय यह है कि एक प्राणी का हत्यारा उस प्राणी के नाश का कारण नहीं अपितु उस प्राणी के स्थान पर (अधिक सही कहें तो उस प्राणी की जीवनक्षणपरंपरा के स्थान पर) एक नए प्राणी के जन्म का (अधिक सही कहें तो एक नए प्राणी की जीवनक्षणपरंपरा के जन्म का) कारण है; इस पर हरिभद्र का उत्तर है कि क्योंकि प्रस्तुत वादी क्षण-परंपरा सम्बन्धी अपनी कल्पना की सहायता से ही कार्यकारणभाव का स्वरूपनिरूपण कर पाता है और क्योंकि यह कल्पना अ-युक्तिसंगत है इसलिए उसका उक्त बचाव संतोषजनक नहीं।

सांवृतत्वाद्[1] व्ययोत्पादौ सन्तानस्य खपुष्पवत्।
न स्तस्तदधर्मत्वाच्च हेतुस्तत्प्रभवे[2] कुतः ॥४२७॥

क्योंकि प्रस्तुत वादी के मतानुसार क्षणपरंपरा आकाशकुसुम की भांति एक काल्पनिक वस्तु है इस क्षणपरंपरा की उत्पत्ति अथवा विनाश संभव नहीं दूसरे, उसके मतानुसार एक क्षणपरंपरा की उत्पत्ति इस क्षणपरंपरा का धर्म नहीं (और वह इसलिए कि एक क्षणपरंपरा धर्मों वाली नहीं हुआ करती)। ऐसी

१ क का पाठ : सांवृत्त०
२ ख का पाठ : ०स्तत्संभवे

दशा में प्रस्तुत वादी का किसी व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध में यह कहना कहाँ तक उचित है कि वह अमुक क्षणपरंपरा की उत्पत्ति का कारण है ?

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि प्रस्तुतवादी के मतानुसार एक वास्तविक वस्तु वही हो सकती है जो क्षणिक हो, लेकिन यह तथाकथित क्षण-परंपरा कोई क्षणिक वस्तु नहीं ।

विसभागक्षणस्याथ जनको हिंसको न तत् ।
स्वतोऽपि तस्य तत्प्राप्तेर्जनकत्वाविशेषतः ॥४२८॥

फिर मारे गए प्राणी से विसदृश क्षण को (अर्थात् विसदृश क्षणपरम्परा के आद्य घटक को) जन्म देने वाले व्यक्ति को हिंसक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब तो यह प्राणी स्वयं भी अपना हिंसक कहलाया जा सकेगा और वह इसलिए कि मारा गया प्राणी स्वयं भी उक्त विसदृश क्षण को जन्म देने वाला उसी प्रकार है जैसे कि उक्त व्यक्ति ।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि मृत प्राणी के अस्तित्व का अन्तिम क्षण नवोत्पन्न प्राणी के अस्तित्व के प्रथम क्षण की उत्पत्ति में उपादानकारण है (जबकि हत्यारा इस उत्पत्ति में सहकारिकारण अथवा निमित्तकारण है) ।

हन्म्येनमिति संक्लेशाद् हिंसकश्चेत् प्रकल्प्यते ।
नैवं[1] त्वन्नीतितो यस्माद्‌यमेव न युज्यते ॥४२९॥

कहा जा सकता है कि 'मैं इस प्राणी को मारूं' इस प्रकार के संकल्प रूप मनोदोष से दूषित व्यक्ति को हिंसक माना जाना चाहिए (जबकि मारा गया प्राणी इस प्रकार के मनोदोष से दूषित नहीं), लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि प्रस्तुत वादी के मतानुसार यही बात तो नहीं बनती ।

संक्लेशो यद् गुणोत्पादः स चाक्लिष्टान्न केवलात् ।
न चान्यसचिवस्यापि तस्यानतिशयात् ततः ॥४३०॥

क्योंकि एक मन में दोष उत्पन्न होने का अर्थ है इस मन में एक नए धर्म का उत्पन्न होना, लेकिन इस प्रकार का दोष एक अदूषित मन में स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकता; और न ही इस मन में वह दोष किसी सहकारिकारण की सहायता से उत्पन्न हो सकता है क्योंकि (प्रस्तुत वादी के मतानुसार) यह सहकारिकारण भी तो (मुख्य कारण रूप) इस मन में कोई नवीनता नहीं ला सकता ।

---

१ ख का पाठ : नैव

टिप्पणी—हरिभद्र की प्रस्तुत विशेष आपत्ति का आधार एक वही सामान्य आपत्ति है जिसे वे निर्हेतुक विनाश संबंधी अपनी चर्चा में अभी उठाकर चुके हैं।

तं प्राप्य तत्स्वभावत्वात् ततः स इति चेन्ननु ।
नाशहेतुमवाप्यैवं नाशपक्षेऽपि न क्षतिः ॥४३१॥

कहा जा सकता है कि क्योंकि सहकारिकारण की उपस्थिति में एक मन का ऐसा स्वभाव बन जाता है कि उसमें दोषों का जन्म हो सके इस दोषजन्म का कारण सहकारिकारण है; लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि तब तो यह कहने में भी दोष नहीं कि क्योंकि नाशकारण की उपस्थिति में एक वस्तु का ऐसा स्वभाव ही बन जाता है कि उसका (अर्थात् उस वस्तु का) नाश हो सके इस नाश का कारण यह नाशकारण है।

अन्ये तु जन्यमाश्रित्य सत्स्वभावाद्यपेक्षया ।
एवमाहुरहेतुत्वं जनकस्यापि सर्वथा ।४३२॥

प्रस्तुत वादी की ही तर्कसरणि का अनुसरण करते हुए कुछ दूसरे वादियों ने प्रश्न उठाया है कि एक उत्पन्न की जाती हुई वस्तु अस्तित्व स्वभाव वाली है अथवा नास्तित्वशील स्वभाव वाली आदि आदि, और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि एक वस्तु की उत्पत्ति का तथाकथित कारण इस वस्तु की उत्पत्ति का कारण है ही नहीं (उसी प्रकार जैसे कि प्रस्तुत वादी इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि एक वस्तु के नाश का तथाकथित कारण इस नाश का कारण है ही नहीं)।

न सत्स्वभावजनकस्तद्वैफल्यप्रसंगतः ।
जन्मायोगादिदोषाच्च नेतरस्यापि युज्यते ॥४३३॥
न चोभयादिभावस्य विरोधासंभवादितः ।
स्वनिवृत्त्यादिभावादौ कार्याभावादितोऽपरे ॥४३४॥

(इन वादियों का तर्क है:) "एक अस्तित्वशील स्वभाव वाली वस्तु को जन्म देना किसी कारण का काम नहीं और वह इसलिए कि ऐसे स्वभाव वाली वस्तु के जन्म में किसी कारण का कोई उपयोग नहीं। इसी प्रकार, एक नास्तित्वशील स्वभाव वाली वस्तु को जन्म देना भी किसी कारण का काम नहीं और वह इसलिए कि ऐसे स्वभाव वाली वस्तु का जन्म संभव ही नहीं तथा कुछ ऐसी ही दूसरी कठिनाइयों के कारण। दूसरी ओर, एक वस्तु को अस्तित्वशील तथा नास्तित्वशील दोनों स्वभावों वाली कहने में स्ववचनविरोध आता है जबकि उसे न अस्तित्वशील न नास्तित्वशील स्वभाव

वाली कहना उसे एक असंभव वस्तु बना देना होगा; इसी प्रकार की कुछ अन्य कठिनाइयां भी हैं।" कुछ दूसरे वादियों का कहना है कि एक कार्य की उत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार के तर्कों की सहायता से असंभव सिद्ध की जा सकती है: "यदि इस कार्य के कारण का स्वभाव अपना नाश करना है तो उसका स्वभाव इस कार्य को जन्म देना नहीं हो सकता, आदि आदि (अर्थात् यदि कार्य के कारण का स्वभाव इस कार्य को जन्म देना है तो उसका स्वभाव अपना नाश करना नहीं हो सकता, न ये दोनों बातें उसका स्वभाव हो सकती हैं, न इनमें से एक भी नहीं)।"

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र कार्योत्पत्ति की संभावना का खंडन दो तर्कों की सहायता से करा रहे है, और क्योंकि ये दोनों तर्क परस्पर समानान्तर हैं वे इनमें से पहले को विस्तार से प्रस्तुत करते हैं तथा दूसरे को इंगित मात्र से। पहले तर्क में निम्नलिखित चार विकल्पों पर विचार किया गया है:

(१) उत्पन्न होने वाला कार्य अस्तित्वशील है।

(२) उत्पन्न होने वाला कार्य नास्तित्वशील है।

(३) उत्पन्न होने वाला कार्य अस्तित्वशील तथा नास्तित्वशील दोनों है।

(४) उत्पन्न होने वाला कार्य न अस्तित्वशील है न नास्तित्वशील।

दूसरे तर्क में निम्नलिखित चार विकल्पों पर विचार किया गया है:

(१) उत्पन्न होने वाले कार्य का कारण अपना नाश करता है।

(२) उत्पन्न होने वाले कार्य का कारण उक्त कार्य को जन्म देता है।

(३) उत्पन्न होने वाले कार्य का कारण अपना नाश करता है तथा उक्त कार्य को जन्म देता है।

(४) उत्पन्न होने वाले कार्य का कारण न अपना नाश करता है न उक्त कार्य को जन्म देता है।

[स्पष्ट ही हरिभद्र का अपना मत यह नहीं कि कार्योत्पत्ति एक असंभव बात है, लेकिन वे यह दिखा रहे हैं कि जिस प्रकार के तर्कों की सहायता से क्षणिकवादी वस्तुओं के नाश को निर्हेतुक सिद्ध कर रहा है उस प्रकार के तर्कों की सहायता से तो वस्तुओं की उत्पत्ति को भी निर्हेतुक सिद्ध किया जा सकता है।]

न चाध्यक्षविरुद्धत्वं जनकत्वस्य मानतः ।
असिद्धेस्तत्र नीत्या तद्व्यवहारनिषेधतः ॥४३५॥

यह कहना भी उचित न होगा कि वस्तुओं की उत्पत्तिकारणता से इनकार करना प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के साक्ष्य के विरुद्ध जाना है, क्योंकि उक्त उत्पत्तिकारणता प्रमाण द्वारा सिद्ध न होने के कारण उसे व्यवहार का (अर्थात् बौद्धिक चिन्तन अथवा शाब्दिक चर्चा का) विषय बनाने से इनकार करना युक्तिसंगत है।

मानाभावे परेणापि व्यवहारो निषिध्यते।
सज्ज्ञानशब्दविषयस्तद्वदत्रापि दृश्यताम् ॥४३६॥

आखिरकार प्रस्तुत वादी की भी यह मान्यता है ही कि जिस वस्तु की सत्ता प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं उसे अस्तित्वशील रूप से बौद्धिक अथवा शाब्दिक व्यवहार का विषय बनाने से इनकार किया जाना चाहिए; ठीक यही बात वस्तुओं की उत्पत्तिकारणता के संबन्ध में लागू होती है।

(२) 'अर्थक्रियाकारित्व' से क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं।

अर्थक्रिया मर्थत्वं क्षणिके यच्च गीयते।
उत्पत्त्यनन्तरं नाशाद् विज्ञेयं तदयुक्तिमत् ॥४३७॥

और जो प्रस्तुत वादी ने यह मान्यता स्थिर की है कि एक क्षणिक वस्तु (ही) अर्थक्रिया समर्थ हुआ करती है उसे अयुक्तिसंगत समझना चाहिए—क्योंकि एक क्षणिक वस्तु अपनी उत्पत्ति के तत्काल बाद नष्ट हो जाती है।

टिप्पणी—क्षणिकवाद को समर्थक जिन चार युक्तियों का खंडन हरिभद्र ने प्रस्तुत स्तवक में किया है उनमें से दूसरी की चर्चा का प्रारंभ प्रस्तुत कारिका में होता है। 'अर्थक्रियासमर्थ' शब्द का मोटा अर्थ है 'किसी काम आ सकने योग्य' लेकिन दार्शनिक चर्चाओं में इसका अर्थ किया जाता है 'किसी कारण-सामग्री का अंग बन सकने योग्य'। स्पष्ट ही कार्यकारणभाव की वास्तविकता में विश्वास रखने वाला एक दार्शनिक ही अर्थक्रियासामर्थ्य को वस्तु-तत्त्व की कसौटी के रूप में प्रस्तुत करेगा, और वे बौद्ध तार्किक जिन्होंने कदाचित् सबसे पहले अर्थक्रियासामर्थ्य को वस्तु-तत्त्व की कसौटी के रूप में प्रस्तुत किया था कार्यकारणभाव की वास्तविकता में विश्वास रखने वाले सचमुच थे। जहाँ तक इतनी बात का संबंध था इन बौद्धों का तत्त्वतः समर्थन उन सभी दार्शनिकों ने किया जो स्वयं कार्यकारणभाव की वास्तविकता में विश्वास रखते थे, लेकिन जब बौद्धों ने यह कहा कि एक क्षणिक वस्तु ही अर्थक्रियासमर्थ हो सकती है तब दूसरे दार्शनिकों का उनके

साथ चलना असंभव हो गया। उदाहरण के लिए, हरिभद्र के अपने मतानुसार जगत् की वस्तुओं का स्वाभाविक धर्म क्षणिकता नहीं क्षणिकतासंवलित नित्यता है, और ऐसी दशा में उनके लिए इस मान्यता का विरोध करना अनिवार्य हो जाता है कि अर्थक्रिया-सामर्थ्य की (अतएव वास्तविकता की) आवश्यक शर्त क्षणिकता है।

अर्थक्रिया यतोऽसौ वा तदन्या[1] वा द्वयी गतिः।
तत्त्वे न तत्र सामर्थ्यमन्यतस्तत्समुद्भवात् ॥४३८॥

एक क्षणिक वस्तु जिस अर्थक्रिया को जन्म देने में समर्थ कही जा रही है उसके संबंध में हमारा प्रश्न है कि वह यह वस्तु ही है या अन्य कुछ। यदि वह अर्थक्रिया यह वस्तु ही है तब तो उसको जन्म देने में यह वस्तु समर्थ नहीं हो सकती, क्योंकि तब तो उसका जन्म अन्य किसी कारण से (अर्थात् प्रस्तुत वस्तु के कारण से) हुआ होगा।

न स्वसंधारणे न्यायात् जन्मानन्तरनाशतः।
न च नाशेऽपि सद्युक्त्या तद्धेतोस्तत्समुद्भवात् ॥४३९॥

उस दशा में यह भी कहना युक्तिसंगत न होगा कि उक्त वस्तु उक्तरूप अर्थक्रिया को सहारा देती है और वह इसलिए कि (प्रस्तुत वादी के मतानुसार) यह वस्तु (अतः यह अर्थक्रिया) उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती है; न यही कहना युक्तिसंगत होगा कि उक्त वस्तु उक्तरूप अर्थक्रिया का नाश करती है और वह इसलिए कि (प्रस्तुत वादी के मतानुसार) यह वस्तु (अतः यह अर्थक्रिया) अपने कारण से ही नश्वर स्वभाव लिए हुए जनमी है।

अन्यत्वेऽन्यस्य सामर्थ्यमन्यत्रेति न संगतम्।
ततोऽन्यभाव एवैतन्नासौ न्याय्यो दलं विना ॥४४०॥

यदि उक्त अर्थक्रिया उक्त वस्तु से अन्य कुछ है तो यह अयुक्तिसंगत मान्यता सिर पड़ती है कि एक वस्तु स्वयं तो एक स्थान (अथवा काल) में स्थित है तथा जिस अर्थक्रिया को जन्म देने में इस वस्तु की सामर्थ्य है वह अन्य किसी स्थान (अथवा काल) में। कहा जा सकता है कि एक वस्तु का एक अन्य वस्तु को उत्पन्न करना ही उसका अर्थक्रिया को उत्पन्न करना है, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि इस नई वस्तु का जन्म किसी रूपान्तरणशील कारण के बिना संभव मानना युक्तिसंगत नहीं।

---

१ ख का पाठ : तदन्यो

टिप्पणी—क्षणिकवादी का कहना है कि क का ख को जन्म देना ही क का अर्थक्रियासमर्थ होना है; इस पर हरिभद्र का उत्तर है कि क ख को जन्म तभी दे सकता है जब ख क का एक रूपान्तरण हो। लेकिन क्षणिकवादी, जिसके मतानुसार क तथा ख दोनों क्षणिक वस्तुएँ हैं, ख को क का रूपान्तण नहीं मान सकता।

नासत् सत् जायते यस्मादन्यसत्त्वस्थितावपि।
तस्यैव तु तथाभावे[1] नन्वसिद्धोऽन्वयः कथम् ॥४४१॥

किसी अन्य वस्तु के उपस्थित रहते हुए भी एक नास्तित्वशील वस्तु अस्तित्वशील नहीं बन सकती; और यदि कहा जाए कि यहाँ यह अन्य वस्तु ही एक नए रूप में अस्तित्वशील बनी है तो हमारा प्रश्न है कि तब एक वस्तु को अपने रूप-रूपान्तरों के बीच एक ही बनी रहने वाली मानना अयुक्तिसंगत क्यों।

टिप्पणी—पिछली टिप्पणी की भाषा में, यदि ख अपने जन्म के पूर्व सर्वथा नास्तित्वशील है तो वह क के उपस्थित रहने पर भी उत्पन्न नहीं हो सकता, और यदि क ही ख के रूप में अस्तित्वशील बना है तो क क्षणिक नहीं स्थायी सिद्ध हुआ।

भूतिर्येषां[1] क्रिया सोक्ता न चासौ युज्यते क्वचित्।
कर्तृभोक्तृस्वभावत्वविरोधादिति चिन्त्यताम् ॥४४२॥

प्रस्तुत वादी के मतानुसार एक वस्तु के उत्पन्न होने का अर्थ है इस वस्तु का क्रिया करना, लेकिन उसे सोचना चाहिए कि उसका मत युक्तिसंगत नहीं और वह इसलिए कि उसका किसी चित्तक्षण को कर्त्ता तथा भोक्ता दोनों मानना अन्तर्विरोधपूर्ण होगा (—जिसका कारण यह है कि कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व दो परस्पर भिन्न धर्म हैं)।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह प्रतीत होता है कि क्योंकि क्षणिकवादी एक वस्तु को एक ही स्वभाव वाली मानता है अनेक स्वभावों वाली नहीं इसलिए उसके लिए यह मानना संभव नहीं कि कोई वस्तु क्रियाशील तथा भवनशील दोनों हैं—अथवा यह कि कोई चित्त-क्षण कर्त्ता तथा भोक्ता दोनों है।

न चातीतस्य सामर्थ्यं तस्यामिति निदर्शितम्।
न चान्यो लौकिकः कश्चिच्छब्दार्थोऽत्रेत्ययुक्तिमत् ॥४४३॥

---

१ क का पाठ : तथा भावे

१ क का पाठ : भूतिर्येषां

और यह हम दिखा ही चुके (कारिका ४४० में) कि एक भूतकालीन (=नष्ट हुई) वस्तु अर्थक्रिया को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकती। न ही 'अर्थक्रिया' शब्द का कोई दूसरा लोकप्रसिद्ध अर्थ यहां ग्रहण किया जा सकता है—जिसका अर्थ यह हुआ कि प्रस्तुत वादी का मत अयुक्तिसंगत है।

(३) 'रूप-रुपान्तरण' से क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं।

परिणामोऽपि नो हेतुः क्षणिकत्वप्रसाधने।
सर्वदैवान्यथात्वेऽपि तथाभावोपलब्धितः ॥४४४॥

जगत् की वस्तुओं में दीख पड़ने वाला रूप-रूपान्तरण भी क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं करता, क्योंकि सदा ही इन वस्तुओं में एक नए रूप की उत्पत्ति होते समय भी उनका एक पुराना रूप ज्यों का त्यों बना रहता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में क्षणिकवाद की समर्थक एक तीसरी युक्ति का खंडन प्रारम्भ होता है। क्षणिकवादी का कहना है कि प्रत्येक वस्तु क्षणिक है क्योंकि वह प्रतिक्षण नया रूप धारण करती है; इस पर हरिभद्र का उत्तर है कि जो वस्तु प्रतिक्षण नया रूप धारण करती है उसे क्षणिकता से सम्पन्न नहीं क्षणिकतासंवलित नित्यता से सम्पन्न माना जाना चाहिए।

नार्थान्तरगमो यस्मात् सर्वथैव न चागमः।
परिणामः प्रमासिद्धः इष्टश्च खलु पण्डितैः ॥४४५॥

न तो कोई वस्तु सर्वथा अस्तित्व खोया करती है और न वह सर्वथा नए सिरे से अस्तित्व में आया करती है; प्रमाणसिद्ध बात तो वस्तुओं का रूप-रूपान्तरण है और ऐसे रूप-रूपान्तर की संभावना बुद्धिमानों को स्वीकार हो है।

यच्चेदमुच्यते ब्रूमोऽतादवस्थ्यमनित्यताम्।
एतत् तदेव न भवत्यतोऽन्यत्वे ध्रुवोऽन्वयः ॥४४६॥

प्रस्तुत वादी का कहना है कि उसके मतानुसार एक वस्तु का अपने पूर्वरूप में न रहना ही उसकी अनित्यता (=क्षणिकता) है लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि प्रस्तुत वादी के मतानुसार तो एक वस्तु का अपने पूर्वरूप में न रहने का अर्थ है उस वस्तु का (सर्वथा) अस्तित्व में न रहना और यदि इसका अर्थ कुछ अन्य है तो उसने निश्चय ही स्वीकार कर लिया कि एक वस्तु अपने रूप-रूपान्तरों के बीच एक ही बनी रह सकती है।

तदेव[1] न भवत्येतत् तच्च[2] न भवतीति च ।
विरुद्धं हन्त किंचान्यदादिमत् तत् प्रसज्यते ॥४४७॥

फिर प्रस्तुत वादी का यह कहना कि एक वस्तु अपने अस्तित्वक्षण के बाद अस्तित्व में नहीं रहती एक अन्तर्विरोधपूर्ण बात है, क्योंकि वह एक ओर तो इस वस्तु को 'यह वस्तु' कह रहा है और दूसरी ओर उसके सम्बन्ध में कह रहा है कि वह अस्तित्व में नहीं रहती । दूसरे, प्रस्तुत वादी के मतानुसार एक वस्तु का अस्तित्व में न रहना एक आदिमान् घटना ठहरेगी ।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में उठाए गए दोनों प्रश्नों की चर्चा पहले हो चुकी है—उस स्थल पर जहाँ हरिभद्र ने क्षणिकवादी के इस मत का खंडन किया था कि 'एक भावरूप वस्तु अभावरूप वस्तु बन जाया करती है' ।

क्षीरनाशश्च दध्येव यद् दृष्टं गोरसान्वितम् ।
न तु तैलाद्यतः सिद्ध परिणामोऽन्वयावहः ॥४४८॥

'दूध का नाश' वह दही ही कहलाता है जिसमें (दूध ही की भांति) गोरसपना पाया जाता है; दूसरी ओर, तेल आदि को (जिनमें गोरसपना नहीं पाया जाता) 'दूध का नाश' नहीं कहा जाता । इससे सिद्ध हो गया कि एक वस्तु को रूप-रूपान्तरणशील मानने का अर्थ यह है कि वह वस्तु अपने रूप-रूपान्तरों के बीच एक भी बनी ही रहती है ।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि यदि क नष्ट होकर ख बन जाता है तो भी क तथा ख के बीच कुछ-न-कुछ स्वरूपसादृश्य होना ही चाहिए; उदाहरण के लिए, दूध नष्ट होकर दही बनता है लेकिन दूध तथा दही दोनों 'गोरस' कहलाते हैं (दूसरी ओर, क्योंकि दूध तथा तेल के बीच किसी प्रकार का स्वरूपसादृश्य नहीं इसीलिए दूध नष्ट होकर तेल कभी नहीं बनता) ।

नासत् सज्जायते जातु सच्चासत् सर्वथैव हि ।
शक्त्यभावादतिव्याप्तेः सत्स्वभावत्वहानितः ॥४४९॥

कोई सर्वथा अस्तित्वशून्य वस्तु कभी अस्तित्ववान् नहीं बना करती और कोई अस्तित्वान् वस्तु कभी सर्वथा अस्तित्वशून्य नहीं बना करती । इनमें से पहली बात तो इसलिए सच नहीं कि एक अस्तित्वशून्य वस्तु में किसी प्रकार की कार्य-

---

१ क का पाठ : तदैव
२ क ख दोनों का पाठ 'तच्चेन्न' है; लेकिन उक्त पाठ ही मूलपाठ प्रतीत होता है ।

जनन शक्ति नहीं रहती और यदि किसी प्रकारविशेष की कार्यजननशक्ति उसमें मानी जा सकती है तो अन्य किसी भी प्रकार की कार्यजननशक्ति भी उसमें मानी ही जा सकेगी; उक्त दूसरी बात इसलिए सच नहीं कि तब तो मानना पड़ेगा कि एक अस्तित्वशील स्वभाव वाली वस्तु ने अपना स्वभाव खो दिया।

टिप्पणी—प्रस्तुत दोनों प्रश्नों की चर्चा भी पहले हो ली है, क्योंकि हरिभद्र विस्तार से क्षणिकवादी के इस मत का भी खण्डन कर चुके कि 'एक अभावरूप वस्तु भावरूप बन जाती है' और इसका भी कि 'एक भावरूप अभावरूप बन जाती है'।

नित्येतरदतो न्यायात् तत्तथाभावतो हि तत्।
प्रतीतिसचिवात् सम्यक् परिणामेन गम्यते ॥४५०॥

इस प्रकार अपनी रूपान्तरणशीलता के आधार पर तो एक वस्तु उन-उन रूपों को धारण करने वाली अतः नित्य तथा अनित्य दोनों स्वभाव वाली भली भांति सिद्ध होती है—और इस सिद्धि का उपकरण है अनुभव को साथ लेकर चलने वाला तर्क।

(४) 'अन्ततोगामी नाश' से क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं।

अन्ते क्षयेक्षणं चाद्यक्षणक्षयप्रसाधनम्।
तस्यैव तत्स्वभावत्वात् युज्यते न कदाचन ॥४५१॥

और प्रस्तुत वादी ने जो यह कहा कि एक वस्तु को अन्त में जाकर नष्ट होते देखकर हम अनुमान लगा सकते हैं कि यह वस्तु अपने अस्तित्व के प्रथम क्षण में ही नष्ट हो गई थी वह कभी युक्तिसंगत नहीं; यह ठीक इसीलिए कि यह वस्तु अन्तमें जाकर नष्ट होती है (न कि अपने अस्तित्व के प्रथम क्षण में)।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में क्षणिकवाद की समर्थक एक चौथी युक्ति का खण्डन प्रारम्भ होता है। क्षणिकवादी का कहना है कि क्योंकि प्रत्येक वस्तु कभी न कभी नष्ट होती पाई जाती है और क्योंकि किसी वस्तु का नाश अकस्मात् नहीं हो सकता इसलिए हमें मानना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु अपने जन्मकाल से ही प्रतिक्षण नष्ट हो रही थी; इस पर हरिभद्र का उत्तर है कि किसी वस्तु के संबन्ध में एक ओर यह कहना कि वह कभी न कभी (अर्थात् कुछ न कुछ समय अस्तित्व में बनी रहने के बाद) नष्ट होती है और दूसरी ओर यह कहना कि वह अपने जन्मकाल से ही प्रतिक्षण नष्ट हो रही थी एक बेतुकी बात है।

आदौ क्षयस्वभावत्वे तत्रान्ते दर्शनं कथम् ।
तुल्यापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भाद् यथोदितम् ॥४५२॥

यदि एक वस्तु का स्वभाव अपने अस्तित्व के प्रथम क्षण में ही नष्ट होने का है तो प्रश्न उठता है कि तब इस वस्तु का नाश अन्त में जाकर क्यों दीखता है (उसके अस्तित्व के प्रथम क्षण में ही क्यों नहीं) । प्रस्तुत वादी उत्तर देगा कि यहाँ एक के बाद दूसरी लेकिन परस्पर सदृश वस्तुओं की उत्पत्ति हमें धोखे में डाल देती है; जैसी कि एक प्राचीन उक्ति है :

टिप्पणी— प्रस्तुत वादी का आशय यह है कि जिसे हम किसी एक वस्तु का अनेक क्षणों तक अस्तित्व में बने रहना कहते हैं वह वस्तुतः किन्हीं क्षणिक किन्तु परस्पर सदृश वस्तुओं का क्रमशः अस्तित्व में आना है, उसके मतानुसार इन अनेक वस्तुओं को एक वस्तु मान लेना एक भ्रान्ति है।

अन्ते क्षयेक्षणादादौ क्षयोऽदृष्टोऽनुमीयते ।
सदृशेनावरुद्धत्वात् तद्ग्रहाद् हि तदग्रहः ॥४५३॥

"एक वस्तु को अन्त में जाकर नष्ट होते देखकर हम अनुमान लगाते हैं कि यह वस्तु अपने अस्तित्व के प्रथम क्षण में ही नष्ट हो गई थी—यद्यपि इस वस्तु को उसके अस्तित्व के प्रथम क्षण में ही नष्ट होते हमने देखा नहीं । यहाँ होता यह है कि उक्त वस्तु के (जो अनिवार्यतः एकक्षणस्थायी है) सदृश वस्तुएँ उत्पन्न होकर हमारे मार्ग में रुकावट खड़ा कर देती हैं, क्योंकि इस सदृश वस्तुओं को देखने के फलस्वरूप हम यह नहीं देख पाते कि वह मूल वस्तु अपने अस्तित्व के प्रथम क्षण में ही नष्ट हो गई थी"

एतदप्यसदेवेति सदृशो भिन्न एव यत् ।
भेदाग्रहे कथं तस्य तत्स्वभावत्वतो ग्रहः ॥४५४॥

लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि यह सब कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जो दो वस्तुएँ एक दूसरे के सदृश होती हैं वे एक दूसरे से भिन्न ही होती हैं और ऐसी दशा में एक वस्तु को एक दूसरी वस्तु से भिन्न रूप में देखे बिना हम उसे इस दूसरी वस्तु के सदृश रूप में कैसे देख सकते हैं ?

तदर्थनियतोऽसौ यद् भेदमन्याग्रहाद् हि तत् ।
न गृह्णातीति चेत् तुल्यः सोऽपरेण कुतो गतिः ॥४५५॥

कहा जा सकता है कि एक ज्ञान का विषय एक ही वस्तु हुआ करती है और ऐसी दशा में यह ज्ञान इस वस्तु के किसी अन्य वस्तु से भेद को अपना विषय इसलिए नहीं बना पाता कि यह अन्य वस्तु इस ज्ञान का विषय नहीं; लेकिन इस पर हम पूछते हैं कि तब यह ज्ञान यही कैसे जान पाता है कि उसकी विषयभूत वस्तु किसी अन्य वस्तु के सदृश है।

टिप्पणी—प्रस्तुत वादी का कहना है कि जिस ज्ञान का विषय क है उसका विषय 'क का ख से भेद' नहीं हो सकता, इसपर हरिभद्र पूछते हैं कि तब जिस ज्ञान का विषय क है उसका विषय 'क का ख से सादृश्य' कैसे हो सकता है।

तथागतेरभावे च वचस्तुच्छमिदं ननु।
सदृशेनावरुद्धत्वात् तद्ग्रहाद् दि तदग्रहः ॥४५६॥

और जब एक वस्तु को किन्हीं दूसरी वस्तुओं से भिन्न रूप से देखना संभव नहीं तब यह कहना बेकार की बात है कि "ये दूसरी वस्तुएँ इस वस्तु के सदृश हैं तथा उन्होंने उत्पन्न होकर हमारे मार्ग में रुकावट डाल दी है, और वह इसलिए कि इन दूसरी वस्तुओं को देखने के फलस्वरूप हम यह नहीं देख पाते कि वह मूल वस्तु अपने अस्तित्व के प्रथम क्षण में ही नष्ट हो गई थी।"

भावे चास्या बलादेकमनेकग्रहणात्मकम्।
अन्वयि ज्ञानमेष्टव्यं सर्वं तत् क्षणिकं कुतः ॥४५७॥

दूसरी ओर, एक वस्तु को किन्हीं दूसरी वस्तुओं से भिन्न रूप में देखना यदि संभव माना जाए तो बरबस यह मान लिया गया कि अनेक वस्तुओं को अपना विषय बनाने वाला एक स्थायी (अर्थात् अनेक क्षण स्थायी तथा रूप-रूपान्तरणशील) ज्ञान संभव है, और ऐसी दशा में यह कहना कहाँ तक उचित है कि प्रत्येक वस्तु क्षणिक हुआ करती है।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि जिस ज्ञान का विषय 'क का ख से भेद' है वह अनेकक्षणस्थायी ही होना चाहिए (ताकि वह क की, ख की और फिर क के ख से भेद की जानकारी कर सके)।

ज्ञानेन गृह्यते चार्थो न चापि परदर्शने।
तदभावे तु तद्भावात् कदाचिदपि तत्त्वतः ॥४५८॥

दूसरे, हमारे प्रस्तुत विरोधी की मान्यतानुसार कोई ज्ञान किसी वस्तु को सचमुच अपना विषय कभी बना ही नहीं सकता, और वह इसलिए कि इस मान्यतानुसार

---

१ क का पाठ : अन्वयिज्ञान

एक ज्ञान अस्तित्व में तब आता है जब उसकी विषयभूत वस्तु अस्तित्व खो चुकी होती है।

ग्रहणेऽपि यदा ज्ञानमपैत्युत्पत्त्यनन्तरम् ।
तदा तत् तस्य जानाति क्षणिकत्वं कथं न ॥४५९॥

और यदि मान भी लिया जाय कि एक ज्ञान का किसी वस्तु को अपना विषय बनाना संभव है तो भी जब यह ज्ञान उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है तब वह इस वस्तु की क्षणिकता को अपना विषय कैसे बना सकता है?

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि एक ज्ञान पहले अपना विषय बनी वस्तु के स्वरूप की जानकारी करेगा और उसके बाद इस वस्तु की क्षणिकता की, लेकिन यदि यह ज्ञान क्षणिक है तो वह इन दोनों कामों को नहीं कर सकता।

तस्यैव तत्स्वभावत्वात् स्वात्मनैव तदुद्भवात् ।
यथा नीलादि ताद्रूप्यान्नैतन्मिथ्यात्वसंशयात् ॥४६०॥

उत्तर दिया जा सकता है कि क्योंकि एक ज्ञान की विषयभूत वस्तु ही क्षणिक स्वभाववाली है आर क्योंकि इस वस्तु से ही इस ज्ञान का जन्म हुआ है यह ज्ञान इस वस्तु की क्षणिकता को अपना विषय बना पाता है—उसी प्रकार जैसे नीली वस्तु आदि के समान आकारवाला होने के कारण यह ज्ञान नीली वस्तु आदि को अपना विषय बना पाता है; लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि बात ऐसी नहीं क्योंकि तब तो इस क्षणिकताविषयक ज्ञान के मिथ्या होने का संशय बना रहना चाहिए।

टिप्पणी—प्रस्तुत वादी का कहना है कि एक ज्ञान जिस प्रकार अपना विषय बनी वस्तु के स्वरूप की जानकारी करता है उसी प्रकार वह इस वस्तु की क्षणिकता की भी जानकारी कर सकता है; इस पर हरिभद्र का उत्तर है कि तब तो जिस प्रकार यह संभव है कि कोई ज्ञान अपना विषय बनी वस्तु के स्वरूप के संबंध में अयथार्थ जानकारी कराये उसी प्रकार यह भी संभव होना चाहिए कि वह इस वस्तु की क्षणिकता के संबंध में अयथार्थ जानकारी कराए।

न चापि स्वानुमानेन धर्मभेदस्य संभवात् ।
लिङ्गधर्मातिपाताच्च तत्स्वभावाद्ययोगतः ॥४६१॥

न ही एक ज्ञान अपनी विषयभूत वस्तु की क्षणिकता को 'यह वस्तु मेरे ही समान क्षणिक होनी चाहिए' इस प्रकार के अनुमान द्वारा जानता है, क्योंकि यह

संभव है कि (जहाँ तक क्षणिकता अक्षणिकता का प्रश्न है) इस ज्ञान का स्वरूप इस वस्तु के स्वरूप से भिन्न हो। दूसरे, उक्त ज्ञान का अपना स्वरूप उक्त वस्तु के स्वरूप का अनुमान कराने में समर्थ हेतु नहीं और वह इसलिए कि उक्त ज्ञान का अपना स्वरूप उक्त वस्तु के स्वरूप का स्वभाव आदि (अर्थात् स्वभाव अथवा कार्य) नहीं (जबकि प्रस्तुत वादी के मतानुसार एक अनुमान में हेतु को साध्य का स्वभाव अथवा कार्य होना चाहिए)।

नित्यस्यार्थक्रियाऽयोगोऽप्येवं युक्त्या न गम्यते ।
सर्वमेवाविशेषेण विज्ञानं क्षणिकं यतः ॥४६२॥

प्रस्तुत वादी द्वारा एक नित्य वस्तु का अर्थक्रिया में असमर्थ घोषित किया जाना इसलिए भी युक्तिसंगत नहीं कि उसके मतानुसार सभी ज्ञान निरपवाद रूप से क्षणिक (अतः अनेक क्षणस्थायितारूप नित्यता को ग्रहण करने में असमर्थ) हैं।

टिप्पणी—संभवतः प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र का आशय यह है कि 'वस्तुएँ तत्त्वतः इस स्वरूपवाली हैं तथा इस स्वरूपवाली नहीं' इस प्रकार का ऊहापोहात्मक ज्ञान अनिवार्यतः अक्षणिक होना चाहिए, लेकिन यशोविजयजी इस कारिका का आशय यही समझते प्रतीत होते हैं कि एक क्षणिक ज्ञान अक्षणिकता को अपना खंडनविषय भी नहीं बना सकता।

तथा चित्रस्वभावत्वान्न चार्थस्य न युज्यते ।
अर्थक्रिया ननु न्यायात् क्रमाक्रमविभाविनी ॥४६३॥

क्योंकि एक वस्तु उक्त प्रकार से रूपरूपान्तर धारण करनेवाली हुआ करती है इसलिए निश्चय ही उसमें क्रमिक तथा एककालिक इन दो में से एक भी प्रकार की अर्थक्रिया का उत्पन्न होना अयुक्तिसंगत नहीं।

टिप्पणी—क्षणिकवादी का कहना है कि एक अक्षणिक वस्तु किन्हीं कार्यों को न एक साथ उत्पन्न कर सकती है न क्रमशः, एक साथ तो इसलिए नहीं कि तब फिर इन कार्यों को उत्पन्न करने के बाद वह वस्तु अस्तित्व में ही क्यों बनी रहे और क्रमशः इसलिए नहीं कि जब उक्त वस्तु उक्त सभी कार्यों को उत्पन्न करने में समर्थ है तब वह उन्हें क्रमशः क्यों उत्पन्न करे, इस पर हरिभद्र का उत्तर है कि जब यह बात सिद्ध हो गई कि जगत् की वस्तुएँ क्षणिक नहीं तब यह भी सिद्ध हो ही गया कि अक्षणिक वस्तुएँ भी किन्हीं कार्यों को एक साथ उत्पन्न कर सकती है तथा किन्हीं को क्रमशः।

(५) क्षणिकवाद तथा विज्ञानवाद के प्रतिपादन-का एक संभव आशयविशेष।

अन्ये त्वभिदधत्येवमेतदास्थानिवृत्तये ।
क्षणिकं सर्वमेवेति बुद्धेनोक्तं न तत्त्वतः ॥४६४॥

कुछ दूसरे वादियों का कहना है कि यदि बुद्ध ने सब वस्तुओं को क्षणिक कहा तो इसलिए कि लोगों की इन वस्तुओं के प्रति चाह नष्ट हो न कि इसलिए कि ये वस्तुएँ सचमुच वैसी (अर्थात् एक क्षणस्थायी) हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत तथा आगामी दो कारिकाओं में हरिभद्र बतला रहे हैं कि क्षणिकवाद तथा विज्ञानवाद भी क्या अर्थ पहनाए जाने पर स्वीकार किए जाने योग्य सिद्धान्त बन जाते हैं।

विज्ञानमात्रमप्येवं बाह्यसंगनिवृत्तये ।
विनेयान् कांश्चिदाश्रित्य यद्वा तद्देशनाऽर्हतः ॥४६५॥

इसी प्रकार, बुद्ध ने विज्ञान को एकमात्र वास्तविक सत्ता इसलिए कहा कि लोगों की बाह्य वस्तुओं में आसक्ति नष्ट हो, या हम कह सकते हैं कि बुद्ध द्वारा यह उपदेश किन्हीं विशेष योग्यता से सम्पन्न शिष्यों को ध्यान में रखकर दिया गया है।

न चैतदपि न न्याय्यं यतो बुद्धो महामुनिः ।
सुवैद्यवद् विना कार्यं द्रव्यासत्यं न भाषते ॥४६६॥

उक्त वादियों का यह सब कहना भी अयुक्तिसंगत नहीं, और वह इसलिए कि महामुनि बुद्ध बनावटी झूठ भी बिना कारण उसी प्रकार नहीं बोलते जैसे कि एक अच्छा वैद्य नहीं बोलता।

टिप्पणी—हरिभद्र के दृष्टान्त का आशय यह है कि जिस प्रकार एक अच्छा वैद्य बनावटी झूठ भी अपने रोगियों के हित को दृष्टि में रखकर ही बोलता है उसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने मिथ्या प्रतीत होने वाली शिक्षाएँ भी अपने शिष्यों के हित को दृष्टि में रखकर ही दी हैं।

(६) शून्यवाद खंडन।

ब्रुवते शून्यमन्ये तु सर्वमेव विचक्षणाः ।
न नित्यं नाप्यनित्यं यद् वस्तु युक्त्योपपद्यते ॥४६७॥

कुछ दूसरे बुद्धिमान् वादियों का कहना है कि जगत् में सब कुछ शून्यरूप है और वह इसलिए कि जगत् की किसी भी वस्तु को न तो नित्य कहना युक्ति-संगत लगता है न अनित्य कहना।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र शून्यवाद का खंडन प्रारम्भ करते हैं।

नित्यमर्थक्रियाऽभावात् क्रमाक्रमविरोधतः।
अनित्यमपि चोत्पादव्ययाभावन्न जातुचित् ॥४६८॥

एक वस्तु नित्य तो इसलिए नहीं कि एक नित्य वस्तु में अर्थक्रिया संभव नहीं–न क्रमिक रूप से न एककालिक रूप से; और वह अनित्य इसलिए नहीं कि एक अनित्य वस्तु का न उत्पन्न होना संभव है न नष्ट होना।

टिप्पणी—देखा जा सकता है कि शून्यवादी को कार्यकारणभाव की वास्तविकता में ही विश्वास नहीं। इसके विपरीत, न्यायवैशेषिक, मीमांसक, बौद्ध तथा जैन तार्किकों के परस्पर विरोध इस प्रश्न को लेकर हैं कि वस्तुतत्त्व को किस स्वभाववाला माना जाए ताकि वस्तुओं के बीच कार्यकारणभाव संभव बना रहे। एक नित्य वस्तु को अर्थक्रिया में असमर्थ किस आधार पर घोषित किया जाता है यह एक पिछली टिप्पणी में अभी दिखाया जा चुका; एक अनित्य वस्तु को उत्पत्ति-विनाश में असमर्थ घोषित करने के लिए भी आधार पाए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, कहा जा सकता है, "एक अनित्य वस्तु अपनी उत्पत्ति आप नहीं कर सकती क्योंकि वैसा होना असंभव है; दूसरी ओर एक अनित्य वस्तु की उत्पत्ति कोई दूसरी वस्तु भी नहीं कर सकती क्योंकि यह अनित्य वस्तु यदि अपने जन्म से पूर्व इस दूसरी वस्तु में वर्त्तमान है तब तो उसके उत्पन्न किए जाने का प्रश्न ही नहीं उठता और यदि वह वहां वर्त्तमान नहीं तो उसका उत्पन्न किया जाना संभव नहीं।"

उत्पादव्ययबुद्धिश्च भ्रान्ताऽऽनन्दादिकारणम्।
कुमार्याः स्वप्नवज्ज्ञेया पुत्रजन्मादिबुद्धिवत् ॥४६९॥

एक वस्तु को उत्पन्न अथवा नष्ट हुई मानना एक भ्रान्त समझ है और वह (भ्रान्त समझ भी) आनन्द आदि का कारण उसी प्रकार बनती है जैसे कि एक कुमारी का यह स्वप्न देखना कि उसे पुत्रजन्म हुआ है (अथवा यह कि उसका पुत्र मर गया है)।

अत्राप्यभिदधत्यन्ये किमित्थं तत्त्वसाधनम् ।
प्रमाणं विद्यते किञ्चिदाहोस्विच्छून्यमेव हि ॥४७०॥

इस सम्बन्ध में भी कुछ दूसरे वादियों का पूछना है कि उक्त सिद्धान्त के (अर्थात् शून्यवाद के) समर्थन में कोई प्रमाण विद्यमान है अथवा नहीं ।

शून्यं चेत् सुस्थितं तत्त्वमस्ति चेच्छून्यता कथम् ।
तस्यैव ननु सद्भावादिति सम्यग् विचिन्त्यताम् ॥४७१॥

यदि उक्त सिद्धान्त के समर्थ में कोई प्रमाण विद्यमान नहीं तब तो यह सिद्धान्त खूब रहा । और यदि इस सिद्धान्त के समर्थन में कोई प्रमाण विद्यमान है तब सब कुछ शून्य कैसे ?, क्योंकि तब तो उक्त प्रमाण को ही एक वस्तुतः विद्यमान सत्ता मान लिया गया । इस वस्तुस्थिति पर भली भांति विचार किया जाना चाहिए ।

प्रमाणमन्तरेणापि स्यादेवं तत्त्वसंस्थितिः ।
अन्यथा नेति सुव्यक्तमिदमीश्वरचेष्टितम् ॥४७२॥

यदि अपने पक्ष के समर्थन में किसी प्रमाण के न रहने पर भी कोई कहे जाए कि जगत् की वस्तुओं का स्वरूप अमुक प्रकार का है न कि अन्य किसी प्रकार का तो यह स्पष्ट ही एक धींगामुश्ती वाली बात हुई ।

उक्तं विहाय मानं चेच्छून्यताऽन्यस्य वस्तुनः ।
शून्यत्वे प्रतिप स्य ननु व्यर्थः परिश्रमः ॥४७३॥

कहा जा सकता है कि शून्यतासमर्थक प्रमाण से अतिरिक्त शेष सब कुछ शून्य रूप है, लेकिन तब तो प्रमाण की सहायता से शिक्षित किया जाने वाला व्यक्ति भ शून्य रूप हुआ और उसकी शिक्षा पर व्यय किया गया श्रम व्यर्थ गया ।

तस्याप्यशून्यतायां च प्राश्निकानां बहुत्वतः ।
प्रभूताऽशून्यतापत्तिरनिष्टा संप्रसज्यते ॥४७४॥

कहा जा सकता है कि उक्तरूप से शिक्षित किया जाने वाला व्यक्ति भी अशून्य रूप है, लेकिन तब तो प्रस्तुत वादी के न चाहने पर भी अनेकों वस्तुएँ अशून्य रूप सिद्ध हो गईं और वह इसलिए कि प्रश्न करनेवाले (अर्थात् शिक्षार्थी) व्यक्तियों की संख्या अनेक हो सकती है ।

यावतामस्ति तन्मानं प्रतिपाद्यास्तथा च ये ।
सन्ति ते सर्व एवेति प्रभूतानामशून्यता ॥४७५॥

---

१ क का पाठ : प्रभूता शून्य॰

बात यह है कि वे सभी व्यक्ति जो शून्यतासमर्थक प्रमाण को स्वीकार करके चलते हैं तथा वे सभी व्यक्ति भी जिन्हें शून्यताविषयक शिक्षा दी जा रही है अस्तित्वशील ही होने चाहिए। अतएव हमने कहा कि अब तो प्रस्तुतवादी के मतानुसार अनेकों वस्तुएँ अशून्य रूप सिद्ध हो गईं।

एवं च शून्यवादोऽपि तद्विनेयानुगुण्यतः ।
अभिप्रायत इत्युक्तो लक्ष्यते तत्त्ववेदिना ॥४७६॥

इस प्रकार शून्यवाद के सम्बन्ध में भी वस्तुस्थिति यही प्रतीत होती है कि तत्त्वज्ञ बुद्ध ने उसका प्रतिपादन किन्हीं शिष्य विशेषों की योग्यता को ध्यान में रखकर किसी अभिप्राय विशेष से किया है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र यह संभावना प्रकट कर रहे हैं कि कोई अर्थविशेष पहनाया जाने पर शून्यवाद भी एक स्वीकार करने योग्य वाद बन जाता है।

सातवां स्तबक

(१) जैनसम्मत नित्यानित्यत्ववाद का समर्थन।

अन्ये त्वाहुरनाद्येव जीवाजीवात्मकं जगत् ।
सदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं शास्त्रकृतश्रमाः ॥४७७॥

शास्त्रों का परिश्रमपूर्वक अध्ययन करनेवाले कुछ दूसरे वादियों ने जीवों तथा अजीवों के पुंजभूत इस जगत् के संबन्ध में कहा है कि वह अनादि है तथा वास्तविक अर्थ में उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिरता से सम्पन्न है।

टिप्पणी—प्रस्तुत स्तबक में हरिभद्र ने जैन-परंपरा की दार्शनिक मान्यताओं का प्रतिपादन समर्थनपुरःसर किया है। यह एक जैन मान्यता है कि जगत् के चेतन भाग का निर्माण अनंतसंख्यक आत्माएँ करती हैं (जिनका सामान्य पारिभाषिक नाम 'जीव' है) तथा जड़ भाग का निर्माण अनन्तसंख्यक परमाणु करते हैं (जिनका सामान्य पारिभाषिक नाम 'अजीव' है) है।[1] परमाणुओं के संबन्ध में यह भी माना गया है कि वे आपस में जुड़–मिल कर जगत् की इन उन भौतिक वस्तुओं को जन्म देते हैं जबकि जीवों के संबंध में यही माना गया है कि वे एक दूसरे से सर्वथा पृथक् रहते हैं। अन्तिम उल्लेखनीय बात यह है कि प्रत्येक जीव तथा प्रत्येक परमाणु एक नित्य वस्तु होते हुए भी प्रतिक्षण रूपरूपान्तर धारण करता रहता है। प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र ने इन्हीं सब मान्यताओं को ध्यान में रखा है।

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥४७८॥

जब सोने का घड़ा नष्ट करके मुकुट बनाया जाता है तब सोना पूर्ववत् स्थिति में बना रहता है, और ऐसी दशा में यह एक सकारण बात है कि जिस व्यक्ति को सोने के घड़े की आवश्यकता हो वह शोक में पड़ जाए, जिसे मुकुट की आवश्यकता हो वह प्रसन्न हो जाए, तथा जिसे सोने की आवश्यकता हो वह अपनी मनःस्थिति को पूर्ववत् बनाए रखे।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि जब एक ही घटना को 'घड़े का नाश' 'मुकुट की उत्पत्ति' तथा 'सोने का ज्यों का त्यों बने रहना' इन तीन

---

१ प्रस्तुत 'अजीव' के अन्तर्गत परमाणुओं के अतिरिक्त आकाश, धर्म (=गति संभव बनाने वाला तत्त्वविशेष), अधर्म(=स्थिति संभव बनानेवाला तत्त्वविशेष), तथा काल ये चार अन्य जड तत्त्व भी आते हैं, लेकिन प्रस्तुत प्रसंग में हम उनकी उपेक्षा कर रहे हैं।

रूपों में देखा जा सकता है तब यही मानना चाहिए कि जगत् की प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति, नाश तथा स्थिरता इन तीन रूपोंवाली है।

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥४७९॥

जिसने दूध पर रहने का व्रत लिया है वह दही नहीं खाता, जिसने दही पर रहने का व्रत लिया है वह दूध नहीं पीता, और जिसने गोरस न लेने का व्रत लिया है वह न दूध पीता है न दही खाता है। इससे सिद्ध होता है कि एक वस्तु का तात्त्विक स्वरूप तीन प्रकार का है।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि एक ही घटना 'दूध का नाश', 'दही की उत्पत्ति' तथा 'गोरस का ज्यों का त्यों बने रहना' इन तीन रूपों में देखी जा सकती है। और इससे भी निष्कर्ष यही निकलता है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति, नाश तथा स्थिरता इन तीनों रूपोंवाली है।

अत्राप्यभिदधत्यन्ये विरुद्धं हि मिथस्त्रयम् ।
एकत्रैवैकदा नैतद् घटां प्राञ्चति जातुचिद् ॥४८०॥

इस संबन्ध में भी कुछ दूसरे वादियों का कहना है कि उक्त तीन धर्मों का (अर्थात् उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिरता का) एक साथ रहना परस्पर विरोधी है—जिसके फलस्वरूप स्थिति यह बनती है कि ये तीन धर्म एक ही स्थान पर एक ही समय में कभी नहीं पाए जाते।

उत्पादोऽभूतभवनं विनाशस्तद्विपर्ययः ।
ध्रौव्यं चोभयशून्यं यदेकदैकत्र तत् कथम् ॥४८१॥

उत्पत्ति का अर्थ है अस्तित्व में न रही वस्तु का अस्तित्व में आना, विनाश का अर्थ है इसका उलटा (अर्थात् अस्तित्व में आई हुई वस्तु का अस्तित्व में न रहना), जबकि स्थिरता का अर्थ है उत्पत्ति तथा विनाश दोनों से शून्य होना; जब बात ऐसी है तब ये तीन धर्म एक ही में एक ही स्थान पर कैसे रह सकते हैं?

शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यमुक्तं यच्चात्र साधनम् ।
तदप्यसाम्प्रतं यत् तद् वासनाहेतुकं मतम् ॥४८२॥

प्रस्तुत मत के समर्थन में जो कहा गया कि एक ही घटना के फलस्वरूप एक व्यक्ति के मन में शोक उत्पन्न होता है, दूसरे के मन में प्रसन्नता तथा तीसरे

की मनःस्थिति पूर्ववत् बनी रहती है, वह अनुचित है; क्योंकि एक व्यक्ति के मन में शोक आदि उत्पन्न होने का कारण तो इस मन की वासनाएँ हैं।

किञ्च स्याद्वादिनो नैव युज्यते निश्चयः क्वचित्।
स्वतन्त्रापेक्षया तस्य न मानं मानमेव यत् ॥४८३॥

दूसरे, स्याद्वाद का सिद्धान्त मानने वाले एक व्यक्ति के लिए (जैसा व्यक्ति कि प्रस्तुत वादी है) किसी भी मान्यता का प्रतिपादन निश्चयपूर्वक करना युक्तिसंगत नहीं क्योंकि ऐसे व्यक्ति के परंपरागत विश्वास का तकाजा तो यह है कि ठीक उसी वस्तु के संबंध में जिसे वह प्रमाण कह रहा हो वह यह भी कहे कि वह प्रमाण नहीं।

टिप्पणी—जैन दर्शन की मान्यतानुसार एक वस्तु भावरूप तथा अभावरूप दोनों हुआ करती है; इस पर प्रस्तुत विरोधी की आपत्ति है कि तब तो जैन को चाहिए कि वह एक ही कथन को प्रामाणिक तथा अप्रामाणिक दोनों माने (और ऐसी दशा में कुछ भी सिद्ध—असिद्ध करना उसके लिए असंभव बन जाना चाहिए)। 'स्याद्वाद' शब्द का अर्थ है प्रत्येक कथन को सापेक्ष अर्थ में ही सत्य मानने का सिद्धान्त'।

संसार्यपि न संसारी मुक्तोऽपि न स एव हि।
तदतद्रूपभावेन सर्वमेवाव्यवस्थितम् ॥४८४॥

इसी प्रकार, उक्त व्यक्ति एक संसारी आत्मा के संबंध में यह भी कहेगा कि वह संसारी नहीं तथा एक मुक्त आत्मा के संबंध में यह भी कि वह मुक्त नहीं। ऐसी दशा में इस व्यक्ति के मतानुसार बात यह ठहरती है कि प्रत्येक वस्तु परस्पर-विरोधी स्वरूपोंवाली है और इसलिए किसी भी निश्चित स्वरूपवाली नहीं।

त आहुर्मुकुटोत्पादो न घटानाशधर्मकः।
स्वर्णान्न वाऽन्य एवेति न विरुद्धं मिथस्त्रयम् ॥४८५॥

इस सबके उत्तर में प्रस्तुत वादी का कहना है कि (उस पूर्वोक्त दृष्टान्त में) मुकुट की उत्पत्ति घड़े के नाश के स्वभाववाली न हो ऐसी बात नहीं और वह सोने से सर्वथा भिन्न कुछ हो ऐसी बात नहीं, अतः उपरोक्त तीन धर्मों का (अर्थात् उत्पत्ति, विनाश, स्थिरता का) एक साथ रहना परस्परविरोधी नहीं।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि एक ही घटना का 'घड़े का नाश', 'मुकुट की उत्पत्ति' तथा 'सोने का ज्यों का त्यों बने रहना' इन तीन रूपों वाली होना एक प्रत्यक्षसिद्ध बात है।

न चोत्पादव्ययौ न स्तो ध्रौव्यवत् तद्धिया गतेः ।
नास्तित्वे तु तयोर्ध्रौव्यं तत्त्वतोऽस्तीति न प्रमा ॥४८६॥

उत्पत्ति तथा विनाश हुआ न करते हों ऐसी बात नहीं, क्योंकि हमें स्थिरता के समान ही उत्पत्ति तथा विनाश का भी ज्ञान होता है; बात तो यह है कि यदि उत्पत्ति तथा विनाश हुआ न करते होते तो 'स्थिरता वस्तुतः होती है' यह ज्ञान भी प्रामाणिक न होता।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र एक ऐसे विरोधी को संबोधित कर रहे हैं जो स्थिरताको तो वास्तविक मानता है लेकिन उत्पत्ति तथा विनाश को अवास्तविक। और उनका मन्तव्य यह है कि हमें स्थिरता का ज्ञान उत्पत्ति तथा विनाश की पृष्ठभूमि में ही हुआ करता है।

न नास्ति ध्रौव्यमप्येवमविगानेन तद्गतेः ।
अस्याश्च भ्रान्ततायां न जगत्यभ्रान्तत्तागतिः ॥४८७॥

स्थिरता नहीं हुआ करती ऐसी बात भी नहीं, क्योंकि हमें स्थिरता का ज्ञान निर्दोष रूप से होता है; और यदि स्थिरताविषयक हमारा यह ज्ञान भ्रान्त है तो जगत् में अभ्रान्त ज्ञान जैसी कोई वस्तु नहीं।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र एक ऐसे वादी को संबोधित कर रहे हैं जो उत्पत्ति तथा विनाश को तो वास्तविक मानता है लेकिन स्थिरता को अवास्तविक। और उनका मन्तव्य है कि स्थिरता के संबंध में होने वाली हमारी प्रतीति उतनी ही अभ्रान्त है जितनी अभ्रान्त हमारी कोई भी प्रतीति हो सकती है।

उत्पादोऽभूतभवनं स्वहेत्वन्तरधर्मकम् ।
तथाप्रतीतियोगेन[1] विनाशस्तद्विपर्ययः ॥४८८॥

उत्पत्ति का अर्थ है अस्तित्व में न रही एक वस्तु का अस्तित्व में आना और यह 'हेतु का नाश (=उपादानकारण के एक रूपविशेष का नाश)' रूप हुआ करती है, यह इसलिए कि हमें इस प्रकार की प्रतीति होती है। विनाश उत्पत्ति का ठीक उलटा होता है (अर्थात् विनाश का अर्थ है अस्तित्व में आई हुई एक वस्तु का अस्तित्व में न रहना और यह 'उपादानकारण के एक रूपविशेष की उत्पत्ति' रूप हुआ करता है)।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि किसी वस्तु के उत्पन्न होने का अर्थ है इस वस्तु के उपादानकारण द्वारा एक पुराना रूप छोड़कर इस वस्तु के

१ क का पाठ : तथा प्रतीति

रूप का धारण किया जाना जबकि किसी वस्तु के नष्ट होने का अर्थ है इस वस्तु के उपादानकारण द्वारा इस वस्तु का रूप छोड़कर एक नए रूप का धारण किया जाना; (यहाँ भी देखा जा सकता है कि उत्पत्ति नाश तथा स्थिरता को साथ लिए चलती है और नाश उत्पत्ति तथा स्थिरता को)।

तथैतदुभयाधारस्वभावं ध्रौव्यमित्यपि ।
अन्यथा त्रितयाभाव एकदैकत्र किं न तत् ॥४८९॥

स्थिरता इन दोनों का (अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाश का) आधाररूप हुआ करती है; यदि ऐसा न हो तो इन तीनों में से एक का भी पाया जाना संभव नहीं। तब फिर उत्पत्ति, विनाश तथा स्थिरता एक ही स्थान तथा समय में क्यों नहीं पाए जाएँ ?

एकत्रैवैकदैवैतदित्थं त्रयमपि स्थितम् ।
न्याय्यं भिन्ननिमित्तत्वात् तदभेदे न युज्यते ॥४९०॥

इस प्रकार एक ही स्थान तथा समय में इन तीनों का (अर्थात् उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिरता का) पाया जाना युक्तिसंगत है और वह इसलिए कि इन तीन के निमित्त परस्परभिन्न हैं; यदि इनके ये निमित्त परस्पर भिन्न न होते तब ऐसा होना (अर्थात् तब उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिरता का एक ही स्थान तथा समय में पाया जाना) युक्तिसंगत न होता।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि उत्पत्ति, विनाश तथा स्थिरता एक ही वस्तुस्थिति के तीन विभिन्न पहलू हैं। यह इसलिए कि एक वस्तु के उत्पन्न होते समय इस वस्तु का उपादानकारण ज्यों का त्यों बना रह रहा होता है, इस उपादानकारण में एक पुराने रूप का नाश हो रहा होता है तथा उसमें एक नए रूप की उत्पत्ति हो रही होती है।

इष्यते च परैर्मोहात् तत् क्षणस्थितिधर्मिणि ।
अभावेऽन्यतमस्यापि तत्र तत्त्वं न यद् भवेत् ॥४९१॥

उत्पत्ति, विनाश तथा स्थिरता इन तीन धर्मों का एक ही वस्तु में एक साथ रहना हमारे (क्षणिकवादी) विरोधी को भी स्वीकार है—यद्यपि उसकी अज्ञानपूर्ण मान्यता है कि यह वस्तु क्षणिक हुआ करती है; यह इसलिए कि एक क्षणिक वस्तु यदि उत्पत्ति, विनाश तथा स्थिरता इन तीनों धर्मों से युक्त न हो तो वह क्षणिक ही नहीं हो सकती।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि क्षणिकवादी भी उत्पत्ति, विनाश तथा स्थिति तीनों की वास्तविकता को स्वीकार करता है—भले यह उसकी एक भ्रान्त धारणा हो कि स्थिति अनिवार्यतः क्षणिक हुआ करती है।

भावमात्रं तदिष्टं चेत् तदित्थं निर्विशेषणम्।
क्षणस्थितिस्वभावत्वं न ह्युत्पादव्ययौ विना ॥४९२॥

प्रस्तुत वादी कह सकता है कि वह एक वस्तु को अस्तित्वशील भर मानता है। लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि तब तो यह वस्तु निर्विशेषणरूप से अस्तित्वशील हुई (अर्थात् तब वह अस्तित्वशील से अधिक कुछ नहीं हुई) जबकि किसी वस्तु का क्षणिक होना तब तक संभव नहीं जब तक उसकी उत्पत्ति तथा उसका नाश भी न होते हों।

तद्दित्थंभूतमेवेति द्रागनभस्तो न जातुचित्।
भूत्वाऽभावश्च नाशोऽपि तदेवेति न लौकिकम् ॥४९३॥

कहा जा सकता है कि एक वस्तु को हमें इसी रूप में (अर्थात् क्षणिकरूप में ही) अस्तित्वशील मानना चाहिए; लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि यह वस्तु कहीं आकाश से तो टपका नहीं करती (अर्थात् यह वस्तु उत्पत्ति की प्रक्रिया से शून्य तो नहीं)। दूसरे, अस्तित्व में रहने के पश्चात् अस्तित्व में न रहने वाली और इस प्रकार नष्ट होने वाली वस्तु के संबन्ध में यह कहना कि यह अस्तित्वशीलरूप ही है लोकसम्मत नहीं।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि उत्पत्ति-प्रक्रिया की वास्तविकता को स्वीकार किए बिना यह भी नहीं समझा जा सकता कि एक वस्तु स्थिति में आती कैसे है (भले ही वह क्षण भर के लिए स्थिति में क्यों न आए)। दूसरी ओर, एक वस्तु की स्थिति को उसके नाश से अभिन्न मानना अन्तर्विरोधपूर्ण है, क्योंकि स्थिति का अर्थ है एक वस्तु का सत्ता में रहना जबकि नाश का अर्थ है एक वस्तु का सत्ता में रहने के पश्चात् सत्ता में न रहना।

वासनाहेतुकं यच्च [1]शोकादि परिकीर्तितम्।
तदयुक्तं यतश्चित्रा सा न जात्वनिबन्धना ॥४९४॥

प्रस्तुत वादी ने जो यह कहा कि 'एक ही वस्तु विभिन्न व्यक्तियों के मन में शोक आदि विभिन्न भावनाएँ उत्पन्न करती है इसका कारण इन व्यक्तियों के

१ क का पाठः शोकादिपरि°

मन की वासनाएँ हैं (न कि इस वस्तु का अनेक स्वभावों वाली होना)' वह उचित नहीं, क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों के मन में विभिन्न वासनाओं का उदय अकारण नहीं हो सकता।

[1]सदाभावेतरापत्तेरेकभावाच्च[2] वस्तुनः।
तद्भावेऽतिप्रसंगादि नियमात् संप्रसज्यते ॥४९५॥

क्योंकि यदि एक व्यक्ति के मन में एक वासना अकारण उत्पन्न हो सकती है तो उसे या तो सदा उत्पन्न होना चाहिए या कभी नहीं। दूसरे, यदि माना जाए कि प्रत्येक वस्तु एक ही स्वभाव वाली है और फिर भी वह विभिन्न व्यक्तियों के मन में विभिन्न वासनाओं को जन्म दे सकती है तो निश्चय ही अवाञ्छनीय निष्कर्ष स्वीकार करने के लिए तथा ऐसी ही दूसरी कठिनाइयों का सामना करने के लिए हमें बाध्य होना पड़ेगा।

न मानं मानमेवेति सर्वथाऽनिश्चयश्च यः।
उक्तो न युज्यते सोऽपि यदेकान्तनिबन्धनः ॥४९६॥

फिर प्रस्तुत वादी ने जो यह कहा कि स्याद्वाद का सिद्धान्त मानने वाले व्यक्ति की दृष्टि में एक प्रमाण प्रमाण नहीं ही है तथा एक वस्तु का स्वरूप अनिश्चित ही है वह उचित नहीं—यदि प्रस्तुत वादी इन मान्यताओं को एकांगी अर्थ पहना कर अपनी आपत्ति प्रकट कर रहा हो।

मानं तन्मानमेवेति प्रत्यक्षं लैङ्गिकं न तु।
तत्तच्चेन्मानमेवेति स्यात् तद्भावादृते कथम् ॥४९७॥

सचमुच, यदि कहा जाए कि एक प्रमाण प्रमाण होता ही है तो हम उत्तर देंगे कि प्रत्यक्ष तो अनुमान नहीं होता (यद्यपि प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाण हैं)। कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण तो है ही (भले ही वह अनुमान प्रमाण न हो) लेकिन तब हम पूछेंगे कि प्रत्यक्ष जबतक अनुमान प्रमाण भी न होता हो तब तक हम कैसे कह सकते हैं कि वह प्रमाण होता ही है।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि जब ख तथा ग क के दो उपविभाग हों तब यदि कोई कहे कि एक क क होता ही है तो उसे यह भी

१ ख का पाठ : सदा भावे। २ ख का पाठ : °वेतरापत्ति°।

मानना पड़ेगा कि इस क को ख तथा ग दोनों होना चाहिए। हरिभद्र के अपने मतानुसार एक क ख तथा ग में से कोई एक होने के कारण क है जबकि वह ख तथा ग में से कोई एक न होने के कारण क नहीं भी है।

न स्वसत्त्वं परासत्त्वं सदसत्त्वविरोधतः।
स्वसत्त्वासत्त्ववन्न्यायान्न च नास्त्येव तत्र तत् ॥४९८॥

एक वस्तु की अपनी सत्ता ही किसी दूसरी वस्तु की असत्ता नहीं, क्योंकि इस पहली वस्तु की सत्ता तथा इस दूसरी वस्तु की असत्ता उसी प्रकार युक्तितः परस्पर विरोधी होनी चाहिए जैसे कि इस पहली वस्तु की सत्ता तथा उसकी अपनी ही असत्ता परस्परविरोधी हैं; और न यही कहा जा सकता है कि जहां एक वस्तु की सत्ता रहती है वहां किसी दूसरी वस्तु की असत्ता नहीं रहती।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि 'अपने रूप वाली होना' तथा 'किसी दूसरी वस्तु के रूप वाली न होना' ये दो परस्पर भिन्न धर्म प्रत्येक वस्तु में अनिवार्यतः साथ साथ रहा करते हैं। ये धर्म परस्पर भिन्न तो इसलिए हैं कि इनमें से पहला भावरूप है और दूसरा अभावरूप, वे एक वस्तु में अनिवार्यतः एक साथ इसलिये रहते हैं कि यदि ऐसा न हो तो या तो यह वस्तु अपने रूप वाली भी नहीं होनी चाहिए या वह किसी दूसरी वस्तु के रूप वाली भी होनी चाहिए।

परिकल्पितमेतच्चेन्न त्वित्यर्थं तत्त्वतो न तत्।
ततः क इह दोषश्चेन्न तु तद्भावसंगतिः ॥४९९॥

कहा जा सकता है कि जहां एक वस्तु की सत्ता रहती है वहां किसी दूसरी वस्तु की असत्ता का रहना एक कल्पनासिद्ध बात है; लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि तब तो उक्त पहली वस्तु की सत्ता के स्थल में उक्त दूसरी वस्तु का रहना एक वस्तुस्थितिसिद्ध बात नहीं हुई। पूछा जा सकता है कि इसमें दोष क्या; इस पर हमारा उत्तर है कि तब तो उक्त पहली वस्तु की सत्ता के स्थल में उक्त दूसरी वस्तु की भी सत्ता का रहना एक वस्तुस्थितिसिद्ध बात होनी चाहिए।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि क के स्थितिस्थल में यदि 'ख का नास्तित्व' एक कल्पना सिद्ध बात है तो उस स्थल में 'ख का अस्तित्व' एक

१ क. ख दोनों का पाठ : तदसत्त्वं

वस्तुस्थितिसिद्ध बात होनी चाहिए; और तब फिर हमें जहां क दीखता है वहीं ख भी दीखना चाहिये।

अनेकान्तत एवातः सम्यग् मानव्यवस्थितेः।
स्याद्वादिनो नियोगेन युज्यते निश्चयः परः ॥५००॥

इस प्रकार क्योंकि अनेकान्तवाद का आश्रय लेने पर ही प्रमाणों का यथार्थ स्वरूप स्थिर हो पाता है यह बात युक्तिसंगत ठहरती है कि वस्तुओं का स्वरूप-निश्चय आदर्श रूप से तथा नियमतः कर पाना स्याद्वाद का सिद्धान्त मानने वाले व्यक्ति के लिए ही संभव है।

टिप्पणी—'अनेकान्तवाद' शब्द का मोटा अर्थ है 'जगत की प्रत्येक वस्तु को भावरूप तथा अभाव रूप दोनों मानने का सिद्धान्त'।

एतेन सर्वमेवेति यदुक्तं तन्निराकृतम्।
शिष्यव्युत्पत्तये किञ्चित्तथाऽप्यपरमुच्यते ॥५०१॥

इतना कहकर ही हमने उन सब आपत्तियों का खंडन कर दिया जो हमारे मत के विरुद्ध ऊपर उठाई गई थीं, लेकिन फिर भी शिष्यों को शिक्षित करने के उद्देश्य से हम इस संबन्ध में कुछ अतिरिक्त बातें कहने जा रहे हैं।

संसारी चेत् स एवेति कथं मुक्तस्य संभवः।
मुक्तोऽपि चेत् स एवेति व्यपदेशोऽनिबन्धनः ॥५०२॥

यदि एक संसारी आत्मा संसारी ही है तब कोई आत्मा मुक्त कैसे हो सकती है? और यदि एक मुक्त आत्मा मुक्त ही है तो उसे मुक्त कहने के पीछे कोई कारण नहीं।

संसाराद् विप्रमुक्तो यन्मुक्त इत्यभिधीयते।
नैतत्तस्यैव तद्भावमन्तरेणोपपद्यते ॥५०३॥

क्योंकि संसार से मुक्त हुई आत्मा को ही मुक्त कहा जाता है, और इस कथन की संगति यह माने बिना नहीं बैठ सकती कि एक संसारी आत्मा ही मुक्त रूप धारण करती है।

तस्यैव च तथाभावे तन्निवृत्तीतरात्मकम्।
द्रव्यपर्यायवद् वस्तु बलादेव प्रसिद्ध्यति ॥५०४॥

और यदि यह सच है कि एक संसारी आत्मा ही अन्त में जाकर मुक्त बन जाया करती है तो बलपूर्वक यह बात सिद्ध हो गई कि प्रत्येक वस्तु विनाशी एवं अविनाशी इन दोनों रूपों वाली तथा द्रव्य एवं पर्याय इन दोनों रूपों वाली है।

टिप्पणी— जैनदर्शन की पारिभाषक शव्दावली में 'द्रव्य' एक वस्तु के अविनाशी पहलू का नाम है तथा 'पर्याय' इस वस्तु के विनाशी पहलू का। गहरी दृष्टि से देखा जाने पर चेतन जीवों तथा भौतिक परमाणुओं को ही द्रव्य कहा जाना चाहिए तथा इनमें से प्रत्येक द्रव्य की क्षण प्रतिक्षण बदलने वाली अवस्थाओं को उस द्रव्य के पर्याय। लेकिन व्यवहार में दैनंदिन जीवन की स्थूल वस्तुओं का वर्णन भी द्रव्यपर्याय की भाषा में किया जाता है। उदाहरण के लिए, जब सोने का घड़ा तोड़कर मुकुट बनाया जाता है तो कहा जाता है कि यहाँ 'सोना–द्रव्य' में 'घड़ा–पर्याय' का नाश होकर 'मुकुट–पर्याय' का जन्म हो गया, या जव दूध जमकर दही बन जाता है तो कहा जाता है कि यहाँ 'गोरस–द्रव्य' में 'दूध–पर्याय का नाश होकर 'दही–पर्याय' का जन्म हो गया।

लज्जते बाल्यचरितैर्बाल एव न चापि यत् ।
युवा न लज्जते चान्यस्तैरायत्यैव चेष्टते ॥५०५॥
युवैव न च वृद्धोऽपि नान्यार्थं चेष्टनं च तत् ।
अन्वयादिमयं वस्तु तदभावोऽन्यथा भवेत् ॥५०६॥

एक युवा व्यक्ति बचपन में किए गए अपने कामों पर लज्जित होता है। यद्यपि वह अब बच्चा नहीं, और ठीक ये ही काम किसी दूसरे युवा व्यक्ति को लज्जित नहीं करते (क्योंकि ये इस दूसरे युवा व्यक्ति के बचपन में किए गए काम नहीं)। इसी प्रकार एक युवा व्यक्ति अपनी वृद्धावस्था के सुविधार्थ कुछ काम करता है यद्यपि वह युवा ही वृद्ध नहीं और नहीं कोई एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के सुविधार्थ कुछ काम करता है। अतः यह सिद्ध हो गया कि एक वस्तु अन्वय आदि (अर्थात् 'अन्वय एवं व्यतिरेक' = 'स्थिरता एवं विनाश') स्वभावों वाली है, वरना इस वस्तु का अस्तित्व ही संभव न होगा।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि जब एक व्यक्ति की बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था को एक दूसरे व्यक्ति की बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था से पृथक् रूप में देखना संभव है तो इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी बाल्यावस्था आदि के बीच किसी न किसी अर्थ में एक भी बना रहता है।

अन्वयो व्यतिरेकश्च द्रव्यपर्यायसंज्ञितौ ।
अन्योन्यव्याप्तितो भेदाभेदवृत्त्यैव वस्तु तौ ॥५०७॥

इस प्रकार अन्वय (स्थिरता) एव व्यतिरेक (नाश) जिन्हें क्रमशः 'द्रव्य' एवं 'पर्याय' भी कहा जाता है अनिवार्यतः एक दूसरे के साथ रहते हुए ही वस्तुस्वरूप

का निर्माण करते हैं, और इस वस्तु में रहते हुए वे (एक विलक्षण प्रकार से) परस्पर भिन्न तथा परस्पर अभिन्न दोनों हैं।

नान्योन्यव्याप्तिरेकान्तभेदेऽभेदे च युज्यते ।
अतिप्रसंगादैक्याच्च शब्दार्थानुपपत्तितः ॥५०८॥

जो दो धर्म एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न अथवा अत्यन्त अभिन्न है उनके संबन्ध में यह बात युक्तिसंगत नहीं कि वे अनिवार्यतः एक दूसरे के साथ रहते हैं, क्योंकि ये दो धर्म आपस में अत्यन्त भिन्न है तो उन्हें एक दूसरे का अनिवार्य साथी मानना मनमानी करना होगा, और यदि वे आपस में अत्यन्त अभिन्न हैं तब वे एक ही धर्म हो गए (न कि दो धर्म रहे)। दूसरे, उक्त धर्मों को आपस में अत्यन्त भिन्न अथवा अत्यन्त अभिन्न मानने पर 'अनिवार्यतः एक दूसरे के साथ रहना' इस शब्दावली का अर्थ करना असंभव हो जाएगा।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि एक वस्तु का भावरूप पहलू तथा उसका अभावरूप पहलू परस्पर भिन्न भी हैं तथा वे अनिवार्यतः साथ साथ भी रहते हैं।

अन्योन्यमिति यद् भेदं व्याप्तिश्चाह विपर्ययम् ।
भेदाभेदे द्वयोस्तस्मादन्योन्यव्याप्तिसंभवः ॥५०९॥

उक्त धर्मों के संबन्ध में 'एक दूसरे' इस शब्द का प्रयोग सिद्ध करता है कि वे आपस में भिन्न हैं तथा उनके संबन्ध में यह कहना कि वे 'अनिवार्यतः साथ रहते हैं' सूचित करता है कि वे आपस में अभिन्न हैं। ऐसी दशा में इन धर्मों का आपस में भिन्न एवं अभिन्न दोनों स्वभावों वाला मानने पर ही उनके संबन्ध में यह कहना सम्भव होना चाहिए कि वे अनिवार्यतः एक दूसरे के साथ रहा करते हैं।

एवं न्यायाविरुद्धेऽस्मिन् विरोधोद्भावनं नृणाम् ।
व्यसनं धीजडत्वं[1] वा प्रकाशयति केवलम् ॥५१०॥

इस प्रकार जब प्रस्तुत धर्मों को भेद तथा अभेद दोनों स्वभावों वाला मानना युक्तिविरुद्ध नहीं तब लोगों का (अर्थात् हमारे प्रतिद्वन्द्वियों का) हमारी मान्यता में अन्तर्विरोध दिखलाना या तो उनकी ईर्ष्यालुताभाव का द्योतक है या उनकी बुद्धिकी मूढता मात्र का।

---

१ ख का पाठ : वा जडत्वं ।

न्यायात् खलु विरोधो यः स विरोध इहोच्यते ।
यद्वदेकान्तभेदादौ तयोरेवाप्रसिद्धितः ॥५११॥

इस सम्बन्ध में अन्तर्विरोधपूर्ण मान्यता वही कहलाती है जिसका अन्तर्विरोध युक्तिसिद्ध हो; इस प्रकार की मान्यता का दृष्टान्त है प्रस्तुत धर्मों को आपस में सर्वथा भिन्न आदि (अर्थात् सर्वथा भिन्न अथवा सर्वथा अभिन्न) मानने के सिद्धान्त, और वह इसलिए कि उन सिद्धान्तों को स्वीकार करने पर यह सिद्ध करना सम्भव नहीं होता कि एक वस्तु में प्रस्तुत दोनों धर्म (अर्थात् स्थिरता एवं विनाश) एक साथ कैसे रहते हैं।

मृद्द्रव्यं यन्न पिण्डादिधर्मान्तरविवर्जितम्[1] ।
तद् वा[2] तेन विनिर्मुक्तं केवलं गम्यते क्वचित् ॥५१२॥

उदाहरण के लिए, मिट्टी द्रव्य का अनुभव पिण्ड आदि दूसरे धर्मों (पिण्ड-पर्याय आदि धर्मों) से मुक्त रूप में हम कहीं भी नहीं करते और नहीं हम पिण्ड आदि धर्मों का अनुभव मिट्टी द्रव्य से मुक्त रूप में कहीं भी करते हैं।

ततोऽसत् तत् तथा न्यायादेकं चोभयसिद्धितः ।
अन्यत्रातो विरोधस्तद्भावापत्तिलक्षणः ॥५१३॥

अतएव पिण्ड आदि धर्मों से मुक्त मिट्टी द्रव्य तथा मिट्टी द्रव्य से मुक्त पिण्ड आदि धर्म सत्ताशून्य है। इसी प्रकार, सामान्यतः द्रव्य तथा पर्याय इन दोनों में से किसी एक को ही सत्ताशील मानना युक्तिविरुद्ध है और वह इसलिए कि इन दोनों ही की सत्ताशीलता युक्तिसिद्ध है; अन्यथा (अर्थात् यदि द्रव्य तथा पर्याय को सर्वथा परस्पर भिन्न अथवा परस्पर अभिन्न माना जाएगा) तो इसी कारण से (अर्थात् इस कारण से कि हमें द्रव्यों तथा पर्यायों का उक्त रूप में अनुभव नहीं होता) हमें यह असंगत बात मानने पर वाध्य होना पड़ेगा कि वस्तुओं में द्रव्यपर्याय भाव हो नहीं पाया जाता।

जात्यन्तरात्मके चास्मिन्नानवस्थादिदूषणम् ।
नियतत्वाद् विविक्तस्य भेदादेश्चाप्यसंभवात् ॥५१४॥

इस प्रकार भेद एवं अभेद का एक विलक्षण प्रकार से साथ रहना संभव मानने पर अनवस्था आदि दोषों के लिए अवकाश नहीं रह जाता और वह इसलिए

१ क का पाठ : पिण्डादि धर्मा° । २ क का पाठ : यद् वा

कि वस्तुओं का ऐसा ही स्वरूप नियत है (अर्थात् इसलिए कि वस्तुओं के स्वरूप का नियमन भेद एवं अभेद दोनों मिलकर करते हैं)। वैसा मानने पर इन दोषों के लिए अवकाश इसलिए भी नहीं कि भेद आदि का (अर्थात् भेद अथवा अभेद का) अकेले कहीं पाया जाना संभव नहीं।

टिप्पणी—'अनवस्था आदि दोषों' से हरिभद्र का आशय उन आपत्तियों से है जो जैनविरोधी दार्शनिक अनेकान्तवाद के विरुद्ध उठाया करते थे। उदाहरण के लिये, अनवस्था दोष निम्नलिखित प्रकार से ऊठता है: एक वस्तु को जिन दो धर्मों के आधार पर स्थायी तथा परिवर्तनशील दोनों कहा जा रहा है वे धर्म भी अपने में रहने वाले किन्हीं दूसरे दो धर्मों के आधार पर स्थायी तथा परिवर्तनशील कहे जाने चाहिये, फिर उक्त वस्तु के उक्त धर्मों में रहने वाले ये धर्म अपने में रहने वाले किन्हीं धर्मों के आधार पर स्थायी तथा परिवर्तनशील दोनों कहे जाने चाहिये; और इसी प्रकार यह क्रम अनन्तकाल तक चलता रहेगा। ऐसी सभी आपत्तियों के उत्तर में हरिभद्र का यही कहना है कि स्थायित्व तथा परिवर्तन का प्रत्येक वस्तु में अनिवार्यतः साथ साथ रहना एक अनुभवसिद्ध बात है जबकि अकेले स्थायित्व अथवा अकेले परिवर्तन का किसी भी वस्तु में रहना एक प्रमाणसिद्ध बात नहीं।

नाभेदो भेदरहितो भेदो वाऽभेदवर्जितः ।
केवलोऽस्ति यतस्तेन कुतस्तत्र विकल्पनम् ॥५१५॥

भेद से रहित केवल अभेद कहीं नहीं पाया जाता और न ही अभेद से रहित केवल भेद कहीं भी पाया जाता है; ऐसी दशा में (केवल भेद अथवा केवल अभेद की सत्ता संभव मानते हुए) हमारे सिद्धान्त पर (जिसके अनुसार भेद एवं अभेद अनिवार्यतः साथ रहते हैं) आपत्तियाँ उठाना कहाँ तक उचित है?

येनाकारेण भेदः किं तेनासावेव वा द्वयम् ।
असत्त्वात् केवलस्येह सतश्च कथितत्वतः ॥५१६॥

उदाहरण के लिए, हमसे पूछा जाता है कि एक वस्तु जिस आकार से भेद-रूपवाली है उस आकार से क्या वह भेदरूपवाली ही है अथवा भेद तथा अभेद दोनों रूपों वाली। लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि कोई वस्तु केवल भेदरूपवाली अथवा केवल अभेदरूप वाली तो होती ही नहीं, और यह वस्तु जैसी है वह हम कह ही चुके (अर्थात् यह वस्तु भेद तथा अभेद दोनों रूपों वाली है वह हम कह ही चुके)।

यतश्च तत् प्रमाणेन गम्यते ह्युभयात्मकम् ।
अतोऽपि जातिमात्रं तदनवस्थादिकल्पनम् ॥५१७॥

दूसरे, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का भेद तथा अभेद दोनों रूपों वाली होना एक प्रमाणसिद्ध बात है इसलिए भी एक वस्तु को भेद तथा अभेद दोनों रूपों वाली मानने के सिद्धान्त में अनवस्था आदि दोष दिखाना एक थोथे प्रकार का दोषप्रदर्शन है।

एवं ह्युभयदोषादिदोषा अपि न दूषणम् ।
सम्यग् जात्यन्तरत्वेन भेदाभेदप्रसिद्धितः ॥५१८॥

इसी प्रकार, एक वस्तु को भेद तथा अभेद दोनों रूपों वाली मानने का सिद्धान्त 'स्वरूपअनिश्चय' आदि दोषों से भी दूषित नहीं, और वह इसलिए कि 'भेद तथा अभेद दोनों का साथ रहना' इस प्रकार का एक विलक्षण वस्तुधर्म हमारे निकट प्रमाणसिद्ध है।

टिप्पणी—यदि किसी धर्म के संबंध में कहा जाए कि वह एक वस्तु में रहता भी है तथा नहीं भी रहता तो यह कथन 'उभय', 'संशय' अथवा 'स्वरूपअनिश्चय' नाम वाले दोष का भागी है; हरिभद्र का कहना है कि—अनेकान्तवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत दोष का भागी इसलिए नहीं कि एक वस्तु में एक धर्म का रहना तथा उसी वस्तु में उसी धर्म का न रहना ये दोनों बातें एक विलक्षण रूप से साथ साथ प्रकट होती हुई हमारे अनुभव का विषय सचमुच बनती हैं।

एतेनैतत् प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं पूर्वसूरिभिः ।
विहायानुभवं मोहाज्जातियुक्त्यनुसारिभिः ॥५१९॥

यह सब कहकर हमने अपने पूर्ववर्ती अपने उन प्रतिद्वन्द्वियों की बात का भी खण्डन कर दिया जिन्होंने अनुभव के साक्ष्य को तिलांजलि देकर मूढ़तावश किन्हीं थोथी खंडनात्मक युक्तियों का सहारा लिया था।

द्रव्यपर्याययोर्भेदे नैकस्योभयरूपता ।
अभेदेऽन्यतरस्थाननिवृत्ती चिन्त्यतां कथम् ॥५२०॥

(हमारे उक्त प्रतिद्वन्द्वियों ने कहा था) द्रव्य तथा पर्याय यदि परस्पर भिन्न है तब एक वस्तु द्रव्य तथा पर्याय दोनों रूपों वाली नहीं हो सकती; और यदि द्रव्य तथा पर्याय परस्पर अभिन्न हैं तब सोचिए कि यह कैसे हो सकता है कि इनमें से एक (अर्थात् द्रव्य) स्थिर रहता है तथा दूसरा (अर्थात् पर्याय) नष्ट होता है।

यन्निवृत्तौ न यस्येह निवृत्तिस्तत् ततो यतः।
भिन्नं नियमतो दृष्टं यथा कर्कः क्रमेलकात् ॥५२१॥

क्योंकि जिसके नष्ट होने पर जो नष्ट नहीं होता वह नियमतः उससे भिन्न पाया जाता है, जैसे कर्क (=एक प्रकार का घोड़ा) ऊंट से।

निवर्त्तते च पर्यायो न तु द्रव्यं ततो न सः।
अभिन्नो द्रव्यतोऽभेदेऽनिवृत्तिस्तत्स्वरूपवत् ॥५२२॥

पर्याय का नाश होता है लेकिन द्रव्य का नहीं और इससे यह सिद्ध हुआ कि पर्याय द्रव्य से अभिन्न नहीं। यदि पर्याय द्रव्य से सचमुच अभिन्न है तो उसे उसी प्रकार अविनाशी होना चाहिए जैसे द्रव्य होता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में 'अनिवृत्तिः' के स्थान पर 'निवृत्तिः' यह पाठान्तर भी यशोविजयजी ने स्वीकार किया है; तब संबंधित कारिकाभाग का अनुवाद होगा : "यदि पर्याय द्रव्य से सचमुच अभिन्न है तो द्रव्य को उसी प्रकार विनाशी होना चाहिए जैसे पर्याय होता है।"

प्रतिक्षिप्तं च यद् भेदाभेदपक्षोऽन्य एव हि।
भेदाभेदविकल्पाभ्यां हन्त! जात्यन्तरात्मकः ॥५२३॥

हमारे उक्त प्रतिद्वन्द्वियों की बात का खंडन इसलिए हो गया कि केवल भेद तथा केवल अभेद इन दो धर्मों को वस्तुओं का स्वरूप मानने के सिद्धान्त की तुलना में 'भेद तथा अभेद दोनों का साथ रहना' इस एक धर्म को वस्तुओं का स्वरूप मानने का सिद्धान्त कुछ विलक्षण ही है।

जात्यन्तरात्मकं चैनं दोषास्ते समियुः कथम्।
भेदाऽभेदे च येऽत्यन्तं जातिभिन्ने व्यवस्थिताः ॥५२४॥

'भेद तथा अभेद दोनों का साथ रहना' इस एक धर्म को वस्तुओं का स्वरूप मानने वाले विलक्षण सिद्धान्त पर वे दोष कैसे लागू हो सकते हैं जो केवल भेद तथा केवल अभेद इन दो धर्मों में से—जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है— किसी एक को वस्तुओं का स्वरूप मानने वाले सिद्धान्त पर लागू होते हैं?

किञ्चिन्निवर्त्ततेऽवश्यं तस्याप्यन्यत् तथा न यत्।
अतस्तद्भेद एवात्र निवृत्त्याद्यन्यथा कथम् ॥५२५॥

कहा जा सकता है : "एक वस्तु का कुछ भाग नष्ट अवश्य होता है और कुछ भाग नष्ट नहीं भी होता है; अतः मानना चाहिए कि यह वस्तु पहले की अपेक्षा

भिन्न ही हो जाती है। वरना इस वस्तु के नाश आदि की (अर्थात् उसके नाश, उत्पत्ति आदि की) बात संभव ही कैसे होगी ?" इस पर हमारा उत्तर है :

टिप्पणी—प्रस्तुत वादी के कहने का आशय यह है कि किसी वस्तु में यदि एक भी धर्म नया उत्पन्न हो जाय तो मानना चाहिए कि वह वस्तु नष्ट हो गई तथा एक नई वस्तु का जन्म हो गया। और यह जैन भी मानता ही है कि प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण कोई न कोई नया धर्म उत्पन्न होता है।

तस्येति योगसामर्थ्याद् भेद एवेति बाधितम् ।
अभिन्नदेशस्तस्येति यत् तद्व्याप्त्या तथोच्यते ॥५२६॥

प्रस्तुत वादी के शब्दों के अर्थों पर विचार करने से ही स्पष्ट हो जाता है कि उसका कथन अन्तर्विरोधपूर्ण है; क्योंकि यहाँ कहा जा रहा है कि जिस वस्तु का कुछ भाग नष्ट हो गया होता है वह पहले की अपेक्षा भिन्न ही हो जाती है, लेकिन एक वस्तु को 'वही वस्तु' मानते हुए उसे पहले से सर्वथा भिन्न कैसे कहा जा सकता है ? सचाई यह है कि एक वस्तु के स्थितिप्रदेश में उत्पन्न होने वाली तथा उस वस्तु के स्वभाव में साझीदार होने वाली ही एक दूसरी वस्तु के संबंध में कहा जाता है कि वह उस पहली वस्तु के भागतः नष्ट होने पर अस्तित्व में आई है।

अतस्तद्भेद एवेति प्रतीतिविमुखं वचः ।
तस्यैव च तथाभावात् तन्निवृत्तीतरात्मकम् ॥५२७॥

अतः उक्त प्रकार से किसी वस्तु के सम्बन्ध में यह कहना कि भागतः नष्ट होने के फलस्वरूप वह पहले की अपेक्षा सर्वथा भिन्न हो जाती है एक अनुभव-विरुद्ध बात है; क्योंकि होता यह है कि यह वस्तु वही वस्तु बनी रहते हुए भी एक नए रूप को धारण करने के फलस्वरूप नाश तथा स्थिरता दोनों धर्मों वाली मानी जाती है।

नानुवृत्तिनिवृत्तिभ्यां विना यदुपपद्यते ।
तस्यैव हि तथाभावः सूक्ष्मबुद्ध्या विचिन्त्यताम् ॥५२८॥

सचमुच एक वस्तु के सम्बन्ध में यह कहना कि वह वही वस्तु बनी रहते हुए कोई नया रूप धारण करती है तबतक युक्तिसंगत नहीं जबतक यह न माना जाए कि यह वस्तु स्थिरता तथा नाश दोनों से सम्पन्न है, इस सचाई पर सूक्ष्म बुद्धि से विचार किया जाना चाहिए।

तस्यैव तु तथाभावे तदेव हि यतस्तथा ।
भवत्यतो न दोषो नः कश्चिदप्युपपद्यते ॥५२९॥

जब यह बात संभव मान ली गई कि एक वस्तु वही वस्तु बनी रहते हुए कोई नया रूप धारण करती है तब यह बात भी संभव बन गई कि कारण ही कार्य का रूप धारण करता है, और ऐसी दशा में हमारे सिद्धान्त में कोई दोष नहीं।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि किसी वस्तु के द्रव्यात्मक पहलू को उस वस्तु का उपादान कारण मानकर तथा उस वस्तु के पर्यायात्मक पहलू को उक्त उपादानकारण का कार्य मानकर हम कह सकते हैं कि यहाँ कारण ने ही कार्यरूप धारण किया है।

इत्थमालोचनं चेदमन्वयव्यतिरेकवत् ।
वस्तुनस्तत्स्वभावत्वात् तथाभावप्रसाधकम् ॥५३०॥

उक्त प्रकार का ऊहापोह—जो (ज्ञान होने के नाते) स्वयं नाश तथा स्थिरता दोनों से सम्पन्न है—सिद्ध करता है कि वस्तुएँ एक बनी रहती हुई रूपरूपान्तर धारण किया करती हैं और वह इसलिए कि वे नाश तथा स्थिरता दोनों धर्मों से सम्पन्न हैं।

न च भेदोऽपि बाधायै तस्यानेकान्तवादिनः ।
जात्यन्तरात्मकं वस्तु नित्यानित्यं यतो मतम् ॥५३१॥

एक वस्तु का दूसरे क्षण में पहले क्षण की अपेक्षा भिन्न हो जाना भी अनेकान्तवादी के लिए कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं करता और वह इसलिए कि उसके मतानुसार प्रत्येक वस्तु 'अनित्यता (नाश) तथा नित्यता (स्थिरता) दोनों का साथ रहना' इस एक विलक्षण धर्म से सम्पन्न है।

प्रत्यभिज्ञाबलाच्चैतदित्थं समवसीयते ।
इयं च लोकसिद्धैव तदेवेदमिति क्षितौ ॥५३२॥

यह बात कि एक वस्तु नाश तथा स्थिरता दोनों धर्मों से एक साथ सम्पन्न है प्रत्यभिज्ञा की सहायता से भी सिद्ध होती है, जबकि 'यह वही है' ऐसा ज्ञानरूप प्रत्यभिज्ञा दुनियां में सभी लोगों की सुपरिचित है ही।

न युज्यते च सन्न्यायादृते तत्परिणामिताम् ।
कालादिभेदतो वस्त्वभेदतश्च तथागतेः ॥५३३॥

यदि जगत् की वस्तुएँ रूपरूपान्तर धारण करने वाली न हो तो प्रत्यभिज्ञा का होना कोई युक्तिसंगत बात नहीं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा के आधार पर एक वस्तु अपने स्थितिसमय आदि की दृष्टि से पहले की अपेक्षा भिन्न रूप में जानी जाती है लेकिन अपने स्वरूप आदि की दृष्टि से वह पहले की अपेक्षा अभिन्न रूप में जानी जाती है।

एकान्तैक्ये न[1] नाना यन्नानात्वे चैकमप्यदः ।
अतः कथं नु तद्भावः तदेतदुभयात्मकम् ॥५३४॥

यदि कोई वस्तु सदा सर्वथा एक रूप रहा करती है तब उसे कभी पहले की अपेक्षा भिन्नरूप में नहीं जाना जा सकता है; और यदि वह सदा सर्वथा भिन्न रूप बनती रहती है तब उसे कभी पहले की अपेक्षा अभिन्न रूप में कभी नहीं जाना जा सकता। ऐसी दशा में इस वस्तु के सम्बन्ध में 'यह वही है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा कैसे संभव होगी? अतः सिद्ध हुआ कि एक वस्तु भेद तथा अभेद (अथवा नाश तथा स्थिरता) दोनों धर्मों से सम्पन्न है।

तस्यैव तु तथाभावे कथञ्चिद्भेदयोगतः ।
प्रमातुरपि तद्भावात् युज्यते मुख्यवृत्तितः ॥५३५॥

लेकिन जब एक वस्तु को रूप-रूपान्तर धारण करने वाली मान लिया जाए तब उसका किसी सीमा तक पहले से भिन्न हो जाना भी संभव बन जाता है; दूसरी ओर, प्रमाता का भी ऐसा ही स्वभाव है (अर्थात् वह भी एक सीमा तक नाश से सम्पन्न है तथा एक सीमा तक स्थिरता से)। ऐसी दशा में इस वस्तु के संबंध में 'यह यह वही है' इस प्रकार की प्रत्याभज्ञा वास्तविक अर्थ में संभव बन जाती है।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि प्रत्येक प्रमाता तथा प्रत्येक प्रमेय नाश तथा स्थिरता दोनों से सम्पन्न है यही वस्तुस्थिति प्रत्यभिज्ञा का होना संभव बनाती है।

नित्यैकयोगतो व्यक्तिभेदेऽप्येषा न संगता ।
तदिहेति प्रसंगेन तदेवेदमयोगतः ॥५३६॥

कहा जा सकता है कि दो वस्तुओं के व्यक्तिगत रूप से परस्पर भिन्न होने पर भी उनके संबंध में 'यह वही है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा हो सकती है यदि मान लिया जाए कि इन दोनों वस्तुओं में एक नित्य (तथा 'सामान्य' अथवा 'जाति' नाम वाला)

१ क का पाठ : ॰न्तैक्येन।

पदार्थ समान रूप से विद्यमान है; लेकिन इस पर हमारा उत्तर है; कि प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप निरूपण इस प्रकार से करना भी उचित नहीं क्योंकि उस दशा में हमारी इस तथाकथित प्रत्यभिज्ञा का रूप 'यह वही है' ऐसा न होकर 'वही इन (दोनों) में है' ऐसा होना चाहिए।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में समालोचित मान्यता एक न्यायवैशेषिक-मान्यता है जिसे किन्हीं ऐसी वस्तुस्थितियों के स्वरूपनिरूपण के लिए स्वीकार किया गया है जहाँ प्रतिक्षण होता हुआ परिवर्तन भ्रान्तिवश स्थिरता समझ लिया जाता है। उदाहरण के लिए, न्यायवैशेषिक मतानुसार एक जीवित शरीर प्रति-क्षण नया शरीर बनता रहता है, एक जलती हुई दीपशिखा प्रतिक्षण नई दीपशिखा बनती रहती है-यद्यपि इन दोनों ही स्थितियों में स्थिरता की प्रतीति हमें सामान्यतः (लेकिन भ्रान्तिवश) होती है।

सादृश्याज्ञानतो न्याय्या न विभ्रमबलादपि।
एतद्द्वयाग्रहे युक्तं न च सादृश्यकल्पनम् ॥५३७॥

यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं कि दो वस्तुओं के बीच सादृश्य का जब हमें अज्ञान होता है तब हम भ्रमवश इन वस्तुओं के संबन्ध में 'यह वही है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा कर बैठते हैं; क्योंकि ये दो वस्तुएँ जब तक एक दूसरे से पृथक् रूप में न जानी जाएँ तब तक उनके संबन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे एक दूसरे के सदृश हैं।

न च भ्रान्ताऽपि सद्बाधाऽभावादेव कदाचन।
योगिप्रत्ययतद्भावे[1] प्रमाणं नास्ति किञ्चन ॥५३८॥

यह बात भी नहीं कि प्रत्यभिज्ञा स्वभावतः ही भ्रान्त हुआ करती है, और वह इसलिए कि प्रत्यभिज्ञा के संबन्ध में कोई युक्तिसंगत बाधा हमें कहीं भी प्राप्त नहीं होती; दूसरी ओर, यह मानने के पक्ष में भी कोई प्रमाण नहीं कि योगि-अनुभव प्रत्यभिज्ञा को भ्रान्त सिद्ध कर देगा।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि यदि योगिअनुभव यह बतलाए कि जगत् की प्रत्येक वस्तु क्षणिक है तब तो प्रत्येक प्रत्यभिज्ञा अनिवार्यतः भ्रान्त ठहरेगी, लेकिन योगिअनुभव इस प्रश्न पर क्या निर्णय देता है यह निश्चय करना सरल नहीं। अगली कारिका इस आशय को और भी स्पष्ट कर देती है।

---

१ क का पाठ : °यस्तद्भावे

नाना योगी विजानात्यनाना नेत्यत्र न प्रमा ।
देशनाया विनेयानुगुण्येनापि प्रवृत्तितः ॥५३९॥

योगी को जगत् की वस्तुएँ परस्पर भिन्न रूप में दीखती है परस्पर अभिन्न रूप में नहीं, इस बात के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं; और जहाँ तक उपदेशों का संबन्ध है (अर्थात् जहाँ तक इस बात का संबन्ध है कि किन्हीं सत्-योगियों के उपदेशों में जगत् की वस्तुएँ परस्पर भिन्न बतलाई गई हैं) वे किन्हीं विशिष्ट प्रकार के शिष्यों की किन्हीं विशिष्ट प्रकार की योग्यताओं को ध्यान में रखकर दिए गए हो सकते हैं ।

या च लूनपुनर्जातनखकेशतृणादिषु ।
इयं संलक्ष्यते साऽपि तदाभासा न सैव हि ॥५४०॥

और जो कटकर फिर उगे हुए नाखून, बाल, घास आदि में 'यह वही है' इस प्रकार की प्रतीति होती है वह सच्ची प्रत्यभिज्ञा न होकर प्रत्यभिज्ञा का भ्रम है ।

प्रत्यक्षाभासभावेऽपि नाप्रमाणं यथैव हि ।
प्रत्यक्षं तद्वदेवेयं प्रमाणमवगम्यताम् ॥५४१॥

जिस प्रकार प्रत्यक्ष का भ्रम संभव होने पर भी हम यह नहीं कहते कि सभी प्रत्यक्ष अप्रमाण रूप हैं उसी प्रकार (प्रत्यभिज्ञा का भ्रम संभव होने पर भी) हमें प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण मानना चाहिए ।

मतिज्ञानविकल्पत्वान्न चानिष्टिरियं[1] यतः ।
एतद्बलात् ततः सिद्धं नित्यानित्यादि वस्तु नः ॥५४२॥

और क्योंकि प्रत्यभिज्ञा 'मतिज्ञान' का ही एक भेद है इसलिए उसे प्रमाण मानना हम जैनों के लिए अपसिद्धान्त भी नहीं । अतः प्रत्यभिज्ञारूप प्रमाण के बल पर हम यह सिद्ध कर पाते हैं कि जगत् की वस्तुएँ नित्यता-अनित्यता आदि धर्मयुगलों से सम्पन्न हैं ।

टिप्पणी —प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र इस आशंका का निवारण करते हैं कि जब जैनों की परम्परागत प्रमाणसूची में प्रत्यभिज्ञा को स्थान प्राप्त नहीं तब प्रत्यभिज्ञा की सहायता से सिद्ध किया गया कोई मत प्रामाणिक कैसे । हरिभद्र का कहना है कि जैनों के परम्परागत शास्त्रीय ग्रन्थों में पाए जाने वाले 'मति' नामक प्रमाण के वर्णन से पता चलता है कि प्रत्यभिज्ञा एक प्रकार का मतिज्ञान ही है ।

१ क का पाठः चानिष्टि°

आठवाँ स्तबक

(१) ब्रह्माद्वैतवाद-खंडन

अन्ये त्वद्वैतमिच्छन्ति सद्ब्रह्मादिव्यपेक्षया ।
सतो यद् भेदकं नान्यत् तच्च तन्मात्रमेव हि ॥५४३॥

कुछ दूसरे वादी ब्रह्म आदि की सत्ता को आधार बना कर अद्वैतवाद की स्थापना करते हैं (अर्थात् इस वाद की कि जगत् में एकमात्र अमुक पदार्थ ही—उदाहरण के लिए, ब्रह्म ही—वस्तुतः सत्ताशील है); इनका कहना है कि एकमात्र सत्ताशील पदार्थ में भेदों को जन्म देना किसी भी वस्तु के लिए संभव नहीं और वह इसलिए कि यह वस्तु स्वयं भी तो सत्ताशील रूप ही होगी ।

टिप्पणी—प्रस्तुत स्तबक में हरिभद्र कुछ ऐसी आपत्तियाँ उपस्थित करते हैं जो सभी प्रकार के अद्वैत वादों पर लागू होती हैं—यद्यपि वे दृष्टान्त रूप से अपने सामने ब्रह्माद्वैतवाद का सिद्धान्त रखते हैं ।

यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः ।
संकीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥५४४॥
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया ।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रकाशते ॥५४५॥

जिस प्रकार तिमिर रोग से पीड़ित नेत्रों वाला व्यक्ति विशुद्ध आकाश को इन उन वस्तुओं से भरा समझ बैठता है उसी प्रकार अविद्या के कारण यह निर्मल, निर्विकल्प ब्रह्म कलुषित सा हुआ तथा विभिन्न रूपों वाला प्रतीत होने लगता है ।

अत्राप्येवं वदन्त्यन्ये अविद्या न सतः पृथक् ।
तच्च तन्मात्रमेवेति भेदाभासोऽनिबन्धनः ॥५४६॥

इस संबन्ध में भी कुछ दूसरे वादियों का कहना है कि अविद्या उस सत्ताशील पदार्थ से भिन्न नहीं (जिसे प्रस्तुत वादी एकमात्र सत्ताशील पदार्थ मानता है) जबकि वह सत्ताशील पदार्थ एकमात्र स्वयं ही है (अर्थात् अपने से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं); और ऐसी दशा में जगत् में विभिन्न रूपों का प्रतीतिगोचर होना एक अकारण बात सिद्ध होती है ।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि जब सभी वस्तुएँ केवल सत्रूप हैं तब अविद्या भी केवल सत्रूप ही हुई, और ऐसी दशा में यह कहना कि

एक सत् अविद्यावश अनेक सा लगने लगता है यही अर्थ रखता है कि एक सत स्वतः (=अकस्मात्, अकारण) अनेक सा लगने लगता है।

सैवाथाभेदरूपाऽपि भेदाभासनिबन्धनम्।
प्रमाणमन्तरेणैतदवगन्तुं न शक्यते ॥५४७॥

कहा जा सकता है कि अविद्या उक्त एकमात्र सत्ताशील पदार्थ से अभिन्न होते हुए भी जगत् में विभिन्न रूपों के प्रतीतिगोचर होने का कारण बनती है; लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि यह बात प्रमाण द्वारा सिद्ध की गई हुए बिना समझ में आने वाली नहीं।

भावेऽपि च प्रमाणस्य प्रमेयव्यतिरेकतः।
ननु नाद्वैतमेवेति तदभावेऽप्रमाणकम् ॥५४८॥

और यदि प्रमेय से अतिरिक्त प्रमाण की सत्ता मान ली गई तो यह सिद्धान्त स्थिर नहीं रहा कि जगत् में कोई एक ही पदार्थ सत्ताशील है; दूसरी ओर, यदि प्रमेय से अतिरिक्त प्रमाण की सत्ता नहीं तो उक्त सिद्धान्त प्रमाणहीन ठहरता है।

टिप्पणी—हम देख चुके हैं कि यही तर्क हरिभद्र ने शून्याद्वैतवाद के विरुद्ध भी उपस्थित किया था।

विद्याऽविद्यादिभेदाच्च स्वतन्त्रेणैव बाध्यते।
तत्संशयादियोगाच्च प्रतीत्या च विचिन्त्यताम् ॥५४९॥

सत्ता-अद्वैत का सिद्धान्त इस आधार पर भी बाधित सिद्ध होता है कि प्रस्तुत वादी के अभीष्ट शास्त्रग्रन्थ स्वयं ही विद्या, अविद्या आदि के बीच भेद की बात करते हैं तथा वे स्वयं ही अपने प्रतिपाद्य सिद्धान्त के संबन्ध में संशय आदि की संभावना स्वीकार करते हैं (जबकि संशय आदि वे वे परस्पर भिन्न पदार्थ हैं); इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर भी बाधित सिद्ध होता है। इस पूरी वस्तुस्थिति पर विचार किया जाना चाहिए।

अन्ये व्याख्यानयन्त्येवं समभावप्रसिद्धये।
अद्वैतदेशना शास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्त्वतः ॥५५०॥

कुछ दूसरे वादियों की व्याख्या है कि शास्त्रों में सत्ता-अद्वैत के सिद्धान्त का उपदेश इसलिए दिया गया है कि श्रोताओं के मन में सब प्राणियों के प्रति समता की भावना उत्पन्न हो—न कि इसलिए कि सचमुच ही जगत् में कोई एकमात्र पदार्थ ही सत्ताशील है।

टिप्पणी—प्रस्तुत तथा आगामी कारिकाओं में हरिभद्र बतलाते हैं कि क्या अर्थ पहनाए जाने पर अद्वैतवाद भी एक स्वीकार करने योग्य सिद्धान्त बन जाता है।

न चैतत् बाध्यते युक्त्या सच्छास्त्रादिव्यवस्थितेः ।
संसारमोक्षभावाच्च तदर्थं यत्नसिद्धितः ॥५५१॥

उक्त वादियों का ऐसा कहना भी युक्तिविरुद्ध नहीं क्योंकि उनका कथन स्वीकार करने पर उत्तम शास्त्र ग्रंथों की प्रामाणिकता सिद्ध बनी रहती है, संसार तथा मोक्ष की संभावना सिद्ध बनी रहती है, मोक्ष प्राप्तिके लिए प्रयत्न की संभावना सिद्ध बनी रहती है।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि अद्वैतवाद का सिद्धान्त तात्त्विक रूप से (अर्थात् शाब्दिक रूप से) स्वीकार करने पर प्रस्तुत तीनों बातें असंभव बनी रहती हैं।

अन्यथा तत्त्वतोऽद्वैते हन्त ! संसार-मोक्षयोः ।
सर्वानुष्ठानवैयर्थ्यमनिष्टं सम्प्रसज्यते ॥५५२॥

अन्यथा तो संसार तथा मोक्ष वस्तुतः एक ठहरेंगे, आर उस दशा में हम न चाहते हुए भी यह मानने के लिए बाध्य होंगे कि मोक्षप्राप्ति के लिए किया गया सब क्रियाकलाप एक व्यर्थ का क्रियाकलाप हैं।

नवां स्तवक

(१) मोक्ष की संभावना तथा मोक्ष के साधन

अन्ये पुनर्वदन्त्येवं मोक्ष एव न विद्यते ।
उपायाभावतः किं वा न सदा सर्वदेहिनाम् ॥५५३॥

कुछ दूसरे वादियों का कहना है कि मोक्ष जैसी कोई वस्तु है ही नहीं और वह इसलिए कि मोक्ष-प्राप्ति का कोई उपाय संभव नहीं; (उनका प्रश्न है कि) यदि मोक्षप्राप्ति का कोई उपाय सचमुच संभव हो तो वह उपाय सब प्राणियों को सब समय प्राप्त क्यों नहीं होता ।

टिप्पणी—प्रस्तुत समूचे स्तवक में हरिभद्र मोक्ष की संभावना-असंभावना के प्रश्न की चर्चा करते हैं । यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अब हरिभद्र किसी ऐसे प्रश्न को नहीं उठाने जा रहे हैं जिसका सीधा संबंध सत्ताशास्त्रीय समस्याओं से है—क्योंकि इससे अलग स्तवक में वे सर्वज्ञता की संभावना-असंभावना का प्रश्न उठाएंगे तथा उससे अगले स्तवक में जो ग्रंथ का अंतिम स्तवक है, पहले शब्दार्थ सम्बन्ध का प्रश्न और फिर ज्ञान, क्रिया, मोक्ष आदि के स्वरूप संबन्धी कुछ प्रश्न ।

कर्मादिपरिणत्यादिसापेक्षो यद्यसौ ततः ।
अनादिमत्त्वात् कर्मादिपरिणत्यादि किं तथा ॥५५४॥

उत्तर दिया जा सकता है कि ऐसा इसलिए नहीं होता क्योंकि मोक्षप्राप्ति के उपाय की प्राप्ति कर्म आदि के परिपाक आदि पर निर्भर करती है; लेकिन इस पर इन वादियों का प्रश्न हैं कि जब कर्मसंचय की प्रक्रिया भी अनादि काल से चलती चली आ रही है तब वही (अर्थात् उक्त कर्मपरिपाक आदि ही) सब प्राणियों को सब समय प्राप्त क्यों नहीं ।

टिप्पणी—प्रस्तुत वादी का आशय यह है कि जब प्रत्येक जीव की कर्मसंचय प्रक्रिया अनादि है तब यह कहना उचित नहीं जान पड़ता कि मोक्षोपाय-प्राप्ति-योग्य कर्म-परिपाक किसी प्राणी को तो प्राप्त हो और किसी को नहीं । प्रस्तुत कारिका में दो बार आए 'आदि' शब्द से इंगित उन सिद्धान्तों की ओर है जहां मोक्षोपायप्राप्ति की संभावना सिद्ध करने के लिए कर्म-परिपाक की कल्पना के स्थान पर किसी अन्य कल्पना का आश्रय लिया जाता है ।

तस्यैव चित्ररूपत्वात् तत्तथेति न युज्यते।
उत्कृष्टा या[1] स्थितिस्तस्य यज्जाताऽनेकशः किल ॥५५५॥

(प्रस्तुत वादियों के मतानुसार) यह कहना भी उचित नहीं कि क्योंकि जीव परस्परभिन्न स्वभाव वाले हैं इसलिए एक प्राणीविशेष को अनुकूल कर्मपरिपाक की प्राप्ति एक समयविशेष पर होती है; क्योंकि एक प्राणी उत्कृष्ट कोटि के (ख के पाठानुसार : उत्कृष्ट अपकृष्ट आदि कोटि के) कर्मबंध की स्थिति को भी बार बार प्राप्त करता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका का अर्थ समझने के लिए जैनों के कर्म-सिद्धान्त से सम्बन्धित दो एक बातें ध्यान में रखना आवश्यक है। जैन परंपरा मानती है कि कुछ आत्माएँ स्वभावतः ही मोक्ष पाने के योग्य हैं तथा कुछ स्वभावतः ही मोक्ष पाने के अयोग्य (इनमें से पहली को 'भव्य' तथा दूसरी को 'अभव्य' विशेषण दिया गया है); दूसरे, जब एक आत्मा का कर्मबंध अत्यंत क्षीण होता है तब वह एक ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेती है जिसका पारिभाषिक नाम 'ग्रंथिभेद' ('गांठ खोलना') है और जिसे प्राप्त करने के बाद उक्त आत्मा नियमतः तथा पर्याप्त निकट भविष्य में मोक्ष प्राप्त करती है। साथ ही यह संभव है कि एक आत्मा का कर्मबन्ध इतना क्षीण तो हो जाए कि वह ग्रंथिभेद के द्वार तक पहुंच जाए लेकिन इतना क्षीण नहीं कि वह ग्रंथिभेद कर सके; (वस्तुतः इस प्रकार ग्रंथिभेद के द्वार तक पहुंचना उन आत्माओं के लिए तक संभव होता है जो स्वभावतः ही मोक्ष पाने के अयोग्य है)। कहने की आवश्यकता नहीं कि कोई आत्मा यदि ग्रंथिभेद के द्वार तक पहुंच कर भी ग्रंथिभेद न कर सके तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसके कर्मबन्ध में फिर वृद्धि प्रारंभ हो गई। कर्मबन्ध की तीव्रतम स्थिति को उतकृष्ट कर्मबन्ध तथा कर्मबन्ध की मृदुतम स्थितिको अपकृष्ट कर्मबन्ध की स्थिति कहा जाता है। प्रस्तुत वादी का कहना है कि जब कोई आत्मा कर्म-बन्ध की एक स्थितिविशेष को प्राप्त करने के बाद आगे बढ़ अथवा पीछे हट सकती है तो कर्मबन्ध की किसी स्थितिविशेष को मोक्षोपायप्राप्ति का कारण बतलाना युक्तिसंगत नहीं।

अत्रापि वर्णयन्त्यन्ये विद्यते दर्शनादिकः।
उपायो मोक्षतत्त्वस्य परः सर्वज्ञभाषितः ॥५५६॥

---

१. ख का पाठः उत्कृष्टाया।

इस संबन्ध में भी कुछ दूसरे वादियों का कहना है कि मोक्ष-प्राप्ति के सर्वश्रेष्ठ उपाय के रूप में वे दर्शन आदि (अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र) हमें उपलब्ध है ही जिनका उपदेश सर्वज्ञ व्यक्तियों ने किया है।

टिप्पणी—दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र इन तीन को जैन परम्परा मोक्ष का अनिवार्य एवं पर्याप्त कारण मानती है। यहाँ 'दर्शन' शब्द का अर्थ है धर्मश्रद्धा, 'चारित्र' शब्द का अर्थ है सदाचरण, 'ज्ञान' शब्द का अर्थ प्रसिद्ध है। यह भी माना गया है कि एक आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र का उदय इसी क्रम से हुआ करता है।

दर्शनं मुक्तिबीजं च सम्यक्त्वं तत्त्ववेदनम्।
दुःखान्तकृत् सुखारम्भः पर्यायास्तस्य कीर्तिताः ॥५५७॥

दर्शन मोक्ष का बीज है जबकि उसके पर्यायभूत शब्द माने गए हैं 'सम्यक्त्व', 'तत्त्ववेदन', 'दुःखान्तकृत', 'सुखारंभ'।

टिप्पणी— मोक्षप्राप्ति की दिशा में पहला कदम होने के कारण दर्शन को 'मोक्ष का बीज' कहा जा रहा है। जहां तक 'दर्शन' शब्द के प्रस्तुत पर्यायों का प्रश्न है उनमें से कोई भी धर्मश्रद्धा के भाव को उभार कर सामने नहीं लाता क्योंकि 'सम्यक्त्व' तथा 'तत्त्ववेदन' ये दो शब्द इतना ही सूचित करते हैं कि 'दर्शन' 'ज्ञान' से पहले की मंजिल है और 'दुःखांतकृत्' तथा 'सुखारंभ' शब्द यह कि जो यात्रा दर्शन की प्राप्ति से प्रारंभ होती है उसका अन्त मोक्ष प्राप्ति में होगा। कहने का आशय यह है कि प्रस्तुत सभी शब्द प्रायः पारिभाषिक है।

अनादिभव्यभावस्य तत्स्वभावत्वयोगतः।
उत्कृष्टाद्यास्वतीतासु तथा कर्मस्थितिष्वलम् ॥५५८॥
तद् दर्शनमवाप्नोति कर्मग्रन्थिं सुदारुणम्।
निर्भिद्य शुभभावेन कदाचित् कश्चिदेव हि ॥५५९॥

क्योंकि एक अनादि भव्य प्राणी का ही प्रस्तुतोपयोगी स्वभाव होता है इसलिए कभी कभी तथा कोई कोई ही प्राणी उत्कृष्ट आदि कोटि के कर्मबन्ध की स्थितियों को पार कर तथा अपने में शुभ भावनाओं का विकास करने के फलस्वरूप कर्मग्रन्थि को काटकर दर्शन की प्राप्ति करता है।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि दर्शनप्राप्ति की आवश्यक शर्त्त है ग्रंथिभेद जबकि ग्रंथिभेद की आवश्यक शर्त्त है शुभ भावनाओं का विकास,

लेकिन ग्रंथिभेद वही आत्मा कर सकेगी जो अनादि काल से (अर्थात् स्वभावतः ही) 'भव्य' कोटि में आती है। मोटे तौर पर यह भी एक जैन मान्यता है कि दर्शन प्राप्ति के बाद कोई आत्मा उत्कृष्ट कोटि का कर्मबन्ध दुबारा नहीं प्राप्त करती। जो भी हो, यह है हरिभद्र का उत्तर प्रस्तुत वादी की इस शंका का कि सभी आत्माएं सभी समय मोक्षोपायप्राप्ति क्यों नहीं करतीं।

सति चास्मिन्नसौ धन्यः सम्यग्दर्शनसंयुतः ।
तत्त्वश्रद्धानपूतात्मा रमते न भवोदधौ ॥५६०॥

और ऐसा हो जाने पर (अर्थात् दर्शन प्राप्त कर लेने पर) यह सौभाग्यशाली प्राणी, जो सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है तथा जिसकी आत्मा तत्त्वश्रद्धा से पवित्र हो गई है, संसारसागर में रस नहीं पाता।

टिप्पणी—जब दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र को मोक्षसाधन कहा जाता है तब आशय सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र से है; वरना मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र भी अपने स्थान पर संभव हैं ही।

स पश्यत्यस्य यद्रूपं भावतो बुद्धिचक्षुपा ।
सम्यक्शास्त्रानुसारेण रूपं नष्टाक्षिरोगवत्[1] ॥५६१॥

तब उक्त प्राणी उत्तम शास्त्रों का अनुसरण करते हुए तथा अपने ज्ञाननेत्रों की सहायता से इस संसार को उसके वास्तविक स्वरूप में देख पाता है—उसी प्रकार जैसे कि नेत्ररोग से मुक्त हुआ व्यक्ति रूप को (उसके वास्तविक स्वरूप में देख पाता है)।

तद् दृष्ट्वा चिन्तयत्येवं प्रशान्तेनान्तरात्मना ।
भावगर्भं यथाभावं परं संवेगमाश्रितः ॥५६२॥

संसार को उसके वास्तविक स्वरूप में देखने के पश्चात् यह प्राणी अपने मन को प्रशान्त बनाकर तथा अत्यन्त गद्गद् भाव से निम्नलिखित प्रकार के मननपूर्ण एवं यथार्थ चिन्तन में डूबता है।

जन्ममृत्युजराव्याधिरोगशोकाद्युपद्रुतः ।
क्लेशाय केवलं पुंसामहो भीमो महोदधिः ॥५६३॥

अहो! जन्म, मरण, बुढ़ापा, व्याधि, रोग, शोक आदि उपद्रवों वाला यह भयानक संसारसागर प्राणियों को केवल क्लेश ही देता है।

---

१ क का पाठ : नष्टारिक्षोगवत्।

सुखाय तु परं मोक्षो जन्मादिक्लेशवर्जितः ।
भयशक्त्या[1] विनिर्मुक्तो व्यावाधावर्जितः सदा ॥५६४॥

दूसरी ओर, मोक्ष प्राणियों को परम सुख देती है—वह मोक्ष जो जन्म आदि क्लेशों से शून्य है, भय की संभावना तक से शून्य है, सब प्रकार की उत्सुकता से शून्य है ।

हेतुर्भवस्य हिंसादिर्दुःखाद्यन्वयदर्शनात् ।
मुक्तेः पुनरहिंसादिर्व्यावाधाविनिवृत्तितः ॥५६५॥

हिंसा आदि संसार का कारण हैं और वह इसलिए कि हिंसा आदि तथा संसार दोनों में दुःख आदि समान रूप से वर्त्तमान हैं; इसी प्रकार, अहिंसा आदि मोक्ष का कारण हैं और वह इसलिए कि अहिंसा आदि तथा मोक्ष दोनों में उत्सुकता का अभाव (समान रूप से) वर्त्तमान है ।

बुद्ध्वैवं भवनैर्गुण्यं मुक्तेश्च गुणरूपताम् ।
तदर्थं चेष्टते नित्यं विशुद्धात्मा यथागमम् ॥५६६॥

इस प्रकार संसार को गुणों से शून्य तथा मोक्ष को गुणों से सम्पन्न समझकर यह विशुद्धात्मा प्राणी शास्त्र का अनुसरण करते हुए मोक्ष के प्रति चेष्टाशील रहता है ।

दुष्करं क्षुद्रसत्त्वानामनुष्ठानं करोत्यसौ ।
मुक्तौ दृढानुरागत्वात् कामीव वनितान्तरे ॥५६७॥

मोक्ष में दृढ अनुरागवाला होने के कारण यह प्राणी ऐसे क्रियाकलाप को भी कर पाता है जो क्षुद्र प्राणियों के लिए दुष्कर है—उसी प्रकार जैसे एक कामी पुरुष किसी स्त्रीविशेष के संबन्ध में (ऐसे क्रियाकलाप को भी कर पाता है जो अन्य पुरुषों के लिए दुष्कर हैं) ।

उपादेयविशेषस्य न यत् सम्यक् प्रसाधनम् ।
दुनोति चेतोऽनुष्ठानं तद्भावप्रतिबन्धतः ॥५६८॥

जिस वस्तुविशेष को (अर्थात् मोक्ष को) उसने प्राप्त करने योग्य समझ लिया है उसकी प्राप्ति का समुचित साधन जो क्रियाकलाप नहीं वह उसके मन को दुःखी करता है, और वह इसलिए कि उसका मन इस वस्तुविशेष में बन्धा हुआ है ।

---

१ क का पाठः भव्यशक्त्या ।

ततश्च दुष्करं तन्न सम्यगालोच्यते यदा।
अतोऽन्यद् दुष्करं न्यायाद् हेयवस्तु प्रसाधकम् ॥५६९॥

ऐसी दशा में ध्यानपूर्वक सोचने पर लगता है कि मोक्ष की प्राप्ति का साधनभूत क्रियाकलाप उसके लिए दुष्कर सिद्ध नहीं होता; उसके लिए दुष्कर सिद्ध होता है–और ठीक ही–शेष वह सब क्रियाकलाप जो उन वस्तुओं की प्राप्ति का साधन हैं जिन्हें उसने त्याग करने योग्य समझ लिया है।

व्याधिग्रस्तो यथाऽऽरोग्यलेशमास्वादयन् बुधः।
कष्टेऽप्युपक्रमे धीरः सम्यक् प्रीत्या प्रवर्त्तते ॥५७०॥
संसारव्याधिना ग्रस्तस्तद्वज्ज्ञेयो नरोत्तमः।
शमारोग्यलवं प्राप्य भावतस्तदुपक्रमे ॥५७१॥

जिस प्रकार वह बुद्धिमान् व्यक्ति जो व्याधि से पीड़ित है लेकिन जिसने आरोग्य का थोड़ा आस्वाद कर लिया है (पूर्ण आरोग्य की प्राप्ति के निमित्तभूत) कष्टदायी करणीयों को भी धैर्यपूर्वक, विधिपूर्वक, प्रसन्नतापूर्वक सम्पन्न करता है उसी प्रकार संसार-व्याधि से पीड़ित वह नरश्रेष्ठ जिसने शान्तिरूपी आरोग्य का थोड़ा आस्वाद कर लिया है मोक्षप्राप्ति के निमित्तभूत करणीयों को रसपूर्वक सम्पन्न करता है।

प्रवर्त्तमान एवं च यथाशक्ति स्थिराशयः।
शुद्धं चारित्रमाप्नोति केवलं लभते क्रमात् ॥५७२॥

और इस प्रकार से यथाशक्ति क्रियासंपादन करते चला जाने वाला यह स्थिरचित्त प्राणी पहले 'शुद्ध चारित्र' प्राप्त करता है तथा तत्पश्चात् क्रमशः 'केवल'।

टिप्पणी—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, एक व्यक्ति में सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का उदय क्रमशः होता है। प्रस्तुत कारिका में आया 'शुद्ध चारित्र' शब्द 'सम्यक् चारित्र' का ही पर्याय है और उसका अर्थ है 'सभी प्रकार के चरित्रदोषों से सर्वथा मुक्ति की अवस्था'। जैनों की मान्यता है कि इस अवस्था को प्राप्त करने वाला व्यक्ति सर्वज्ञ हो जाता है तथा अपने इसी जन्म में मोक्ष अवश्य प्राप्त करता है। [सर्वज्ञप्राप्ति के बाद के अपने अवशिष्ट जीवनकाल में यह व्यक्ति अपने अवशिष्ट कर्मों का क्षय करता है] प्रस्तुत कारिका में आए 'केवल' शब्द का अर्थ सर्वज्ञता ही है; (इस शब्द का एक कम प्रचलित अर्थ मोक्ष भी है और प्रस्तुत प्रसंग में उसे लेना भी कोई विशेष कठिनाई उपस्थित नहीं करेगा)।

ततः स सर्वविद् भूत्वा भवोपग्राहिकर्मणः ।
ज्ञानयोगात् क्षयं कृत्वा मोक्षमाप्नोति शाश्वतम् ॥५७३॥

तब उक्त प्राणी सर्वज्ञ हो जाता है तथा 'ज्ञानयोग' की सहायता से उन कर्मों का क्षय करता है जो संसार में जन्म दिलाने वाले हैं; और अन्त में जाकर वह सदा के लिए टिकने वाली मोक्ष प्राप्त करता है ।

टिप्पणी—पहले स्तबक की क्रमांक २० आदि वाली कारिकाओं में हरिभद्र 'ज्ञानयोग' (अथवा 'संज्ञानयोग') शब्द का प्रयोग कर चुके हैं; प्रस्तुत से अगली कारिका में वे स्वयं इस बात की स्मृति दिलाते हैं ।

ज्ञानयोगस्तपः शुद्धमित्यादि यदुदीरितम् ।
ऐदम्पर्येण भावार्थस्तस्यायमभिधीयते ॥५७४॥

पहले जो हमने 'ज्ञानयोग' को शुद्ध तप आदि कहा था उसी का पूर्वापरसंगत सारकथन अब यहाँ किया जा रहा है ।

ज्ञानयोगस्य योगीन्द्रैः परा काष्ठा प्रकीर्त्तिता ।
शैलेशीसंज्ञितं स्थैर्यं ततो मुक्तिरसंशयम् ॥५७५॥

उत्तम योगियों ने ज्ञानयोग की पराकाष्ठा माना है 'शैलेशी' नाम वाली स्थिरता (=समाधि) को—जो निश्चय ही मोक्षप्राप्ति का कारण बनती है ।

टिप्पणी—जैन परंपरा में 'शैलेशी' नाम उस समाधि को दिया गया है जिसे एक व्यक्ति मोक्षप्राप्ति के ठीक पहले करता है और जिसका अवधिकाल केवल इतना है कि जितने में 'अ, इ, उ, ऋ, ऌ' इन पाँच वर्णों का उच्चारण किया जा सके । 'शैलेशी' शब्द का सम्बन्ध 'शैल+ईश' से जोड़ कर कहा जाता है कि यह पर्वतराज जैसी निश्चलता की अवस्था है जबकि उसका सम्बन्ध 'शील+ईश' से जोड़कर कहा जाता है कि वह सदाचार की पराकाष्ठा की अवस्था है, प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र कह रहे हैं 'शैलेशी-अवस्था' 'ज्ञानयोग' की पराकाष्ठा का ही नाम है ।

धर्मस्तच्चात्मधर्मत्वान्मुक्तिदः शुद्धिसाधनात् ।
अक्षयोऽप्रतिपातित्वात् सदा मुक्तौ तथा स्थितेः ॥५७६॥

यह शैलेशी नाम वाली स्थिरता आत्मा का धर्म होने के कारण धर्म कहलाती है, शुद्धि (=कर्ममुक्ति) का कारण होने के कारण मोक्षदायिनी कहलाती है, कभी नष्ट न होने के कारण अक्षय कहलाती है—जबकि उसके कभी नष्ट न होने का कारण यह है कि वह अपने स्थिरता रूप से मोक्षदशा में भी सदा वर्त्तमान

बनी रहती है (अर्थात् क्योंकि शैलेशी जैसी स्थिरता मोक्षदशा में भी सदा वर्त्तमान बनी रहती) है ।

चारित्रपरिणामस्य निवृत्तिर्न च सर्वथा ।
सिद्ध उक्तो यतः शास्त्रे न चारित्री न चेतरः ॥५७७॥

सचमुच, शैलेशी अवस्था के समय पाए जाने वाले (स्थिरतारूप) चारित्र का सर्वथा नाश कभी नहीं हुआ करता; क्योंकि शास्त्रों में कहा गया है कि एक सिद्ध व्यक्ति (=मोक्ष प्राप्त कर चुकने वाला व्यक्ति) न चारित्री होता है न अचारित्री ।

टिप्पणी——प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र इस शंका का समाधान कर रहे हैं कि यदि आत्मा की सभी अवस्थाएं नाशवान् हैं तो शैलेशीअवस्था के समय का चारित्र भी नाशवान् क्यों नहीं; उनका कहना यह है कि शैलेशी अवस्था के समय एक आत्मा अपने अवशिष्ट कर्मों का नाश कर रही होती है और क्योंकि यह कर्मनाश की प्रक्रिया शैलेशी–अवस्था के बाद (अर्थात् मोक्ष अवस्था में) नहीं चलती इसलिए कहा जासकता है कि शैलेशी अवस्था का चारित्र भी एक सीमा तक नाशवान् है, लेकिन क्योंकि एक आत्मा शैलेशी अवस्था के शेष सभी धर्मों को (जिनमें स्थिरता शामिल है) लिए हुए ही मोक्ष अवस्था में प्रवेश करती है इसलिए यह भी कहा जाना चाहिए कि शैलेशी–अवस्था का चारित्र सर्वथा नाशवान् नहीं ।

न चावस्थानिवृत्त्येह निवृत्तिस्तस्य युज्यते ।
समयातिक्रमे यद्वत् सिद्धभावश्च[1] तत्र वै ॥५७८॥

उक्त स्थिरता की एक अवस्थाविशेष के नाश को स्वयं उस स्थिरता का नाश मानना युक्तिसंगत नहीं–उसी प्रकार जैसे मोक्ष अवस्था के एक समयविशेष के बीत जाने पर भी मोक्ष अवस्था ज्यों को त्यों बनी रहती है (ख के पाठानुसारः उसी प्रकार जैसे मोक्ष अवस्था के एक समयविशेष के बीतने को स्वयं मोक्ष अवस्था को समाप्ति मानना युक्तिसंगत नहीं) ।

टिप्पणी––हरिभद्र का आशय यह है कि शैलेशी अवस्था के समय स्थिरता के साथ कर्मनाश की प्रक्रिया भी चल रही थी जबकि मोक्ष दशा में यह प्रक्रिया नहीं चल रही होती है, फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि मोक्ष-दशा में उक्त स्थिरता ही नष्ट हो गई—उसी प्रकार जैसे कि एक मुक्त आत्मा की मोक्ष-दशा जिस काल-भाग से अब संयुक्त है उससे आगे संयुक्त नहीं रहेगी, फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि वह मोक्ष दशा ही आगे नहीं बनी रहेगी ।

---

१ ख का पाठ : सिद्धभावस्य

ज्ञानयोगादतो मुक्तिरिति सम्यग् व्यवस्थितम् ।
तन्त्रान्तरानुरोधेन गीतं चेत्थं न दोषकृत् ॥५७९॥

इस प्रकार यह सिद्धान्त समुचित ठहरता है कि 'ज्ञानयोग' से मोक्ष की प्राप्ति होती है; इस सिद्धान्त को इस रूप में रखने में भी कोई दोष नहीं और वह इसलिए कि कुछ दूसरे वादो (उदाहरण के लिए, वेदान्ती) उसे इसी रूप में रखना चाहेंगे ।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि यद्यपि वे वस्तुतः दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र को ही मोक्षसाधन मानते हैं लेकिन क्योंकि उन्होंने मोक्ष के चरम साधन को 'ज्ञानयोग' नाम दिया है उनके मत की संगति अद्वैत वेदान्ती आदि उन दार्शनिकों के मत से भी बैठ जाती है जो ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानते हैं ।

दसवां स्तवक

१. मीमांसक के सर्वज्ञताखंडन का खंडन

अत्राप्यभिदधत्यन्ये सर्वज्ञो नैव विद्यते ।
तद्ग्राहकप्रमाऽभ दिति न्यायानुसारिणः ॥५८०॥

इस संबन्ध में भी कुछ दूसरे वादियों का कहना है कि किसी सर्वज्ञ व्यक्ति की सत्ता ही संभव नहीं, और अपने इस कथन के समर्थन में वे युक्ति देते हैं कि सर्वज्ञ का ज्ञान कराने वाला कोई प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं। (इन वादियों की तर्कसरणि निम्नलिखित है)।

टिप्पणी—प्रस्तुत समूचे स्तवक में हरिभद्र सर्वज्ञता की संभावना-असंभावना के प्रश्न की चर्चा करते हैं। उनकी अपनी समझ है कि प्रत्येक व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति के कुछ समय पूर्व सर्वज्ञ हो जाता है तथा सदा के लिए बना रहता है, इसके विपरीत मीमांसकों का कहना है कि कोई व्यक्ति सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता (और क्योंकि न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों में ईश्वर की कल्पना एक सर्वज्ञ व्यक्ति के रूप में की गई है इसलिए मीमांसक ईश्वर की सत्ता से ही इनकार करते हैं)। प्रस्तुत स्तवक में ये मीमांसक ही हरिभद्र के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में हमारे सामने आते हैं।

प्रत्यक्षेण प्रमाणेन सर्वज्ञो नैव गृह्यते ।
लिङ्गमप्यविनाभावि तेन किञ्चिन्न विद्यते ॥५८१॥

जहां तक प्रत्यक्ष प्रमाण का संबन्ध है वह तो हमें सर्वज्ञ का ज्ञान कराता ही नहीं, लेकिन सर्वज्ञ की सत्ता का ज्ञान कराने वाला ऐसा कोई हेतु (अनुमान-हेतु) भी हमें उपलब्ध नहीं जिसकी उपस्थिति में सर्वज्ञ की उपस्थिति अनिवार्यतः होती हो।

न चागमेन यदसौ विध्यादिप्रतिपादकः ।
अप्रत्यक्षत्वतो नैवोपमानेनापि गम्यते ॥५८२॥

न ही सर्वज्ञ की सत्ता आगम (शास्त्र) द्वारा सिद्ध होती है, और वह इसलिए कि आगम में तो विधि (कर्मकाण्ड संबन्धी आदेश) आदि का ही प्रतिपादन पाया जाता है। और क्योंकि सर्वज्ञ प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं इसलिए वह उपमान प्रमाण का भी [illegible]।

टिप्पणी—मीमांसक वेद को ही आगम मानता है और उसकी समझ है कि वेद की विषयवस्तु किन्हीं कर्मकाण्डों से संबन्धित आदेशप्रदान हैं न कि किन्हीं सत्ताशास्त्रीय समस्याओं से संबन्धित विवेचन।

नार्थापत्त्याऽपि सर्वोऽर्थस्तं विनाऽप्युपपद्यते ।
प्रमाणपञ्चकावृत्तेस्तत्राभावप्रमाणता ॥५८३॥

अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वज्ञ की सत्तासिद्धि नहीं होती, और वह इसलिए कि तथ्यभूत सभी बातें सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार न करने पर भी संभव बनी रहती हैं। इस प्रकार जब सर्वज्ञ पांच प्रमाणों में से किसी का (अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम अथवा अर्थापत्ति का) विषय नहीं तब यह बात सिद्ध हो गई कि वह अभाव प्रमाण का विषय है।

टिप्पणी—जब कोई तथ्यभूत बात क ख की सत्ता स्वीकार किए बिना संभव न बनती हो तो कहा जाता है कि यहां क की सहायता से ख का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण ने कराया; लेकिन मीमांसक का कहना है कि तथ्यभूत ऐसी कोई भी बात नहीं जो सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार किए बिना संभव न बनती हो। कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसकों ने प्रमाणों को छ प्रकार का माना है जिनके नाम हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव। उनके मतानुसार जिस वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष आदि पांच प्रमाण न करा पाते हों उसके अभाव का ज्ञान अभावप्रमाण कराता है; और क्योंकि उनकी समझ है कि सर्वज्ञ का ज्ञान प्रत्यक्ष आदि पांच प्रमाण नहीं करा पाते इसलिए वे इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान अभावप्रमाण कराता है।

धर्माधर्मव्यवस्था तु वेदाख्यादागमात् किल ।
अपौरुषेयोऽसौ यस्माद् हेतुदोषविवर्जितः ॥५८४॥

जहां तक धर्म-अधर्म का स्वरूप निर्णय किए जाने का प्रश्न है वह 'वेद' नाम वाले आगम द्वारा संभव हो सकेगा, क्योंकि यह आगम किसी पुरुष विशेष की कृति न होने के कारण कर्त्तासंबन्धी दोषों से अछूता है।

टिप्पणी—मीमांसकों का मत है कि वेद एक ऐसी ग्रंथराशि है जिनका कोई कर्त्ता नहीं; और क्योंकि किसी ग्रंथ में दोषों के पाए जाने का एकमात्र कारण उस ग्रंथ के कर्त्ता में रहने वाले कोई दोष हुआ करते हैं इसलिए वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वेद एक सर्वथा निर्दोष ग्रंथराशि है। वस्तुतः वेदों को एक

सर्वथा निर्दोष ग्रंथराशि मान बैठने के फलस्वरूप ही मीमांसकोंने यह कल्पना की है कि वेदों का कोई कर्त्ता नहीं।

आह चालोकवद् वेदे सर्वसाधारणे सति।
धर्माधर्मपरिज्ञाता किमर्थं कल्प्यते नरः ॥५८५॥

कहा भी है कि जब प्रकाशरूप वेद सब प्राणियों को समान भावसे उपलब्ध है ही तब धर्म तथा अधर्म का साक्षात्कार करनेवाले किसी पुरूष की कल्पना क्यों की जाए।

इष्टापूर्त्तादिभेदोऽस्मात् सर्वलोकप्रतिष्ठितः।
व्यवहारप्रसिद्ध्यैव यथैव दिवसादयः ॥५८६॥

धर्म के इष्ट पूर्त्त आदि प्रकारों की सब लोगों के बीच प्रतिष्ठा वेद द्वारा ही कराई गई है और इस प्रतिष्ठा का प्रमाण है वैदिक व्यवहार (=वैदिक कर्मकाण्ड) की लोगों के बीच प्रसिद्धि; यह लोकप्रसिद्धि उसी प्रकार की है जैसे दिन आदि (अर्थात् दिन, मास, ऋतु, वर्ष आदि) से संबंधित लोकप्रसिद्धि।

टिप्पणी—मीमांसक का आशय यह है कि जिस प्रकार दिन, मास, ऋतु, वर्ष आदि से संबन्धित व्यवहार जनता अनादि काल से करती चली आई है वैसे ही वह वैदिक कर्मकाण्डों का अनुष्ठान भी करती चली आई है।

ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारैर्ब्राह्मणानां समक्षतः।
अन्तर्वेद्यां तु यद् दत्तमिष्टं तदभिधीयते ॥५८७॥

'इष्ट' उस दान को कहते हैं जिसे ऋत्विजों ने, वेदी के बीच बैठकर, ब्राह्मणों की सहायता से तथा मंत्रसंस्कारपूर्वक दिया है।

टिप्पणी—'ऋत्विज्' पुरोहित को कहते हैं, लेकिन प्रसंग को देखते हुए यहां यहीं समझना चाहिए कि प्रस्तुत दान यजमान ने अपने पुरोहितों की सहायता से दिया है न कि पुरोहितों ने स्वयं दिया है। इसी प्रकार वेदी का अर्थ समझना चाहिए यज्ञमण्डप—न कि यज्ञाग्निस्थल।

वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमित्येतत् पूर्त्तमित्यभिधीयते ॥५८८॥

'पूर्त्त' के अन्तर्गत आते हैं बावड़ी, कुआं, तालाब खुदवाना, देवमन्दिर बनवाना तथा अन्न का दान करना।

अतोऽपि शुक्लं यद् वृत्तं निरीहस्य महात्मनः ।
ध्यानादि मोक्षफलदं श्रेयस्तदभिधीयते ॥५८९॥

इनसे भी (अर्थात् इष्ट तथा पूर्त से भी) अधिक शुक्ल कोटि का जो एक कामनाहीन महात्मा का ध्यान आदि रूप आचरण है तथा जो मोक्षप्राप्ति का कारण बनता है वह 'श्रेय' कहलाता है ।

वर्णाश्रमव्यवस्थाऽपि सर्वा तत्प्रभवैव हि ।
अतीन्द्रियार्थद्रष्ट्रा तन्नास्ति किञ्चित् प्रयोजनम् ॥५९०॥

समूची वर्णाश्रमव्यवस्था का मूल भी वही वेद है और ऐसी दशा में ऐसे किसी व्यक्तिविशेष की कल्पना से कुछ लाभ नहीं जिसके संबंध में हमें मानना पड़े कि उसमें अतीन्द्रिय पदार्थों को देखने की क्षमता है ।

अत्रापि ब्रुवते केचिदित्थं सर्वज्ञवादिनः ।
प्रमाणपञ्चकावृत्तिः कथं तत्रोपपद्यते ॥५९१॥

इस संबंध में भी सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार करनेवाले कुछ वादी (अपने प्रतिद्वन्द्वियों से) पूछते हैं कि सर्वज्ञ पांच प्रमाणों का विषय नहीं यह बात कैसे सिद्ध हुई ।

सर्वार्थविषयं तच्चेत् प्रत्यक्षं तन्निषेधकृत् ।
अभावः कथमेतस्य न चेदत्राप्यदः समम् ॥५९२॥

यदि जगत् को सब वस्तुओं को अपना विषय बनानेवाले प्रत्यक्ष की सहायता से सर्वज्ञ का निषेध किया जायगा तो सर्वज्ञ का अभाव कहाँ सिद्ध हुआ (क्योंकि जगत् की सब वस्तुओं को अपना विषय बनानेवाला प्रत्यक्ष एक सर्वज्ञ का ही प्रत्यक्ष हो सकता है) ? और यदि जगत् की सब वस्तुओं को अपना विषय न बनानेवाले प्रत्यक्ष की सहायता से सर्वज्ञ का निषेध किया जायगा तो भी सर्वज्ञ का अभाव कहां सिद्ध हुआ (क्योंकि जिस प्रकार कुछ अन्य वस्तुएँ उक्त प्रत्यक्ष का विषय न होते हुए भी सत्ताशील हैं उसी प्रकार सर्वज्ञ भी हो सकता है) ?

धर्मादयोऽपि चाध्यक्षाः ज्ञेयभावाद् घटादिवत् ।
कस्यचित् सर्व एवेति नानुमानं न विद्यते ॥५९३॥

फिर प्रस्तुतोपयोगी (अर्थात् सर्वज्ञ की सत्ता का साधक) निम्नलिखित अनुमान अपने स्थान पर उपस्थित है इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता : 'धर्म आदि सभी वस्तुएँ (अर्थात् जगत् की सभी अतीन्द्रिय वस्तुएँ) किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष का विषय होनी चाहिए, ज्ञेय होने के कारण, जैसे घड़ा आदि वस्तुएँ ।'

टिप्पणी—हरिभद्र के अनुमान का तात्त्विक भाग निम्नलिखित है :

∵ जो वस्तु ज्ञेय है वह किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष का विषय है;

∵ समूचा जगत् एक ज्ञेय वस्तु है;

∴ समूचा जगत् किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष का विषय है ।

आगमादपि तत्सिद्धिर्यदसौ चोदनाफलम् ।
प्रामाण्यं च स्वतस्तस्य नित्यत्वं च श्रुतेरिव ॥५९४॥

शास्त्र से भी सर्वज्ञ की सिद्धि होती है क्योंकि सर्वज्ञता शास्त्रोक्त किन्हीं आदेशों के पालन का फल है; और ये शास्त्र स्वतः प्रमाण हैं तथा नित्य — उसी प्रकार जैसे कि प्रस्तुत वादी के मतानुसार वेद स्वतः प्रमाण तथा नित्य हैं ।

टिप्पणी—हरिभद्र अपने धर्मशास्त्रीय ग्रंथों को किसी अर्थ में नित्य तथा स्वतः प्रमाण मानने के लिए तैयार हैं— उसी प्रकार जैसे मीमांसक वेदों को स्वतः प्रमाण तथा नित्य मानता है ; लेकिन वे मीमांसक के साथ यहां तक जाने को तैयार नहीं कि अपने धर्मशास्त्रीय ग्रंथों को अकर्तृक मान बैठें ।

हृद्गताशेषसंशीतिनिर्णयात् तद्ग्रहे पुनः ।
उपमाऽन्यग्रहे तत्र न चान्यत्रापि चान्यथा ॥५९५॥

जब हम अपने मन के तमाम संशयों का समाधान करके किसी एक व्यक्ति को सर्वज्ञ रूप से जान लेते हैं तब किसी दूसरे व्यक्ति को सर्वज्ञरूप से जानने में उपमानप्रमाण भी हमारे काम आ सकता है, और यदि उपमानप्रमाण यहाँ हमारे काम नहीं आएगा तो वह कहीं भी काम न आ सकेगा ।

शास्त्रादतीन्द्रियगतेरर्थापत्त्याऽपि गम्यते ।
अन्यथा तत्र नाश्वासश्छद्मस्थस्योपजायते ॥५९६॥

शास्त्रों की सहायता से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद अर्थापत्तिप्रमाण भी सर्वज्ञ का ज्ञान करा सकता है, क्योंकि तब हम कह सकेंगे कि ये शास्त्र यदि किसी सर्वज्ञ व्यक्ति की रचना नहीं तो लोकसाधारण को उन अतीन्द्रिय पदार्थों की सत्ता में विश्वास नहीं हो सकता जिनका वर्णन इन शास्त्रों में हुआ है ।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि प्रस्तुत शास्त्रों में वर्णित अतीन्द्रिय पदार्थों की सत्ता में लोकसाधारण का विश्वास एक ऐसा तथ्य है जो इस वस्तु-

स्थिति के हुए बिना संभव नहीं कि ये शास्त्र सर्वज्ञप्रणीत हैं, जैसा कि अभी दिखाया जा चुका है, इसी प्रकार के स्थलों में अर्थापत्तिप्रमाण का उपयोग है।

प्रमाणपञ्चकावृत्तिरेवं तत्र न युज्यते।
तथाऽप्यभावप्रामाण्यमिति ध्यान्ध्यविजृम्भितम्[1] ॥५९७॥

इस प्रकार यह मानना अयुक्तिसंगत है कि सर्वज्ञ पांच प्रमाणों में से किसी का विषय नहीं, और ऐसी दशा में सर्वज्ञ को अभावप्रमाण का विषय मानना प्रस्तुत वादी की धांधलीगर्दी (ख के पाठानुसार : अज्ञान-विडंबना) है।

वेदाद् धर्मादिसंस्थाऽपि हन्तातीन्द्रियदर्शिनम्।
विहाय गम्यते सम्यक् कुत एतद् विचिन्त्यताम् ॥५९८॥

फिर सोचना चाहिए कि वेद की सहायता से धर्म आदि का समुचित स्वरूपनिरूपण भी एक ऐसे प्रमाता के बिना कैसे संभव होगा जो अतीन्द्रिय पदार्थों को देख सकता है।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि वेद में वर्णित वे बातें जिनका विषय अतीन्द्रिय पदार्थ हैं सच हैं या झूठ इसका निर्णय वही व्यक्ति कर सकता है जो अतीन्द्रिय पदार्थों को स्वयं देख सकता हो।

न वृद्धसम्प्रदायेन छिन्नमूलत्वयोगतः।
न चार्वाग्दर्शिना तस्यातीन्द्रियार्थोऽवसीयते ॥५९९॥

यह कहना भी उचित नहीं कि धर्म आदि का स्वरूपनिर्णय वृद्धपरंपरा से हो जाएगा, क्योंकि प्रस्तुत वादी की मान्यतानुसार तो यह परंपरा जड़ से ही कटी हुई है (अर्थात् वह मूलतः ही अज्ञानआश्रित है); दूसरे, एक साधारण प्रमाता के लिए यह संभव नहीं कि वह वेदों में वर्णित अतीन्द्रिय पदार्थों का स्वरूपनिश्चय कर सके।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि जब प्रस्तुत वादी सर्वज्ञ की संभावना में ही विश्वास नहीं करता तो वृद्धपरंपरा भी उसके मतानुसार एक अज्ञानी व्यक्तियों की परंपरा सिद्ध होगी।

प्रामाण्यं रूपविषये संप्रदाये न युक्तिमत्।
यथाऽनादिमदन्धानां तथाऽत्रापि निरूप्यताम् ॥६००॥

जिस प्रकार अनादि काल से चली आई अन्धों की परंपरा रूप के सम्बन्ध में प्रामाणिक ज्ञान नहीं प्राप्त करा सकती वही बात प्रस्तुत प्रसंग में भी समझी

१ ख का पाठ: स्वांध्य°

जानी चाहिए (अर्थात् अनादि काल से चली आई असर्वज्ञ व्यक्तियों की परंपरा अतीन्द्रिय पदार्थों के संबन्ध में प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त नहीं करा सकती)।

न लौकिकपदार्थेन तत्पदार्थस्य तुल्यता ।
निश्चेतुं पार्यतेऽन्यत्र तद्विपर्ययदर्शनात् ॥६०१॥

फिर एक शब्द का जो अर्थ लोक में प्रचलित है क्या उसका वही अर्थ वेद में भी है यह निश्चय करना संभव नहीं, क्योंकि एक दूसरे प्रश्न को (अर्थात् नित्यता-अनित्यता के प्रश्न को) ध्यान में रखने पर हम पाते हैं कि प्रस्तुत वादी के मतानुसार एक शब्द अपने लोकप्रचलित रूप में जिस स्वभाववाला है उससे विपरीत स्वभाववाला हो कर वह वेद में पाया जाता है।

नित्यत्वापौरुषेयत्वाद्यस्ति किञ्चिदलौकिकम् ।
तत्रान्यत्राप्यतः शङ्का विदुषो न निवर्त्तते ॥६०२॥

क्योंकि प्रस्तुत वादी के मतानुसार वैदिक शब्दों में नित्यता, अपौरुषेयता आदि अलौकिक विशेषताएं वर्त्तमान हैं इसलिए एक विद्वान् को यह शंका बनी ही रहती है कि इन वैदिक शब्दों में कोई दूसरी अलौकिक विशेषताएं भी कहीं न हों।

तन्निवृत्तौ च नोपायो विनाऽतीन्द्रियवेदिनम् ।
एवं च कृत्वा साध्वेतत् कीर्त्तितं धर्मकीर्त्तिना ॥६०३॥

और उक्त शंका के निवारण का एक अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञाता व्यक्ति को छोड़कर कोई दूसरा उपाय नहीं; यही सब कुछ ध्यान में रखते हुए धर्मकीर्त्ति ने निम्नलिखित बात ठीक ही कही है :

स्वयं रागादिमान्नार्थं वेत्ति वेदस्य नान्यतः ।
न वेदयति वेदोऽपि वेदार्थस्य गतिः कुतः ॥६०४॥

"राग आदि मनोदोषों से युक्त एक व्यक्ति वेद का अर्थ न तो स्वयं जान सकता है न किसी दूसरे व्यक्ति की सहायता से; और न ही वेद अपने अर्थ का ज्ञान स्वयं कराता है। तब प्रश्न उठता है कि वेद का अर्थ कैसे जाना जाए।

तेनाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ ।
खादेत् श्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमा ॥६०५॥

ऐसी दशा में जब वेद कहता है कि 'स्वर्ग की इच्छा करनेवाले व्यक्ति को अग्निहोत्र नामवाला हवन करना चाहिए' तब इस पक्ष के समर्थन में क्या प्रमाण

१. क का पाठ °यभावतः ।

कि इस वेदवाक्य का अर्थ यह नहीं कि '(स्वर्ग की इच्छा करनेवाले व्यक्ति को) कुत्ते का मांस खाना चाहिए' ?"

प्रदीपादिवदिष्टश्चेत्तच्छन्दोऽर्थप्रकाशकः ।
स्वत एव प्रमाणं न किञ्चिदत्रापि विद्यते ॥६०६॥

कहा जा सकता है कि एक वैदिक वाक्य अपने अर्थ की अभिव्यक्ति उसी प्रकार स्वयं करता है जैसे एक दीपक (अपने प्रकाश में पड़ने वाली वस्तुओं की अभिव्यक्ति स्वयं) करता है; लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि इस मत के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं।

विपरीतप्रकाशश्च ध्रुवमापद्यते क्वचित् ।
तथा हीन्दीवरे दीपः प्रकाशयति रक्तताम् ॥६०७॥

दूसरे, उक्त मत को स्वीकार करने पर यह भी मानना पड़ेगा कि वैदिक वाक्य कभी कभी विपरीत अर्थ की अभिव्यक्ति भी अवश्य किया करते हैं; क्योंकि हम देखते हैं कि दीपक (जो यहाँ दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत है) नीलकमल में लालिमा की अभिव्यक्ति करता है।

तस्मान्न चाविशेषेण प्रतीतिरुपजायते ।
सङ्केतसव्यपेक्षत्वे स्वत एवेत्ययुक्तिमत् ॥६०८॥

अतः यह बात सच नहीं कि एक वैदिक वाक्य अपने अर्थ का ज्ञान अन्य कुछ की सहायता लिए बिना कराता है; और यदि माना जाए कि एक वैदिक वाक्य अपने शब्दों के संकेतित (=परंपरागत) अर्थ की सहायता से अपने अर्थ का ज्ञान कराता है तो यह कहना युक्तिसंगत नहीं कि एक वैदिक वाक्य अपने अर्थ का ज्ञान स्वतः ही कराता है।

साधुर्न वेति सङ्केतो न चाशङ्का निवर्त्तते।
तद्वैचित्र्योपलब्धेश्च स्वाशयाभिनिवेशतः ॥६०९॥

फिर एक वैदिक वाक्य के सम्बन्ध में इस शंका का निवारण कभी नहीं होता कि इस वाक्य में आए शब्दों का अमुक परंपरागत अर्थ लिया जाए या नहीं; क्योंकि कभी कभी हम पाते हैं कि इस प्रकार के वाक्य में आए किसी शब्द को विभिन्न व्याख्याता विभिन्न अर्थ अपनी इच्छा से पहना देते हैं।

व्याख्याऽप्यपौरुषेय्यस्यं मानाभावान्न सङ्गता ।
मिथो विरुद्धभावाच्च तत्साधुत्वाद्यनिश्चितेः ॥६१०॥

१ क का पाठ : 'पेयस्य ।

यह मानना युक्तिसंगत नहीं कि वैदिक वाक्यों की व्याख्या भी अपौरुषेय हो सकती है, क्योंकि ऐसी मान्यता के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं; दूसरे, विभिन्न वेदव्याख्याओं के परस्परविरोधी होने के कारण यह निश्चय करना संभव नहीं कि इनमें से कौन सी व्याख्या उचित आदि है और कौन सी नहीं।

नान्यप्रमाणसंवादात् तत्साधुत्वविनिश्चयः ।
सोऽतीन्द्रिये न यन्न्याय्यस्तत्तद्भावविरोधतः ॥६११॥

यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह वेदव्याख्या उचित है जिसका समर्थन दूसरे प्रमाण करें, क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध में इस प्रकार की बात करना उचित नहीं; यह इसलिए कि एक अतीन्द्रियपदार्थविषयक किसी मान्यता का समर्थन(अथवा खण्डन) यदि दूसरे प्रमाण (अर्थात् वेदेतर प्रमाण) कर सकें तो वह पदार्थ अतीन्द्रिय ही नहीं।

तस्माद् व्याख्यानमस्येदं स्वाभिप्रायनिवेदनम् ।
जैमिन्यादेर्न तुल्यं किं वचनेनापरेण वः ॥६१२॥

इस प्रकार वैदिक वाक्यों की ये-वे व्याख्याएं जैमिनि आदि व्याख्याकारों के अपने अपने अभिप्रायों का निवेदन मात्र हैं; और इस रूप में वे आपके (अर्थात् आपके—हमारे) किसी भी दूसरे वाक्य के ठीक समान क्यों न हो (क्योंकि आपका—हमारा प्रत्येक वाक्य आपके— हमारे अभिप्राय का निवेदन मात्र है) ?

एष स्थाणुरयं मार्ग इति वक्तीह कश्चन ।
अन्यः स्वयं ब्रवीमीति तयोर्भेदः परीक्ष्यताम् ॥६१३॥

कोई एक व्यक्ति कहता है 'यह ठूंठ बतला रहा है कि यह रास्ता है', कोई दूसरा व्यक्ति कहता है 'मैं बतला रहा हूं (कि यह रास्ता है)'; इन दो व्यक्तियों के बीच क्या अन्तर है इसकी परीक्षा होनी चाहिए।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि कोई व्याख्याकार भी किसी ग्रंथ का वही अर्थ करेगा जो उसे ठीक प्रतीत होगा, और फिर चाहे वह व्याख्याकार 'प्रस्तुत ग्रन्थ यह कहता है' की भाषा बोले या 'मुझे प्रस्तुत ग्रंथ यह कहता प्रतीत होता है की भाषा'।

न चाप्यपौरुषेयोऽसौ घटते सूपपत्तितः ।
वक्तृव्यापारवैकल्ये तच्छब्दानुपलब्धितः ॥६१४॥

फिर वेद को एक अपौरुषेय कृति मानने के पक्ष में कोई भी युक्ति नहीं, और वह इसलिए कि किसी वक्ता (=कर्त्ता) के क्रियाशील हुए विना वेदवाक्यों की उपलब्धि (=रचना) संभव नहीं।

वक्तृव्यापारभावेऽपि तद्भावे लौकिकं न किम् ।
अपौरुषेयमिष्टं वो वचो द्रव्यव्यपेक्षया ॥६१५॥

यदि एक वक्ता की क्रियाशीलता अनिवार्य होने पर भी वेदवाक्यों को अपौरुषेय माना जा सकता है तो आपके (अर्थात् आपके—हमारे) द्वारा उच्चारण किए गए लौकिक वाक्यों को भी अपौरुषेय क्यों न मान लिया जाए और वह इस आधार पर कि एक शब्द द्रव्य होने के नाते नित्य (=अकर्तृक) है ही ?

टिप्पणी—यह एक जैन मान्यता है कि शब्द एक स्वतंत्र प्रकार का भौतिक पदार्थ है जो अन्य सभी पदार्थों की भांति नित्य तथा अनित्य दोनों है।

दृश्यमानेऽपि चाशङ्काऽदृश्यकर्तृसमुद्भवा ।
नातीन्द्रियार्थद्रष्टारमन्तरेण निवर्त्तते ॥६१६॥

दूसरे, यदि कोई वाक्य वक्ता के अभाव में भी सुन लिया जाए तो भी एक अतीन्द्रिय पदार्थों को देख सकनेवाले व्यक्ति की सहायता बिना इस शंका का निवारण नहीं हो सकता कि इस वाक्य का वक्ता कोई अदृश्य व्यक्ति तो नहीं।

पापादत्रेदृशी बुद्धिर्न पुण्यादिति न प्रमा ।
न लोको हि विगानत्वात् तद्बहुत्वाद्यनिश्चितेः ॥६१७॥

कहा जा सकता है कि वेदवाक्यों के संबन्ध में उक्त प्रकार की शंका पापवश होती है, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि यह शंका पुण्यवश नहीं इस बात के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं। कहा जा सकता है कि उक्त बात के पक्ष में लोकमत प्रमाण है, लेकिन इसपर हमारा उत्तर है कि कुछ लोग तो उक्त बात को मानने से इनकार करते हैं; और यह अभी निश्चय नहीं कि उक्त बात को मानने वाले लोग बहुमत में हैं तथा उससे इनकार करने वाले अल्पमत में।

बहूनामपि संमोहभावान्मिथ्याप्रवर्त्तनात् ।
मानसंख्याविरोधाच्च कथमित्थमिदं ननु ॥६१८॥

फिर लोगों का बहुमत भी मोहवश गलत रास्ते पर चल सकता है। दूसरे, प्रस्तुत वादी द्वारा लोकमत को प्रमाण माने जाने का अर्थ होगा अपने ही द्वारा स्वीकृत प्रमाणसंख्या के विरुद्ध जाना। ऐसी दशा में प्रस्तुत वादी यह सब कैसे

कर सकता है (अर्थात् वह अपने पक्ष के समर्थन में लोकमत की दुहाई कैसे दे सकता है)?

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि मीमांसक के मतानुसार 'लोक-मत' कोई स्वतंत्र प्रमाण तो नहीं।

अतीन्द्रियार्थद्रष्टा तु पुमान् कश्चिद् यदीष्यते ।
संभवद्विपयाऽपि स्यादेवंभूतार्थकल्पना ॥६१९॥

यदि प्रस्तुत वादी यह मान ले कि अतीन्द्रिय पदार्थों का देख सकना किसी व्यक्तिविशेष के लिए संभव है तब उसका उपरोक्त प्रकार से बात करना भी कुछ अर्थ रख सकेगा (अर्थात् उसका यह कहना कि वेद-वाक्यों के संबन्ध में यह शङ्का पापवश उठती है कि कहीं उनका कर्त्ता कोई अदृश्य व्यक्ति तो नहीं)।

अपौरुषेयताऽप्यस्य नान्यतो ह्यवगम्यते ।
कर्त्तुरस्मरणादीनां व्यभिचारादिदोपतः ॥६२०॥

सचमुच, वेद की अपौरुषेयता का ज्ञान भी एक सर्वज्ञ व्यक्ति को छोड़कर अन्य कोई नहीं करा सकता; क्योंकि इस संबंध में प्रस्तुत वादी द्वारा उपस्थित किए गए अनुमान में 'कर्त्ता की स्मृति का न होना' आदि हेतु व्यभिचार आदि दोषों से दूषित हैं।

टिप्पणी—मीमांसक का एक तर्क है कि वेद अकर्तृक हैं क्योंकि उनके कर्त्ता का हमें स्मरण नहीं; इस पर हरिभद्र का उत्तर है कि जिस ग्रंथ के कर्त्ता का हमें स्मरण नहीं उसका भी सकर्तृक होना संभव है।

नाभ्यास एवमादीनामपि कर्त्ताऽविगानतः[1] ।
स्मर्यते च विगानेन हन्तेहाप्यष्टकादयः ॥६२१॥

'अभ्यासः कर्मणां सत्यम्' इत्यादि श्लोकों के कर्त्ता की स्मृति के सम्बन्ध में भी लोगों की एकमतता नहीं (लेकिन फिर भी हम यह नहीं कहते कि ये श्लोक अपौरुषेय हैं)। उत्तर दिया जा सकता है कि उक्त श्लोकों के कर्त्ता की स्मृति के संबन्ध में कुछ लोगों की एकमतता तो है, लेकिन तब हम कहेंगे कि कुछ लोगों की एकमतता तो अष्टक आदि की वेदकर्त्ता रूप में स्मृति के संबन्ध में भी है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र जिस श्लोक का निर्देश कर रहे हैं

१ क का पाठ : कर्त्ता विगानतः।

वह उनके समय में अज्ञातकर्तृक अथवा संदिग्धकर्तृक के रूप में प्रसिद्ध रहा होगा। पूरा श्लोक है—

अभ्यासः कर्मणां सत्यमुत्पादयति कौशलम् ।
धात्राऽपि तावदभ्यस्तं यावत् सृष्टा मृगेक्षणा ॥

उत्तरार्ध का एक पाठान्तर है

मिथ्या तत् तादृशी येन न धात्रा निर्मिताऽपरा ॥

दूसरे, हरिभद्र यहाँ इस तथ्य की ओर इंगित कर रहे हैं कि कुछ विचारकों के मतानुसार वेद के उन उन भागों के कर्त्ता अष्टक, वामक आदि व्यक्ति हैं।

स्वकृताध्ययनस्यापि तद्भावो न विरुध्यते ।
गौरवापादनार्थं च तथा स्यादनिवेदनम् ॥६२२॥

फिर एक व्यक्ति द्वारा किसी स्वरचित कृति के अध्ययन किये जाने को भी अध्ययन किया जाना कहना तो अनुचित नहीं (यद्यपि ऐसे अध्ययन के संबन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि प्रस्तुत अध्येता के गुरु ने वैसा अध्ययन पहले से कर रखा होगा); और यदि कोई व्यक्ति किसी स्वरचित कृति का स्वरचित कृति के रूप में उल्लेख न करे तो इसका कारण यह भी हो सकता है कि वह व्यक्ति अपनी कृति का गौरव बढ़ाना चाह रहा है।

टिप्पणी—मीमांसक का एक तर्क है कि वेद नित्य हैं क्योंकि कोई व्यक्ति वेद का अध्ययन तभी कर सकता है जब उसके गुरु ने यह अध्ययन पहले कर रखा हो, (कहने का आशय यह है कि वेदाध्ययन की गुरुशिष्यपरंपरा का अनादि होना अनिवार्य है)। इस पर हरिभद्र का उत्तर है कि मीमांसक का यह तर्क एक नवरचित ग्रंथ पर लागू नहीं होता। [वस्तुतः मीमांसक का यह कहना भी नहीं कि उसका तर्क वेद के अतिरिक्त किसी ग्रंथ पर लागू होता है।] मीमांसक के जिस दूसरे प्रश्न का उत्तर हरिभद्र प्रस्तुत कारिका में दे रहे हैं वह यह है कि यदि कोई ग्रंथ किसी कर्त्ता की कृति सचमुच है तो वह कर्त्ता अपने नाम का उल्लेख इस कृति में क्यों नहीं करेगा।

मन्त्रादीनां च सामर्थ्यं शावराणामपि स्फुटम् ।
प्रतीतं सर्वलोकेऽपि न चाप्यव्यभिचारि तत् ॥६२३॥

और शावर मन्त्र आदि (जो पुरुषकृत हैं) उन उन फलों को देने में समर्थ सिद्ध होते हैं यह बात सभी लोगों को स्पष्ट प्रतीत होती है; दूसरी ओर वेदमंत्रों की सफलता भी निरपवाद नहीं।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र मीमांसक के इस तर्क का खंडन कर रहे हैं कि वेद अपौरुषेय हैं क्योंकि वेदमन्त्र उन उन फलों को दिलाने में समर्थ होते हैं। शावर मन्त्र हरिभद्र के समय में प्रसिद्ध कोई ऐसे मन्त्र रहे होंगे जिनके कर्त्ता का नाम भी प्रसिद्ध रहा होगा, (अथवा 'शावर' शब्द का अर्थ 'शबरों द्वारा रचित' यह भी हो सकता है—जहां 'शबर' से आशय किसी वनवासी जनसमुदायविशेष से है)।

वेदेऽपि पठ्यते ह्येष महात्मा तत्र तत्र यत् ।
स च मानमतोऽप्यस्यासत्त्वं वक्तुं न युज्यते ॥६२४॥

फिर वेदों तक में ऐसे (अर्थात् सर्वज्ञ) महात्मा का उल्लेख यहां वहां आया है और वेद प्रस्तुत वादी की दृष्टि में प्रमाणभूत हैं; इसलिए भी प्रस्तुत वादी का सर्वज्ञ की सत्ता से इनकार करना युक्तिसंगत नहीं।

न चाप्यतीन्द्रियार्थत्वाज्ज्यायो विषयकल्पनम् ।
असाक्षाद्दर्शिनस्तत्र रूपेऽन्धस्येव सर्वथा ॥६२५॥

और क्योंकि वेदों की प्रतिपाद्य विषयवस्तु अतीन्द्रिय पदार्थ हैं इसलिए वेदार्थ के संबन्ध में मनमानी कल्पना करना उन व्यक्तियों के लिए कैसे भी उचित नहीं जिन्हें अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात् ज्ञान नहीं—उसी प्रकार जैसे एक अंधे का रूप के संबन्ध में मनमानी कल्पना करना उचित नहीं।

सर्वज्ञेन ह्यभिव्यक्तात् सर्वार्थादागमात् परा ।
धर्माधर्मव्यवस्थेयं युज्यते नान्यतः क्वचित् ॥६२६॥

धर्म तथा अधर्म के संबन्ध में आदर्श कोटि का स्वरूप-निश्चय एक सर्वज्ञ व्यक्ति द्वारा अभिव्यक्त किए गए तथा सभी विषयों का निरूपण करनेवाले शास्त्र की सहायता से ही किया जा सकता है—अन्य किसी साधन की सहायता से नहीं।

२. बौद्धके सर्वज्ञताखंडन का खंडन

अत्रापि प्राज्ञ इत्यन्य इत्थमाह सुभाषितम् ।
इष्टोऽयमर्थः शक्येत ज्ञातुं सोऽतिशयो यदि ॥६२७॥

इस सम्बन्ध में भी किसी दूसरे बुद्धिशाली ने सूक्ति बघारी है कि उपरोक्त सब बातें मानी जा सकती है यदि हमारे लिये यह जानना संभव हो कि अमुक व्यक्ति प्रस्तुत असाधारण विशेषता से (अर्थात् सर्वज्ञता से) सम्पन्न है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका से हरिभद्र उन सर्वज्ञताविरोधी तर्कों का खण्डन प्रारम्भ करते हैं जिन्हें किन्हीं बौद्ध दार्शनिकों द्वारा – उदाहरण के लिए, धर्मकीर्त्ति द्वारा उपस्थित किया गया था।

अयमेवं न वेत्यन्यदोषो निर्दोषताऽपि वा ।
दुर्लभत्वात् प्रमाणानां दुर्बोधेत्यपरे विदुः ॥६२८॥

कुछ दूसरे वादियों का (तथा पूर्वोक्त वादियों का भी) कहना है कि एक व्यक्ति के सम्बन्ध में यह निर्णय कर पाना कि वह सर्वज्ञ है अथवा नहीं, निर्दोष है अथवा सदोष हमारे लिए कठिन है और वह इसलिए कि इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण पाना हमारे लिए कठिन है।

अत्रापि ब्रुवते वृद्धाः सिद्धमव्यभिचार्यपि ।
लोके गुणादिविज्ञानं सामान्येन महात्मनाम् ॥६२९॥
तन्नीतिप्रतिपत्त्यादेरन्यथा तन्न युक्तिमत् ।
विशेषज्ञानमप्येवं तद्वदभ्यासतो न किम् ॥६३०॥

इस संबंध में भी अनुभवी वादियों का कहना है कि बुद्धिमान् लोग दूसरों के गुणदोष के संबंध में असन्दिग्ध जानकारी सामान्य रूप से कर पाते हैं यह बात लोकसिद्ध है। उदाहरण के लिए, एक प्रामाणिक व्यक्ति के न्याय का (अर्थात् उसके चले रास्ते का) अनुसरण हम इसलिए करते हैं कि हम उस व्यक्ति को सामान्य रूप से प्रामाणिक मानते हैं ; यदि ऐसा न हो तो हमारा उस व्यक्ति के न्याय का अनुसरण करना युक्तिसंगत नहीं। जब बात ऐसी है तब दूसरों के गुणदोष के संबंध में विशेष जानकारी भी हमारे लिए अभ्यास द्वारा संभव क्यों न हो ?

दोषाणां ह्रासदृष्ट्येह तत्सर्वक्षयसंभवात् ।
तत्सिद्धौ ज्ञायते प्राज्ञैस्तस्यातिशय इत्यपि ॥६३१॥

एक व्यक्ति में दोषों का कम होते जाना हम देखते ही हैं और इसलिए एक व्यक्ति में दोषों का सर्वथा नष्ट होना एक संभव घटना सिद्ध होती है ; ऐसी दशा में बुद्धिमानों को यह पता चल ही गया कि एक व्यक्ति में असाधारण विशेषता (अर्थात् सर्वज्ञता) कैसे आती है।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि चरित्रदोषों की न्यूनाधिक क्षीणता हमारे निकट एक अनुभवगोचर बात है जबकि इस अनुभव के आधार

पर हम कल्पना कर सकते हैं कि चरित्रदोषों के सर्वथा क्षय की अवस्था कैसी होगी। और (हरिभद्र की दृष्टि में) चरित्रदोषों के सर्वथा क्षय की अवस्था ही सर्वज्ञता की अवस्था है।

हृद्गताशेषसंशीतिनिर्णयादिप्रभावतः।
तदात्वे वर्त्तमाने तु तद्व्यक्तार्थाविरोधतः ॥६३२॥

एक सर्वज्ञ व्यक्ति अपने समय में अपने श्रोताओं के हृदय की समस्त शंकाओं का निवारण करने में समर्थ होता था और उसकी इस सामर्थ्य से तथा उसकी ऐसी ही दूसरी सामर्थ्यों से सिद्ध होता था कि वह व्यक्ति सर्वज्ञ है; दूसरी ओर, इस सर्वज्ञ व्यक्ति की कृति में कही गई बातें आज भी गलत होती नहीं पाई जाती और इससे आज यह सिद्ध होता है कि यह व्यक्ति सर्वज्ञ था।

न चास्यादर्शनेऽप्यद्य स ाज्यस्येव नास्तिता।
संभवो न्याययुक्तस्तु पूर्वमेव निदर्शितः ॥६३३॥

किसी सर्वज्ञ व्यक्ति का दर्शन हमें आज न होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि एक सर्वज्ञ व्यक्ति का अस्तित्व ही असंभव है— उसी प्रकार जैसे किसी चक्रवर्त्तीराज्य का दर्शन हमें आज न होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि एक चक्रवर्त्तीराज्य का अस्तित्व ही असंभव है। और एक सर्वज्ञ व्यक्ति की संभावना युक्तिसंगत है यह बात हम पहले ही दिखा चुके।

प्रातिभालोचनं तावदिदानीमप्यतीन्द्रिये।
सुवैद्यसंयतादीनामविसंवादि दृश्यते ॥६३४॥

और जहाँ तक अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में प्रतिभाजन्य ज्ञान का संबंध है वह उत्तम वैद्य, आत्मसंयमी योगी आदि व्यक्तियों द्वारा आज भी यथार्थ भाव से प्राप्त किया जाता है।

टिप्पणी—'प्रतिभा' की कल्पना एक ऐसे अलौकिक ज्ञानसाधन के रूप में की गई है जो विरले ही व्यक्तियों को प्राप्त होती है। हरिभद्र का कहना है कि जिस प्रकार ये वे व्यक्ति प्रतिभा की सहायता से इन उन अतीन्द्रिय पदार्थों की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं उसी प्रकार एक सर्वज्ञ व्यक्ति प्रतिभा की सहायता से सभी अतीन्द्रिय पदार्थों की—वस्तुतः सभी पदार्थों की—जानकारी प्राप्त कर सकता है।

एवं तत्रापि तदूभावे न विरोधोऽस्ति कश्चन।
तदव्यक्तार्थाविरोधादौ ज्ञानभावाच्च साम्प्रतम् ॥६३५॥

इसी प्रकार (सर्वज्ञ) शास्त्रकारों का भी अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में प्रतिभाजन्य ज्ञान से सम्पन्न होना कोई असंभव बात नहीं; यह इसलिए भी कोई असंभव बात नहीं कि इन शास्त्रकारों द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं के संबन्ध में आज भी हम यह पाते हैं कि इनका खंडन हमारा कोई दूसरा ज्ञान नहीं करता (तथा उनका समर्थन हमारे दूसरे ज्ञान करते हैं)।

सर्वत्र दृष्टे संवादाददृष्टे नोपजायते।
ज्ञातुर्विसंवादाशङ्का तद्वैशिष्ट्योपलब्धितः ॥६३६॥

जिस व्यक्ति की दृश्य वस्तु विषयक सभी मान्यताएं अनुभवसंगत सिद्ध होती हैं उस व्यक्ति की अदृश्य वस्तु विषयक मान्यताओं के संबन्ध में यह शंका नहीं उठती कि वे कदाचित् अनुभवसंगत न सिद्ध हों; यह इसलिए कि इस व्यक्ति में एक विशिष्टता (अर्थात् अनुभवसंगत बात कहना) हम पा चुके।

वस्तुस्थित्याऽपि तत् तादृग् न विसंवादकं भवेत्।
यथोत्तरं तथा दृष्टेरिति चैतन्न सांप्रतम् ॥६३७॥

वस्तुस्थितिवश भी प्रतिभाजन्य ज्ञान अनुभवविरुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अन्यत्र (अर्थात् उत्तम वैद्य आदि के दृष्टान्त में) हम आजमा चुके कि प्रतिभाजन्य ज्ञान अनुभवसंगत होता है; ऐसी दशा में पूर्वपक्षी का निम्नलिखित कथन उचित नहीं।

सिद्धश्चेत् प्रमाणं यद्येवमप्रमाणमथेह किम्।
न ह्येकं नास्ति सत्यार्थं पुरुषे बहुभाषिणि ॥६३८॥

"यदि इस प्रकार कोई व्यक्ति प्रामाणिक सिद्ध हो सकता है तो अप्रामाणिक व्यक्ति कौन होगा? क्योंकि बहुतेरा बोलनेवाले किसी भी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह स्थिति नहीं कि उसकी कही हुई एक भी बात सच न हो।"

टिप्पणी—प्रस्तुत वादी का आशय यह है कि किन्हीं धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में कही गई कुछ बातें यदि आज सच होती पाई जाएं तो इसका अर्थ यह नहीं कि इन ग्रन्थों में कही गई सभी बातें सच होनी चाहिए।

यत एकं न सत्यार्थं किन्तु सर्वं यथाश्रुतम्।
यत्रागमे प्रमाणं स इष्यते पण्डितैर्जनैः ॥६३९॥

इसके उत्तर में हमारा कहना है कि बुद्धिमान् लोग उस शास्त्र को प्रामाणिक नहीं मानते जिसमें कही गई कोई एक बात सच पाई जाए अपितु उसे जिसमें कही गई सब बातें सच पाई जाएं ।

आत्मा नासी पृथक् कर्म तत्संयोगाद् भवोऽन्यथा ।
मुक्तिर्हिंसादयो मुख्यास्तन्निवृत्तिः ससाधना ॥६४०॥
अतीन्द्रियार्थसंवादो विशुद्धो भावनाविधिः ।
यत्रेदं युज्यते सर्वं योगिव्यक्तं स आगमः ॥६४१॥

आत्मा एक रूपान्तरणशील पदार्थ है, कर्म आत्मा से पृथक् एक पदार्थ है, आत्मा तथा कर्म के परस्पर संयोग से संसार (=पुनर्जन्म) होता है जबकि उनके परस्पर वियोग से मोक्ष, हिंसा आदि सचमुच हुआ करती हैं, हिंसा आदि से छुटकारे का यह रूप है तथा ये उस छुटकारे के साधन, अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध में कही गई बातों का अनुभवसंगत सिद्ध होना, विशुद्ध आध्यात्मिक ऊहापोह—इतनी बातें जो शास्त्र युक्तिसंगत ठहरा सके उसे ही योगिप्रणीत (=सर्वज्ञप्रणीत) मानना चाहिए ।

टिप्पणी—कहने की आवश्यकता नहीं कि जैनपरंपरा इन सब बातों को स्वीकार करती है जबकि विभिन्न जैनेतर परंपराएँ इनमें से इन उन बातों को अस्वीकार करती हैं ।

अधि र्यपि चास्येह स्वयमज्ञोऽपि यः पुमान् ।
कथितज्ञः पुनर्धीमांस्तद्वैयर्थ्यमतोऽन्यथा ॥६४२॥

ऐसे शास्त्र का अधिकारी भी वह बुद्धिमान् व्यक्ति है जो उन उन विषयों के सम्बन्ध में स्वयं गैरजानकार है लेकिन जो बतलाए जाने पर उन विषयों को समझ लेता है; यदि ऐसा न हो तो इस शास्त्ररचना का कोई प्रयोजन ही नहीं ।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि यदि कोई भी व्यक्ति प्रस्तुत विषयों के सम्बन्ध में गैरजानकार ही नहीं अथवा यदि कोई भी व्यक्ति इन विषयों को समझाए जाने पर भी नहीं समझ सकता तो उनका प्रतिपादन किया जाना बेकार है ।

परचित्तादिधर्माणां गत्युपायाभिधानतः ।
सर्वार्थविषयोऽप्येष इति तद्भावसंस्थितिः ॥६४३॥

और क्योंकि ऐसे शास्त्र में दूसरों के मन की बात आदि जानने के उपाय बतलाए गए हैं इसलिए उनके सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि उनका विषय जगत् के सभी पदार्थ हैं; इस आधार पर भी इस शास्त्र की प्रस्तुतोपयोगी सामर्थ्य सिद्ध होती है (अर्थात् यह सिद्ध होता है कि यह शास्त्र धर्म-अधर्म का निरूपण करने में समर्थ है)।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि दूसरों के मन की बात जानने के उपाय बतलाना आदि असाधारण काम एक सर्वज्ञ व्यक्ति ही कर सकता है ।

ग्यारहवां स्त क

१ शब्दार्थसंबंध-खंडन का खंडन

अन्ये त्वभिदधत्यत्र युक्ति ¹कृतश्रमाः ।
शब्दार्थयोर्न संबन्धो वस्तुस्थित्येह विद्यते ॥६४४॥

न्यायशास्त्र का परिश्रमपूर्वक अध्ययन करनेवाले कुछ दूसरे वादियों का कहना है कि एक शब्द तथा इस शब्द के अर्थ के बीच कोई संबंध वस्तुतः नहीं। (उनका कहना है :)

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका से हरिभद्र जिस चर्चा का प्रारंभ करते है वह शास्त्रवार्त्तासमुच्चय की एक मात्र प्रमाणशास्त्रीय चर्चा है और इसका विषय है शब्दार्थसंबंध। क्षणिकवादी बौद्धों का तर्क है कि क्योंकि जगत् की प्रत्येक वस्तु दूसरी प्रत्येक वस्तु से भिन्न है और क्योंकि प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण भिन्न बनती रहती है इसलिए किसी वस्तु का द्योतन शब्द द्वारा नहीं किया जा सकता; (उनके कहने का आशय यह है कि जब एक शब्द अनिवार्यतः किन्हीं ऐसी अनेक वस्तुओं का द्योतन करता है जिनके बीच किसी प्रकार का सादृश्यविशेष पाया जाता है और जब किन्हीं दो वस्तुओं के बीच किसी प्रकार का सादृश्य पाया नहीं जाता तब यही कहना चाहिए कि कोई शब्द किसी वस्तु का द्योतन वस्तुतः नहीं करता)। दूसरी ओर, इन बौद्धों का तर्क है कि क्योंकि एक व्यक्ति द्वारा बोला गया वाक्य सच भी हो सकता है और झूठ भी इसलिए कोई भी वाक्य हमें यही बतला सकता है कि यहां वक्ता क्या कहना चाह रहा है न कि यह कि यहां वस्तुस्थिति कैसी है। क्षणिकवादी बौद्धों के इन दोनों ही तर्कों पर हरिभद्र की अपनी आपत्तियां हैं।

न तादात्म्यं द्वयाभावप्रसंगाद् बुद्धिभेदतः ।
शस्त्राद्युक्तौ मुखच्छेदादिसंगात् समयस्थितेः ॥६४५॥

एक शब्द तथा उसके अर्थ के बीच तादात्म्यसंबन्ध नहीं; क्योंकि तादात्म्यसंबन्ध की दशा में एक शब्द तथा उसका अर्थ दो स्वतंत्र वस्तुएं नहीं हो सकते; दूसरे, एक शब्द तथा उसके अर्थ का ज्ञान हम परस्पर पृथक् भाव से करते हैं; तीसरे, यदि एक शब्द तथा उसके अर्थ के बीच तादात्म्यसंबन्ध होता तो 'शस्त्र' आदि शब्दों का उच्चारण करते समय वक्ता का मुंह कट आदि जाना

---

१. क का पाठ : °त्येवं ।

चाहिए; चौथे, एक शब्द किस अर्थ की प्रतीति कराएगा यह बात संकेतसिद्ध (परंपरासिद्ध) है (स्वभावसिद्ध नहीं)।

अर्थासंनिधिभावेन तद्दृष्टावन्यथोक्तितः ।
अन्याभावनियोगाच्च न तदुत्पत्तिरप्यलम् ॥६४६॥

एक शब्द तथा उसके अर्थ के बीच जन्य-जनक संबन्ध भी नहीं, क्योंकि अपने अर्थ (=अर्थभूत वस्तु) के उपस्थित न रहने पर भी शब्द उपस्थित रहता पाया जाता है, क्योंकि कभी कभी हम एक अर्थ (=वस्तु) को किसी अन्य ही शब्द से पुकार बेठते हैं, क्योंकि एक अर्थ को किसी अन्य ही शब्द द्वारा द्योतित करना संभव है, क्योंकि सत्ताशून्य पदार्थों को भी शब्द द्वारा द्योतित करना संभव है।

टिप्पणी—कहने का आशय यह है कि यदि एक शब्द की उत्पत्ति का कारण वह वस्तु होती जिसका द्योतन यह शब्द करता है तो प्रस्तुत बातें संभव न होतीं।

परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना ।
न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु दर्शनान्तरभेदिषु ॥६४७॥

यदि एक शब्द का अपने अर्थ से कोई वास्तविक ही संबन्ध होता तब जो हम शब्दों को ऐसे पदार्थों का द्योतन निराधार भाव से करते पाते हैं जिन्हें एक दर्शन के अनुयायी सत्ताशील मानते हैं तथा किसी दूसरे दर्शन के अनुयायी सत्ता-शून्य वह संभव न होता।

अतीताजातयोर्वाऽपि न च स्यादनृतार्थता ।
वाचः कस्याश्चिदित्येषा बौद्धार्थविषया मता ॥६४८॥

इसी प्रकार, उस दशा में शब्दों द्वारा अतीत तथा अनुत्पन्न पदार्थों का द्योतन किया जाना संभव न होता और न ही किसी व्यक्ति द्वारा बोला गया कोई शब्द (अर्थात् वाक्य) कभी असत्य सिद्ध होता। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि शब्दों का विषय बौद्धिक (काल्पनिक) पदार्थ हुआ करते हैं (वास्तविक पदार्थ नहीं)।

वाच्य इत्थमपोहस्तु न जातिः पारमार्थिकी ।
तदयोगाद् विना भेदं तदन्येभ्यस्तथाऽस्थितेः[1] ॥६४९॥

---

१ क ख दोनों का पाठ : तथा स्थितेः ।

इस प्रकार एक शब्द का अर्थ 'अपोह' (अर्थात् 'अन्य से भेद') होना चाहिए न कि 'जाति' (अथवा 'सामान्य') नामवाला कोई वास्तविक पदार्थ; यह इसलिए कि तथाकथित 'जाति' के सम्बन्ध में कुछ भी युक्तिसंगत बात कर पाना हमारे लिए संभव नहीं और इसलिए कि एक प्रकारविशेष के व्यक्ति (=व्यक्तिभूत वस्तु) के एक दूसरे प्रकार के व्यक्ति से स्वभावतः भिन्न हुए बिना दो परस्पर-भिन्न 'जातियाँ' भी इन व्यक्तियों में नहीं रह सकती (यह इसलिए कि एक जातिविशेष एक प्रकारविशेष के व्यक्तियों में रहती है तथा एक दूसरी जातिविशेष एक दूसरे प्रकारविशेष के व्यक्तियों में इस बात की नियामक वस्तुस्थिति भी यही है कि इस पहली जाति के आधारभूत व्यक्ति इस दूसरी जाति के आधारभूत व्यक्तियों से स्वभावतः भिन्न हैं)।

टिप्पणी—बौद्ध का कहना है कि जब हम किन्हीं अनेक वस्तुओं को एक नाम से पुकारते हैं तब इसका अर्थ इतना ही होता है कि ये वस्तुएँ उन सब वस्तुओं से भिन्न हैं जिन्हें हम इस नाम से नहीं पुकारते; दूसरी ओर, न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों का कहना है कि किन्हीं अनेक वस्तुओं के एक नाम से पुकारे जाने का अर्थ यह है कि इन वस्तुओं में कोई 'जाति' (नामान्तर 'सामान्य')—जिसकी कल्पना एक नित्य तथा सर्वव्यापक पदार्थ के रूप में की गई है—समान भाव से रह रही है। न्यायवैशेषिक मान्यता के विरुद्ध बौद्ध का कहना है कि जब सभी 'जातियाँ' नित्य तथा सर्वव्यापक हैं तब एक व्यक्ति को किसी दूसरे व्यक्ति से भिन्न रूप में देखने का हमारा आधार इन व्यक्तियों में रहनेवाली जातियाँ नहीं हो सकतीं।

सति चास्मिन् किमन्येन शब्दात् तद्वत्प्रतीतितः ।
तदभावे न तद्वत्त्वं तद्भ्रान्तत्वात्[1] तथा न किम् ॥६५०॥

जब एक वस्तु में 'अन्य से भेद' उपस्थित ही है तब उसमें ('जाति' आदि) किसी अन्य पदार्थ की उपस्थिति मानने से क्या लाभ? क्योंकि एक शब्द एक वस्तु की प्रतीति 'अन्य से भेद'वाली के रूप में कराता है। कहा जा सकता है कि एक वस्तु में 'अन्य से भेद' नाम वाले पदार्थ की उपस्थिति हुए बिना उसका 'अन्य से भेद'वाली होना संभव नहीं, लेकिन इस पर हमारा पूछना है कि जब उक्त वस्तु में 'अन्य से भेद' नामवाले पदार्थ की प्रतीति एक भ्रान्त

१ क का पाठ : तद्वान्त°

प्रतीति है तथा हमारी बात में (अर्थात् एक वस्तु में 'जाति' नामवाले पदार्थ की उपस्थिति से इनकार करने में) क्या कठिनाई।

टिप्पणी—न्यायवैशेषिक दार्शनिक का कहना है कि किन्हीं वस्तुओं को इन वस्तुओं से अतिरिक्ति वस्तुओं से भिन्न रूप में देखना भी हमारे लिए तब तक संभव नहीं जब तक इन पहली वस्तुओं में कोई एक धर्म समान भाव से न रहता हो (फिर चाहे उसे 'जाति' नाम दिया जाए वा 'अन्य से भेद'); इसके उत्तर में बौद्ध का कहना है कि एक वस्तु का वास्तविक स्वरूप तो जैसा है वैसा ही है (अर्थात् यह वस्तु दूसरी सभी वस्तुओं से भिन्न अतः सर्वथा शब्दअगोचर है) और इसका अर्थ यह हुआ कि किन्हीं वस्तुओं को इन वस्तुओं से अतिरिक्त वस्तुओं से भिन्न रूप में देखना भी एक प्रकार की भ्रान्ति है।

अभ्रान्तजातिवादे तु न दण्डाद् दण्डिवद् गतिः ।
तद्वस्तुभयसाङ्कर्ये न भेदाद् बोऽपि तादृशम् ॥६५१॥

यदि 'जाति' को एक अभ्रान्त पदार्थ मान लिया जाए तो जाति के ज्ञान से जातिवाली वस्तु का ज्ञान उसी प्रकार असंभव होना चाहिए जैसे दण्ड के ज्ञान से दण्डधारी व्यक्ति का ज्ञान असंभव होता है। कहा जा सकता है कि हमें जाति तथा जातिवाली वस्तु का ज्ञान परस्परमिश्रित भाव से होता है, लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि तब तो प्रस्तुत वादी द्वारा कल्पित यह ज्ञान भी वैसा ही हुआ (अर्थात् भ्रान्त ही हुआ) और वह इसलिए कि प्रस्तुत वादी के अनुसार जाति तथा जातिवाली वस्तु दो परस्पर भिन्न पदार्थ हैं (परस्पर मिश्रित पदार्थ नहीं)।

अन्ये त्वभिदधत्येवं वाच्यवाचकलक्षणः ।
अस्ति शब्दार्थयोर्योगस्तत्प्रतीत्यादितस्ततः[1] ॥६५२॥

कुछ दूसरे वादियों का कहना है कि एक शब्द तथा उसके अर्थ के बीच 'वाच्यवाचक' नामवाला सम्बन्ध रहता है और इसका कारण यह है (ख के पाठानुसार: यही कारण है) कि यह शब्द इस अर्थ की प्रतीति आदि कराता है।

नैतद् दृश्यविकल्प्यर्थैकीकरणेन[2] भेदतः ।
एकमात्रभावाच्च तयोस्तत्त्वाप्रसिद्धितः ॥६५३॥

१ ख का पाठ : °दि तत् ततः ।
२ क का पाठ : °विकल्पार्थै°

यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक शब्द से उसके अर्थ की प्रतीति इसलिए होती है कि हम यहाँ एक दर्शनविषयभूत प्रदार्थ को विकल्पविषय-भूत पदार्थ से अभिन्न मान बैठते हैं ; यह इसलिए कि जब प्रस्तुत वादी के मतानुसार दर्शनविषयभूत पदार्थ विकल्पविषयभूत पदार्थों से भिन्न ही हुआ करते हैं तब उन्हें परस्पर अभिन्न रूप में देख पाना किसी के लिए संभव नहीं ही होना चाहिए, इसलिए भी कि प्रस्तुत वादी के मतानुसार उक्त दर्शन तथा विकल्प एक ही प्रमाता के अनुभव नहीं हो सकते।

टिप्पणी—बौद्ध का कहना है कि एक वस्तु – जो अनिवार्यतः दूसरी प्रत्येक वस्तु से भिन्न, क्षणिक तथा शब्दअगोचर होती है हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान का–तथा उसीका ही–विषय बनती है जबकि हमारे विकल्पात्मक (उहापोहात्मक) ज्ञान का विषय–जो शब्दगोचर हुआ करता है—कुछ और ही होता है; ऐसी दशा में किसी का यह कहना कि विकल्पात्मक ज्ञान का विषय वस्तुरूप हुआ करता है प्रत्यक्षज्ञान के विषय का विकल्पात्मक ज्ञान के विषय के साथ घोटाला करना है। इस पर हरिभद्र की आपत्ति है कि जब इन दोनों के विषय आपस में इतने भिन्न हैं तो कोई इनका एक दूसरे के साथ घोटाला कर ही कैसे सकता है। दूसरे, जब क्षणिकवादी प्रत्येक दूसरी वस्तु की भाँति ज्ञाता मन को भी क्षणिक मानता है तब उसे यह भी मानना पड़ेगा कि जिस मन को प्रत्यक्षज्ञान हुआ वह उस मन से भिन्न होता है जिसे विकल्पात्मक ज्ञान हुआ; और तब हरिभद्र की आपत्ति है कि क को होनेवाले ज्ञान के विषय का घोटाला ख को होनेवाले ज्ञान के विषय के साथ नहीं हो सकता।

शब्दात् तद्वासनाबोधो विकल्पस्य ततो हि यत्।
तदित्थमुच्यतेऽस्माभिर्न ततस्तदसिद्धितः ॥६५४॥

कहा जा सकता है कि एक दर्शनविषयभूत पदार्थ को एक विकल्प-विषयभूत पदार्थ से अभिन्न मान बैठने की बात प्रस्तुत वादी इसलिए करता है कि एक शब्द द्वारा (अर्थात् एक शब्दविषयक ज्ञान द्वारा) विकल्पवासना की (अर्थात् पूर्वानुभूत विकल्पात्मक ज्ञान के संस्कार की) जागृति होती है ; लेकिन इस पर हमारा उत्तर है कि ऐसा इसलिए नहीं कि एक शब्द द्वारा एक विकल्प–वासना की जागृति होना संभव नहीं।

टिप्पणी — बौद्ध का कहना है कि एक प्रत्यक्षज्ञान के समय होनेवाला शब्दज्ञान ज्ञाता के मन में किसी पूर्वानुभूत विकल्पात्मक ज्ञान के संस्कार जागृत कर देता है, और इसके फलस्वरूप एक ज्ञाता के लिए यह संभव बनता है कि वह एक प्रत्यक्षज्ञान के विषय का घोटाला एक विकल्पात्मक ज्ञान के विषय के साथ करें। अगली कारिकाओं में हरिभद्र इस मान्यता का खंडन करते हैं और उन्हें समझने के लिए हमें पिछली वे सब बातें याद करनी पड़ेगी जो उन्होंने क्षणिकवादी के कार्यकारणभाव संबंधी सिद्धान्त के खंडन के प्रसंग में कही थीं। संक्षेप में, हरिभद्र कहेंगे "शब्दज्ञान ज्ञाता के मन में पूर्वानुभूत विकल्पात्मक ज्ञान के संस्कार जागृत करता है यह मानने का अर्थ यह हुआ कि शब्दज्ञान ज्ञाता के मन में एक ऐसे ज्ञान को जन्म देता है जो इस मन में उक्त विकल्प को जन्म देता है; लेकिन किसी कार्य को जन्म देने के लिए एक उपादानकारण तथा एक सहकारिकारण की आवश्यकता है जबकि क्षणिकवादी की समझ इस प्रश्न पर अत्यंत भ्रान्त है कि एक उपादानकारण एक सहकारिकारण की सहायता से एक कार्य को जन्म कैसे देता है।"

विशिष्टं वासनाजन्म बोधस्तच्च न जातुचित् ।
अन्यतस्तुल्यकालादेर्विशेषोऽन्यस्य नो यतः ॥६५५॥

बात यह है कि एक विशिष्ट प्रकार के वासनाजन्म को ही वासनाजागृति कहते हैं, लेकिन ऐसे विशिष्ट प्रकार का वासनाजन्म (प्रस्तुत वादी के मतानुसार) संभव ही नही होना चाहिए और वह इसलिए कि वासनागत (वासनामूलक उक्त ज्ञानगत) उक्त विशिष्टता को जन्म न तो एक समकालीन सहकारिकारण दे सकता है न एक असमकालीन सहकारिकारण।

निष्पन्नत्वादसत्त्वाच्च द्वाभ्यामन्योदयो न सः ।
उपादानाविशेषेण तत्स्वभावं तु तत्कृतं[1] ॥६५६॥

उक्त विशिष्टता को जन्म एक समकालीन सहकारिकारण तो इसलिए नहीं दे सकता कि उस कारण के जन्म के समय वह विशिष्टता अस्तित्व में आ चुकी और एक असमकालीन सहकारिकारण इसलिए नहीं कि उस विशिष्टता के जन्म के समय वह सहकारिकारण उपस्थित नहीं। सहकारिकारण तथा उपादानकारण (=उक्त वासनामूलक ज्ञान का उपादानकारण) दोनों मिलकर भी उक्त विशिष्टता को जन्म नहीं दे सकते और वह इसलिए कि (प्रस्तुत वादी की

१ क का पाठ : तत्कृतः

मान्यतानुसार) यह उपादानकारण इस सहकारिकारण की अनुपस्थिति में जैसा रहना चाहिए ठीक वैसा ही वह उसकी उपस्थिति में भी रहता है। और यदि कहा जाए कि उपादानकारण का यह स्वभाव ही है कि वह (सहकारिकारण से किसी प्रकार की सहायता पाए बिना) उक्त विशिष्टता को जन्म दे तो हम पूछते हैं कि उपादान कारण में यह स्वभाव कहां से आया।

न ह्युक्तवत् स्वहेतोस्तु स्याच्च नाशः सहेतुकः।
इत्थं प्रकल्पने न्यायादत एव न युक्तिमत् ॥६५७॥

न यही कहा जा सकता है कि उपादानकारण अपने हेतु से ही उक्त स्वभाव-वाला होकर उत्पन्न होता है (अर्थात् इस स्वभाववाला कि वह सहकारिकारण से किसी प्रकार की सहायता पाए बिना ही उक्त विशिष्टता को जन्म दे), दूसरे, इस प्रकार की युक्तिसरणि अपनाने पर प्रस्तुत वादी यह मानने पर बाध्य होगा कि नाश सहेतुक हुआ करता है (क्योंकि तब तो कहा जा सकेगा कि यद्यपि एक वस्तु के विनाश का कोई कारण अवश्य होता है लेकिन यह वस्तु अपने हेतु से ही ऐसे स्वभाववाली होकर उत्पन्न होती है कि वह इस विनाशकारण से किसी प्रकार की सहायता पाए बिना ही नष्ट हो)। अतएव प्रस्तुत वादी का उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं।

अनभ्युपगमाच्चेह तादात्म्यादिसमुद्भवाः।
न दोषा नो न चान्येऽपि तद्भेदाद् हेतुभेदतः ॥६५८॥

और एक शब्द तथा उसके अर्थ के बीच तादात्म्य आदि सम्बन्ध मानने की कल्पना में जो दोष बतलाए गए वे हमारे मत पर लागू नहीं होते, क्योंकि उक्त प्रकार की कल्पना हमें इष्ट ही नहीं; इसी प्रकार; ऊपर गिनाए गए दूसरे दोष भी हमारे मत पर लागू नहीं होते, क्योंकि हमारे मतानुसार शब्दों के (अर्थात् वाक्यों के) बीच भेद का कारण कारणभेद हुआ करता है।

वन्ध्येतरादिको भेदो रामादीनां यथैव हि।
मृषासत्यादिशब्दानां तद्वत् तद्धेतुभेदतः ॥६५९॥

जिस प्रकार स्त्रियों आदि में वंध्या-अवंध्या आदि का भेद कारणभेद से हुआ करता है उसी प्रकार शब्दों (अर्थात् वाक्यों) में सत्य-मिथ्या आदि का भेद कारणभेद से हुआ करता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र क्षणिकवादी के इस तर्क का खण्डन कर रहे हैं कि क्योंकि एक वाक्य सच भी हो सकता है और झूठ भी इसलिए किसी वाक्य का उस वस्तु स्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं जिसका इस वाक्य में वर्णन है।

परमार्थैकतानत्वेऽप्यन्यदोषोपवर्णनम् ।
प्रत्याख्यातं हि शब्दानामिति सम्यग् विचिन्त्यताम् ॥६६०॥

इस प्रकार एक शब्द का अपने अर्थ से एक वास्तविक ही अर्थ मानते हुए भी हम प्रस्तुत वादी द्वारा ऊपर उठाई गई आपत्तियों का उत्तर दे पाते हैं–इस परिस्थिति पर (मध्यस्थ श्रोताओं को) ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए।

अन्यदोषो यदन्यस्य युक्त्या युक्तो[1] न जातुचित् ।
वक्त्यवर्णं[2] न बुद्धानां भिक्ष्वादिः शबरादिवत् ॥६६१॥

एक वस्तु के दोष को किसी दूसरी वस्तु पर थोपना कभी युक्तिसंगत नहीं। उदाहरण के लिए, भिक्षु आदि बुद्धों की निन्दा नहीं किया करते यद्यपि शबर आदि किया करते हैं (इसी प्रकार एक सत्य वाक्य वस्तुस्थिति का यथार्थ वर्णन करता है जबकि एक असत्य वाक्य वैसा नहीं करता)।

टिप्पणी—यहाँ यशोविजयजी 'वक्त्यवर्णं न बुद्धानां भिक्ष्वादिः' के स्थान पर 'व्यक्तावर्णं न बुद्धानां भिक्ष्वादिः' यह पाठ स्वीकार करते हैं। उनके पाठानुसार प्रस्तुत दृष्टान्त का अर्थ यह हुआ कि 'भिक्षु' आदि शब्द बुद्धों का। स्वरूपवर्णन यथार्थभाव से करते हैं जबकि 'शबर' आदि शब्द वैसा नहीं करते

ज्ञायते तद्विशेषस्तु प्रमाणेतरयोरिव ।
स्वरूपालोचनादिभ्यस्तथा दर्शनतो भुवि ॥६६२॥

एक शब्द की विशेषता (अर्थात् यह बात कि यह शब्द सत्य है या मिथ्या) हम इस शब्द के स्वरूप का विश्लेषण आदि करके जान सकते हैं—उसी प्रकार जैसे कि एक प्रमाणभूत ज्ञान की प्रमाणता तथा एक अप्रमाणभूत ज्ञान की अप्रमाणता हम इन ज्ञानों के स्वरूप का विश्लेषण आदि करके जानते हैं; हमारी यह मान्यता सच है क्योंकि वह लोकानुभवसिद्ध है।

समयापेक्षणं चेह तत्क्षयोपशमं विना ।
तत्कर्तृत्वेन सफलं योगिनां तु न विद्यते ॥६६३॥

१ ख का पाठ : युक्तियुक्तो
२ क का पाठ : व्यक्तवर्णं

यह शब्द इस अर्थविशेष का द्योतक है इस प्रकार का ज्ञान एक व्यक्ति को कराने की आवश्यकता उस समय पड़ती है जब उक्त ज्ञान के आवरणभूत कर्मों का क्षयोपशम इस व्यक्ति ने न किया हो, क्योंकि उक्त ज्ञान इस प्रकार के क्षयोपशम को जन्म देकर सार्थक हो जाया करता है; जहां तक योगियों का प्रश्न है उन्हें उक्त ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती (क्योंकि उक्त ज्ञान के आवरणभूत कर्मों का क्षयोपशम योगी लोग कर चुके होते हैं)।

टिप्पणी—हरिभद्र की समझ है कि एक शब्द किस अर्थ का द्योतक है इस बात का ज्ञान एक व्यक्ति को इसलिए नहीं हो पाता है कि उस व्यक्ति के इस ज्ञान पर 'ज्ञानावरण' नामवाले 'कर्म' का परदा पड़ा हुआ है। ऐसी दशा में यह व्यक्ति इस ज्ञान की प्राप्ति या तो तब करेगा जब कोई दूसरा व्यक्ति उसे बतलाए कि उक्त शब्द अमुक अर्थ का द्योतक है (और इस प्रकार उक्त ज्ञानावरण कर्म का वेग शान्त हो) या तब जब वह योगप्रक्रिया द्वारा उक्त ज्ञानावरण कर्म का वेग स्वयं शान्त कर ले। 'क्षयोपशम' जैन कर्मशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है, यहां हमारे लिए इतना ही जानना आवश्यक है कि एक कर्म का क्षयोपशम तब हुआ माना जाता है जब वह न तो अपने पूरे वेग में हो न पूरी तरह क्षीण (नष्ट) हो गया हो। 'ज्ञानावरण' कर्मों के आठ प्राथमिक भेदों में से एक है और उसे ज्ञानाभाव के लिए उत्तरदायी माना गया है।

सर्ववाचकभावत्वाच्छब्दानां चित्रशक्तितः ।
वाच्यस्य च तथाऽन्यत्र नागोऽस्य समयेऽपि हि ॥६६४॥

क्योंकि सब शब्द सभी अर्थों के द्योतक हुआ करते हैं और क्योंकि एक अर्थ (शब्द का अर्थभूत वस्तु) अनेक शक्तियों से सम्पन्न हुआ करता हैं यह मानने में भी कोई दोष नहीं एक शब्द एक अर्थविशेष के अतिरिक्त अन्य अर्थों का भी द्योतन करता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में हरिभद्र बौद्ध की इस शंका का उत्तर प्रारंभ करते हैं कि यदि एक शब्द का अपने द्वारा द्योतित वस्तु के साथ कोई वास्तविक संबंध होता तो न तो एक शब्द अनेक वस्तुओं का द्योतन कर सकता था, न अनेक शब्द एक वस्तु का।

अनन्तधर्मकं वस्तु तद्धर्मः कश्चिदेव च ।
वाच्यो न सर्व एवेति ततश्चैतन्न बाधकम् ॥६६५॥

एक वस्तु अनेक धर्मों वाली हुआ करती है जबकि उसके एक ही प्रकार के धर्मों का–न कि सब प्रकार के धर्मों का–द्योतन एक शब्द किया करता है; इसका अर्थ यह हुआ कि प्रस्तुत वादी की निम्नलिखित आपत्ति हमारे मत पर लागू नहीं होती।

अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यच्छब्दस्य गोचरः ।
शब्दात् प्रत्येति भिन्नाक्षः न तु प्रत्यक्षमीक्षते ॥६६६॥

"एक वस्तु का इन्द्रियग्राह्य रूप एक प्रकार का होता है तथा शब्द-ग्राह्य रूप दूसरे प्रकार का; यही कारण है कि एक इन्द्रियशून्य व्यक्ति भी वस्तुओं के सम्बन्ध में शब्दजन्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है यद्यपि प्रत्यक्षजन्य ज्ञान नहीं।

टिप्पणी—बौद्ध की मान्यता है कि इन्द्रियगोचर वस्तुएं वास्तविक हुआ करती है तथा शब्दगोचर वस्तुएं अवास्तविक; हरिभद्र की मान्यता है कि वस्तुओं का शब्दगोचर पहलू भी उतना ही वास्तविक हुआ करता है जितना कि उनका इन्द्रियगोचर पहलू।

अन्यथा दाहसम्बन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते ।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः संप्रतीयते ॥६६७॥

एक जलता हुआ व्यक्ति जलन से सम्बन्धित होते समय जलन का ज्ञान एक प्रकार से कर रहा होता है, एक व्यक्ति 'जलन' शब्द की सहायता से जलन का ज्ञान दूसरे प्रकार से कर रहा होता है।"

इन्द्रियग्राह्यतोऽन्योऽपि वाच्योऽसौ न च दाहकृत् ।
तथाप्रतीतितो भेदाभेदसिद्धचैव वस्तु नः ॥६६८॥

उक्त आपत्ति हमारे मत पर इसलिए नहीं लागू होती कि एक वस्तु का शब्दग्राह्य रूप उसके इन्द्रियग्राह्य रूप से अतिरिक्त भी कुछ हुआ करता है; और इसीलिए (उक्त उदाहरण में) यह शब्दग्राह्य रूप 'जलन उत्पन्न न करने वाला' ऐसा कुछ भी सिद्ध हुआ। हमारे मत की आधारभूत वस्तुस्थिति यह है कि हमें इस सब बात का साक्षात् अनुभव होता है तथा यह कि एक वस्तु भेद तथा अभेद दोनों धर्मों वाली स्वभावतः ही हुआ करती है।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि शब्दग्राह्य जलन इन्द्रियग्राह्य जलन से न तो सर्वथा असम्बन्धित है, न सर्वथा एकरूप।

अपोहस्यापि वाच्यत्वमुपपत्त्या न युज्यते ।
असत्त्वाद् वस्तुभेदेन बुद्ध्या तस्यापि[1] बोधतः ॥६६९॥

प्रस्तुत वादी ने जो यह कहा था कि एक शब्द का अर्थ 'अपोह' (अर्थात् 'अन्य से भेद') हुआ करता है वह बात भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि 'अपोह' वस्तुओं से भिन्न कुछ नहीं—यहां तक कि विज्ञानाद्वैतवादी के मतानुसार भी 'अपोह' वस्तु-रूप ही हुआ और वह इसलिए कि उसके मतानुसार भी 'अपोह' स्वग्राहक ज्ञान से अभिन्न रूप में ही—अतः ज्ञान सामान्य से अभिन्न रूप में ही—जाना जाता है (जबकि विज्ञानाद्वैतवादी के मतानुसार ज्ञान वस्तुरूप होता ही है)।

टिप्पणी—हरिभद्र का आशय यह है कि जब विज्ञानाद्वैतवादी के मतानुसार 'अपोह' ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने के कारण ज्ञानरूप है और ज्ञान एक वास्तविक वस्तु है तब 'अपोह' भी उसके मतानुसार एक वास्तविक वस्तु ही हुआ। जहाँ तक सौत्रान्तिक बौद्ध का सम्बन्ध है उसके मतानुसार 'अपोह' वस्तुरूप इसलिए हुआ कि 'अन्य से भेद' रूप 'अपोह' वास्तविक वस्तुओं में ही रहा करता है।

क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अन्यथैतद् विरुध्यते ।
अपोहो यन्न संस्कारो न च क्षणिक इष्यते ॥६७०॥

अन्यथा प्रस्तुत वादी अपने ही इस मत के विरुद्ध जा रहा होगा कि उत्पत्ति-शील सभी वस्तुएं क्षणिक हैं, क्योंकि तब तो 'अपोह' न तो एक उत्पत्तिशील वस्तु माना जा रहा होगा और न एक क्षणिक वस्तु (और वह इसलिए कि तब तो 'अपोह' एक वस्तु ही नहीं माना जा रहा होगा)।

एवं च वस्तुनस्तत्त्वं हन्त ! शास्त्रादनिश्चितम् ।
तदभावे च सुव्यक्तं तदेतत्तुषखण्डनम्[2] ॥६७१॥

इस प्रकार, प्रस्तुत वादी के मतानुसार शास्त्र वस्तुओं का स्वरूपनिश्चय न करा सकेंगे (क्योंकि शास्त्र शब्दात्मक हैं जबकि प्रस्तुत वादी के मतानुसार शब्द-जन्य ज्ञान का विषय अवस्तुरूप है); और शास्त्रसमर्थन बिना किया गया वस्तु-स्वरूपविषयक सब तर्कवितर्क स्पष्ट ही भूसी को कूटने जैसा होगा।

---

१ मूल-पाठ 'बुद्ध्यात्तस्यापि' अथवा ऐसा ही कुछ होना चाहिए। २ ख का पाठ : °तच्छुष्कखं°

टिप्पणी—हरिभद्र की समझ है कि शास्त्रआधारित तत्त्वचिन्तन ही वस्तुतः किसी काम का है।

बुद्धावर्णेऽपि चादोषः संस्तवेऽप्यगुणस्तथा ।
आह्वानाप्रतिपत्त्यादि शब्दार्थायोगतो ध्रुवम् ॥६७२॥

यदि यह माना जाएगा कि एक शब्द का उसके अर्थ के साथ कोई संबन्ध नहीं तो निश्चय ही यह भी मानना पड़ेगा कि बुद्ध की निन्दा करने में कोई दोष नहीं तथा उनकी प्रशंसा करने में कोई गुण नहीं; इसी प्रकार उस दशा में मानना पडेगा कि हमारे द्वारा पुकारे जाने पर भी कोई व्यक्ति न तो हमारी बात समझ पाएगा और न वैसा कोई दूसरा काम कर पाएगा (अर्थात् हमारे पास आना आदि काम कर पाएगा)।

(२) ज्ञान तथा क्रिया के बीच प्राधान्य-अप्राधान्य का प्रश्न

ज्ञानादेव नियोगेन सिद्धिमिच्छन्ति केचन ।
अन्ये क्रियात एवेति द्वाभ्यामन्ये विचक्षणाः ॥६७३॥

कुछ वादियों का कहना है कि कार्यसिद्धि नियमतः ज्ञान से ही होती है; कुछ दूसरों का यह कि कार्यसिद्धि नियमतः क्रिया से ही होती है, कुछ अन्य का यह कि कार्यसिद्धि नियमतः ज्ञान तथा क्रिया दोनों से होती है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका से हरिभद्र फिर एक आचार शास्त्रीय चर्चा का प्रारंभ करते हैं।

ज्ञानं हि फलदं पुंसां न क्रिया फलदा मता ।
मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य फलप्राप्तेरसंभवात् ॥६७४॥

(ज्ञानवादियों का कहना है:) मनुष्यों को ज्ञान ही फल दिलाता है क्रिया फल नहीं दिलाती, क्योंकि हम देखते हैं कि मिथ्या ज्ञान के आधार पर क्रियाशील होने वाले व्यक्ति को फल की प्राप्ति नहीं होती।

ज्ञानहीनाश्च यल्लोके दृश्यन्ते हि महाक्रियाः ।
ताम्यन्तेऽतिचिरं कालं क्लेशायासपरायणाः ॥६७५॥

फिर संसार में देखा जाता है कि जो व्यक्ति ज्ञानहीन है वे भारी भारी काम करने पर भी लम्बे लम्बे समय तक बाह्य तथा आन्तरिक कष्टों से पीडित रहा करते हैं।

ज्ञानवन्तश्च तद्वीर्यात् तत्र तत्र स्वकर्मणि ।
विशिष्टफलयोगेन सुखिनोऽल्पक्रिया अपि ॥६७६॥

दूसरी ओर, जो व्यक्ति ज्ञानसंपन्न हैं वे थोड़ा परिश्रम करने पर भी अपने ज्ञान के प्रताप से अपने उन उन कामों में विशिष्ट सफलता प्राप्त करते हैं तथा सुख भोगते हैं।

केवलज्ञानभावे च मुक्तिरप्यन्यथा न यत् ।
क्रियावतोऽपि यत्नेन तस्मात् ज्ञानादसौ मता ॥६७७॥

फिर क्योंकि केवल (अर्थात् सर्वविषयक) ज्ञान की प्राप्ति होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है जबकि केवल ज्ञान के अभाव में यत्नपूर्वक क्रिया करने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती इसलिए सिद्ध होता है कि मोक्ष का कारण ज्ञान है ।

टिप्पणी—प्रस्तुत वादी जैनों की इस मान्यता को अपने तर्क का आधार बना रहा है कि एक व्यक्ति का मोक्षप्राप्ति से कुछ समय पूर्व सर्वज्ञ हो जाना अनिवार्य है ।

क्रियैव फलदा पुंसां न ज्ञानं फलदं मतम् ।
यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥६७८॥

(क्रियावादियों का कहना है :) मनुष्यों को क्रिया ही फल दिलाती है ज्ञान फल नहीं दिलाता, क्योंकि हम देखते हैं कि वह व्यक्ति जिसे इस बात का ज्ञान है कि अमुक स्त्री अथवा अमुक खाद्य पदार्थ का स्वाद कैसा है वह इस ज्ञान भर से सुखी नहीं हो जाता ।

क्रियाहीनाश्च यल्लोके दृश्यन्ते ज्ञानिनोऽपि हि ।
कृपायतनमन्येषां सुखसम्पद्विवर्जिताः ॥६७९॥

फिर संसार में देखा जाता है कि जो व्यक्ति ज्ञानसंपन्न होते हुए भी निष्क्रय बने रहते हैं वे दूसरों की कृपा के सहारे जीते हैं तथा उन्हें न सुख प्राप्त होता है न सम्पत्ति ।

क्रियोपेताश्च तद्योगादुदग्रफलभावतः ।
मूर्खा अपि हि भूयांसो विपश्चित्स्वामिनोऽनघाः ॥६८०॥

दूसरी ओर, बहुतेरे मूर्ख किन्तु क्रियाशील व्यक्ति अपनी क्रिया के प्रताप से भारी सफलता प्राप्त करके ज्ञानियों के स्वामी बन जाते हैं और ऐसा करने में उन्हें पाप नहीं लगता ।

क्रियातिशययोगाच्च मुक्तिः केवलिनोऽपि हि ।
नान्यथा केवलित्वेऽपि तदसौ तन्निबन्धना ॥६८१॥

और केवल ज्ञान से संपन्न एक व्यक्ति को भी मोक्ष तब प्राप्त होती है जब उत्कृष्ट प्रकार की एक क्रियाविशेष (अर्थात् शैलेशीकरण) करे जबकि दूसरे किसी समय (अर्थात् उक्त क्रिया के अभाव में) उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होती भले ही वह केवल ज्ञान से संपन्न क्यों न हो; इससे सिद्ध होता है कि मोक्षप्राप्ति का कारण क्रिया है।

टिप्पणी—प्रस्तुत वादी जैनों की इस मान्यता को अपने मत का आधार बना रहा है कि एक व्यक्ति का मोक्षप्राप्ति से ठीक पहले 'शैलेशी' नाम वाली समाधि लगाना अनिवार्य है।

फलं ज्ञानक्रियायोगे सर्वमेवोपपद्यते ।
तयोरपि च तद्भावः परमार्थेन नान्यथा ॥६८२॥

(ज्ञानक्रियासमुच्चयवादियों का कहना है:) सभी फलों की प्राप्ति ज्ञान तथा क्रिया दोनों के उपस्थित रहने पर ही होती है यही मान्यता युक्तिसंगत है; और ज्ञान तथा क्रियाओं को भी ज्ञान तथा क्रिया तभी कहना चाहिए जबकि वे सचमुच फल को जन्म दे रहे हों न कि अन्य किसी समय।

साध्यमर्थं परिज्ञाय यदि सम्यक् प्रवर्त्तते ।
ततस्तत् साधयत्येव तथा चाह बृहस्पतिः ॥६८३॥

यदि कोई व्यक्ति अपने अभीष्ट उद्देश्य को ठीक प्रकार से जानकार ठीक प्रकार से क्रियाशील होता है तो वह उस उद्देश्य की सिद्धि कर ही लेता है। इसी आशय से बृहस्पति ने भी कहा है।

सम्यक् प्रवृत्तिः साध्यस्य प्राप्त्युपायोऽभिधीयते ।
तदप्राप्तावुपायत्वं न तस्या उपपद्यते ॥६८४॥

ठीक प्रकार से की गई क्रिया को ही उद्देश्यसिद्धि का उपाय कहा जाता है; यदि कोई क्रिया उद्देश्य की सिद्धि न करा सके तो उसे उद्देश्यसिद्धि का उपाय कहना युक्तिसंगत नहीं।

असाध्यारम्भिणस्तेन सम्यग् ज्ञानं न जातुचित् ।
साध्यानारम्भिणश्चेति द्वयमन्योऽन्यसंगतम् ॥६८५॥

अतः जो व्यक्ति एक असंभव काम को हाथ में ले बैठता है उसे ठीक ज्ञान वाला नहीं कहा जा सकता और न उसे ही जो एक संभव काम को भी हाथ में

नहीं लेता; वस्तुतः (ठीक) ज्ञान तथा (ठीक) क्रिया दोनों एक दूसरे के साथ चलते हैं ।

अत एवागमज्ञस्य या क्रिया सा क्रियोच्यते ।
आगमज्ञोऽपि यस्तस्यां यथाशक्ति प्रवर्त्तते ॥६८६॥

यही कारण है कि उसी व्यक्ति की क्रिया को क्रिया कहा जाता है जो शास्त्रों को जानता है; और शास्त्रों को जानने वाला भी उसी व्यक्ति को कहा जाता है जो यथाशक्ति क्रियाशील बनता है ।

चिन्तामणिस्वरूपज्ञो दौर्गत्योपहतो न हि ।
तत्प्राप्त्युपायवैचित्र्ये मुक्त्वाऽन्यत्र प्रवर्त्तते ॥६८७॥

जो व्यक्ति चिन्तामणि रत्न (कामनाएं पूर्ण करने वाला रत्न) का स्वरूप जानता है वह दरिद्रता का आक्रमण होने पर किसी अन्य उपाय का आश्रय नहीं लेता अपितु उन अनेक उपायों में से ही किसी एक का आश्रय लेता है जो चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति कराने वाले हैं ।

न चासौ तत्स्वरूपज्ञो योऽन्यत्रापि प्रवर्त्तते ।
मालतीगन्धगुणविद् दर्भे न रमते ह्यलिः ॥६८८॥

वह व्यक्ति चिन्ताणि रत्न के स्वरूप का वास्तविक ज्ञाता नहीं जो अपने को उक्त परिस्थिति में पाने पर चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति कराने वाले उपायों में से किसी एक का आश्रय न लेकर किसी अन्य ही उपाय का आश्रय लेता है; सचमुच जो भौरा मालतीपुष्प की गंध से परिचित है वह कुशों में रमण नहीं करता ।

मुक्तिश्च केवलज्ञानक्रियातिशयजैव हि ।
तद्भाव एव तद्भावात् तदभावेऽप्यभावतः ॥६८९॥

मोक्ष का कारण भी केवल ज्ञान (अर्थात् सर्वविषयक ज्ञान) तथा उत्कृष्ट प्रकार की एक क्रियाविशेष (अर्थात् शैलेशीकरण) दोनों मिलकर ही बनते हैं, क्योंकि उन दोनों की उपस्थिति में ही मोक्ष होती है तथा उनमें से एक की भी अनुपस्थिति में नहीं ।

न विविक्तं द्वयं सम्यगेतदन्यैरपीष्यते ।
स्वकार्यसाधनाभावाद् यथाऽऽह व्यासमहर्षिः ॥६९०॥

कुछ दूसरे वादियों का भी यही मत है कि ज्ञान तथा क्रिया का एक दूसरे से विरहित रहना ठीक नहीं और वह इसलिए कि उस दशा में वे (अर्थात् ज्ञान तथा क्रिया) कार्यसाधक नहीं सिद्ध होते। जैसा कि महर्षि व्यास का कहना है :

वठरश्च तपस्वी च शूरश्चाप्यकृतव्रणः ।
मद्यपा स्त्री सतीत्वं च राजन्न श्रद्दधाम्यहम् ॥६९१॥

"राजन्! यदि किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में मुझसे कहा जाए कि वह मूर्ख भी है और तपस्वी भी, अथवा यह कि वह शूर भी है और घावहीन शरीर वाला भी, अथवा यह कि वह शराबी स्त्री भी है और सती भी तो मैं इस बात का विश्वास नहीं करता।"

(३) मोक्ष का स्वरूप

मृत्यादिवर्जिता चेह मुक्तिः कर्मपरिक्षयात् ।
नाकर्मणः क्वचिज्जन्म यथोक्तं पूर्वसूरिभिः ॥६९२॥

मृत्यु आदि से विरहित मोक्ष की प्राप्ति कर्मों का सर्वथा नाश होने पर होती है, और वह इसलिए कि कर्मों से रहित व्यक्ति कभी नया जन्म नहीं पाता। जैसा कि प्राचीन चिन्तकों का कहना है :

टिप्पणी—प्रस्तुत कारिका में शास्त्रवार्तासमुच्चय की अन्तिम चर्चा का प्रारम्भ होता है और इसका विषय है मोक्ष का स्वरूपप्रतिपादन।

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥६९३॥

"जिस प्रकार बीज के सर्वथा जल जाने पर उससे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार 'कर्म' रूपी बीज के सर्वथा जल जाने पर संसार रूपी अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती।

जन्माभावे जरामृत्योरभावो हेत्वभावतः ।
तदभावे च निःशेषदुःखाभावः सदैव हि ॥६९४॥

जन्म के न होने पर बुढापा तथा मृत्यु भी नहीं होती और वह इसलिए कि अब उनका कारण ही उपस्थित नहीं; और उनके (अर्थात् बुढ़ापा तथा मृत्यु के) अभाव में सब दुःखों का सर्वथा अभाव सदैव बना रहता है।

परमानन्दभावश्च तदभावे हि शाश्वतः ।
व्याबाधाभावसंसिद्धः सिद्धानां सुखमिष्यते ॥६९५॥

दुःखों के सर्वथा अभाव की स्थिति में वह परम आनन्द जो सब प्रकार की व्याकुलताओं से शून्य है सदैव बना रहता है और उसे ही मुक्त व्यक्तियों का सुख कहा जाता है।

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्ताः सर्वाबाधाविवर्जिताः ।
सर्वसंसिद्धसत्कार्याः सुखं तेषां किमुच्यते ॥६९६॥

मुक्त व्यक्ति सब प्रकार के द्वन्द्वों से मुक्त होते हैं, सब प्रकार की व्याकुलताओं से मुक्त होते हैं तथा वे सब शुभ कार्यों को कर चुके होते हैं; तब उनको मिलने वाले सुख का क्या कहना ?

अमूर्त्ताः सर्वभावज्ञास्त्रैलोक्योपरिवर्त्तिनः ।
क्षीणसङ्गा महात्मानस्ते सदा सुखमासते ॥६९७॥

ये महात्मा व्यक्ति (अर्थात् मुक्त व्यक्ति) अमूर्त्त (=रूपशून्य) होते हैं, तीन लोकों के ऊपर निवास करने वाले होते हैं, सब कामनाओं से मुक्त होते हैं, सदा सुखमग्न रहते हैं।

टिप्पणी—जैन परंपरा मुक्त आत्माओं के निवासस्थान के सम्बन्ध में कल्पना करती है कि वह नरकलोक, पृथ्वीलोक तथा स्वर्गलोक इन तीनों लोकों के ऊपर वाले भाग में अवस्थित है।

एता वार्त्ता उपश्रुत्य भावयन् बुद्धिमान्नरः ।
इहोपन्यस्तशास्त्राणां भावार्थमधिगच्छति ॥६९८॥

इन चर्चाओं को सुनकर तथा उन पर विचार करके एक बुद्धिमान् व्यक्ति उन सब शास्त्रों के अभिप्राय को समझ सकेगा जिनका यहां वर्णन हुआ है।

शतानि सप्त श्लोकानामनुष्टुप्छन्दसां कृतम् ।
आचार्यहरिभद्रेण शास्त्रवार्त्तासमुच्चयम् ॥६९९॥

आचार्य हरिभद्र ने 'शास्त्रवार्त्तासमुच्चय' नाम वाले ग्रंथ को अनुष्टुप् नाम वाले ७०० श्लोकों में लिखा।

कृत्वा प्रकरणमेतद् यदवाप्तं किञ्चिदिह मया कुशलम् ।
भवविरहबीजमनघं लभतां भव्यो जनस्तेन ॥७००॥

इस प्रकरणात्मक ग्रंथ को लिखकर मैंने जो भी पुण्य कमाया हो वह भव्य (अर्थात् मोक्षप्राप्ति के पात्र) व्यक्तियों को निर्दोष मोक्षबीज प्राप्त कराए ऐसी मेरी कामना है।

टिप्पणी—इस कारिका को शास्त्रवार्तासमुच्चय की अन्तिम कारिका होना चाहिए क्योंकि हरिभद्र के प्रत्येक ग्रंथ के अन्तिम भाग में पाया जाने वाला विरह शब्द इस बात का सूचन करता है कि यह ग्रंथ यहां समाप्त हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि शास्त्रवार्तासमुच्चय की मुद्रित प्रतियों में पाया जाने वाला अगला पद्य हरिभद्रकृत है इस बात की संभावना अत्यन्त कम है। फिर उसका हिन्दी अनुवाद आगे दिया जा रहा है।

यं बुद्धं बोधयन्तः शिखिजलमरुतस्तुष्टुवुर्लोकवृत्त्यै
ज्ञानं यत्रोदपादि प्रतिहतभुवनालोकवन्ध्यत्वहेतुं[1] ।
सर्वप्राणिस्वभाषापरिणतिसुभगं कौशलं यस्य वाचां
तस्मिन् देवाधिदेवे भगवति भवताऽऽधीयतां भक्तिरागः ॥७०१॥

जिन बुद्ध को (अर्थात् बोधिप्राप्त जैन तीर्थंकर को) लोगों को जनाने के उद्देश्य से अग्नि, जल तथा वायु ने उनकी स्तुति लोकहित की भावना से की, जिनमें वह ज्ञान उत्पन्न हुआ जो जगत् में पाई जाने वाली ज्ञानवंध्यता के कारणों का नाश करता है, जिनकी वाणी को यह सुचारु कुशलता प्राप्त है कि वह सब प्राणियों की अपनी अपनी भाषा में रूपान्तरित हो जाती है, उन देवाधिदेव भगवान् को आप अपने भक्तिपूर्वक अनुराग का विषय बनाइए।

---

१ क तथा ख दोनो का पाठ : °हेतुः।

शास्त्रवार्तासमुच्चयश्लोकानु मणिका

[प्रथमः श्लोकाङ्कः, द्वितीयः पृष्ठाङ्कः]

शुद्धिपत्रकम्

अशुद्धम्	शुद्धम्	श्लो०	पृ०
तदा	तथा	१८	५
चेतनवेति	चेतनैवेति	३४	१०
°मावेऽप	भावेऽपि	३७	११
वावित्वात्	वाधितत्वात्	१२४	३५
°त्कर्षादेव	°त्कर्षणादेव	१४३	४०
तज्वास्तु	तच्चास्तु	१४९	४२
ह्मेतद्	ह्येतद्	१४९	४२
मुक्ति	मुक्तिः	१५१	४२
°कतृत्वे	°कर्तृत्वे	१८४	५१
°क्षणस्थितौ	°क्षणास्थितौ	२५०	७०
तथातां	तथा तां	३००	८८
°दश्वयमे°	°दवश्यमे°	३५२	१०४
किञ्चन्यात	क्रिञ्चान्यत्	३६०	१०७
तद्धत्व°	तद्धेत्व°	३७८	११३
उच्यते सांप्रत°	उच्यतेऽसांप्रत°	३९५	११७
ध्रवं	ध्रुवं	३९७	११८
सिद्ध परिणमो	सिद्धः परिणामो	४४८	१३५
पिण्डादिधर्मा°	पिण्डादि धर्मा°	५१२	१५६
सुखिनो	सुखितो	६७८	२०७

